श्रीबोधिसत्त्वचरितम्

प्रणेता

डॉ. सत्यव्रत शास्त्री

मेहरचन्द लछमनदास पब्लिकेशन्स
४२२५-ए, १ अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली

श्रीबोधिसत्त्वचरितम्

[भाषाऽनुवादसहितष्टिप्पण्यादिभिः परिष्कृतो
विस्तृतया भूमिकया च सनाथितः]

प्रणेता
सत्यव्रतशास्त्री
व्याकरणाचार्यः, एम्. ए., एम्. ओ. एल्., पीएच्. डी.
दिल्लीविश्वविद्यालये संस्कृतविभागस्याचार्योऽध्यक्षश्च

मेहरचन्द लछमनदास
पुस्तक-प्रकाशक तथा विक्रेता,
२७२६, कूचा चेलां, दरियागंज, दिल्ली ११०००६
विक्रय केन्द्र : स्ट्रीट नं. १, १ अन्सारी रोड, दरियागंज, दिल्ली

निवेदना

अद्य द्वादश वर्षाणि मत्कृतेः श्लोकसहस्रात्मकस्य महाकाव्यस्य श्रीबोधि-सत्त्वचरितस्य प्रथमं प्राकाश्यं गतस्य। चत्वारि वर्षाणि च तस्य दुर्लभतामितस्य। सुहृद्वर्गेण प्रचोदितोऽहं नैकशस्तस्य पुनः प्रकाशनाय परं गुरुतरनैककार्यव्यास-ङ्गान्नापपारमितः प्राक्तत्प्रकाशयितुम्। एतदन्तर एव मेरठविश्वविद्यालयाधिकृतैः प्रथमोऽस्य सर्गो बी० ए० कक्षायां पाठ्यत्वेन निर्धारितः। अतः प्रकाशनमस्या-परिहार्यमेव संवृत्तम्। काव्यमविकलं प्रकाश्येतोत तस्य पाठ्यत्वेन निर्धारितः प्रथमः सर्ग एव प्रकाश्येत वेति सन्देहे समुपस्थिते मेहरचन्द्रलक्ष्मणदासाख्यैः प्रकाशकैर्मम परमसुहृद्भूतैरुभयमेव प्रकाशनीयमित्यहमवबोधितः। प्रथमं प्रथमः सर्गः प्राकाश्यमेतु ततोऽचिरेणैव च सकलमेव काव्यमिति तैर्निर्धारितः क्रमः। इममेव क्रममनुसृत्य प्रथमं प्रथमः सर्गः प्रकाशितः। विद्यार्थिनां सौकर्याय सुखावबोधाय च भाषानुवादः कोषव्याकरणटिप्पण्यो भूमिका चात्र संयोजिताः।

अथ श्रीबोधिसत्त्वचरितं नामेदं काव्यं महात्मनो बोधिसत्त्वस्य पूर्वजन्म-कथानकान्याश्रित्य प्रवृत्तम्। बोधिसत्त्वो हि भगवतः सुगतस्यैव पूर्वावस्था। अयमेव भगवान् तासु तासु योनिषु बहुधाऽजायत, लोकसङ्ग्रहे च निरन्तर-मरंस्त। यदाऽस्य बोधोऽजनि तदैव बुद्ध इत्यस्य संज्ञा पप्रथे। ततः प्राक् तु बोधिसत्त्व इति पूर्वबुद्ध इति वाऽस्य संज्ञा बभूव। बोधिसत्त्वश्च यद्यदुदात्तम-चारीत्तस्य सर्वस्यावदानजातस्य न्यक्षेण वर्णनं पालिजातकेषूपलभ्यते। पालिमजानतां संस्कृतज्ञानामपि तत्सुलभं स्यादिति प्रकृतो मे यत्नः। अत्र कति-पयान्येव रुचिरतराणि जातकान्युपन्यस्तानि।

अस्य काव्यस्य प्रथमः सर्गो "व्यापारी बोधिसत्त्व" इति नाम्ना साहित्य-अकादमीतः प्रकाश्यमानायाः संस्कृतपत्रिकायाः 'संस्कृतप्रतिभायाः' प्रथम-वर्षभवे प्रथमेऽङ्के प्रकाशितोऽभूत्।

इह काव्ये क्वचित्प्रदेशेषु बोधिसत्त्वशब्दस्य स्थाने बुद्धशब्दः प्रयोगमवतीर्णः। स छन्दोवशाल्लाघवाद्वाऽऽश्रित इति विदाङ्कुर्वन्तु सन्तः। अपि वा भाविनीं संज्ञामाश्रित्य बिल्वादो लम्बचूड इतिवद् व्याख्येयः। क्वचित्क्वचित्पदमध्येऽनुनासिकस्थानेऽनुस्वारनिवेशोऽपि मुद्रणसौकर्यानुरोधादेव संश्रित इति नात्र दोषं ग्रहीष्यन्ति गुणगृह्या विपश्चितः।

पदवाक्यप्रमाणज्ञान् पण्डिततल्लजान् पितृचरणांश्चारुदेवशास्त्रिण

इति गुरुभिरभिहितनामधेयांश्चिरमुपसन्नोऽहं यान् कानपि विद्याकणान् समचैषं तत्परिणतिरेवेयं कृतिरिति कृतज्ञताभरावनतमूर्ध्नो मे परः परितोषः ।

मत्प्रियसहयोगिभिः किरोड़ीमलकलाशालासंस्कृतप्राध्यापकैर्डा० रविशङ्कर-नागरमहाभागैर्वैदुष्यपूर्णा भूमिका काव्यस्यास्य न्यबन्धीति तेऽपि मद्धन्यवादार्हाः । मम प्रियसुहृद्भिः पटियालास्थपञ्जाबीविश्वविद्यालयसंस्कृतविभागप्राध्यापकैर्डा० धर्मेन्द्रकुमारमहाभागैर्निपुणं समीक्षितमिदं काव्यम् । तत्समीक्षणमविकलमत्र प्रकाश्यते । अपरैर्मम प्रियसहयोगिभिर्दिल्लीविश्वविद्यालयसंस्कृतविभागप्रवाचकैर्डा० कृष्णलालमहाभागैर्मुद्रणसंशोधने यत्साहायकमाचरितं तदर्थं तेषामप्यधमर्णोऽहम् ।

प्रथमसंस्करणपरिसमाप्तिरेवास्य काव्यस्योपादेयत्वे प्रमाणम् । छेकैर्विविधं परीक्षितं गुणदोषतः परिच्छिन्नं चेदं प्रशस्तं चाऽपि । अस्मिन् द्वितीयस्मिन् संस्करणे भूयोऽपीदं परिष्कृत्य परिवर्ध्य च प्रकाश्यते । तद्रोचेततरां विपश्चिद्भ्य इत्याशासानो विरमति—

'सुरभिः',
३/५४, रूपनगरम्,
दिल्ली-७

सुरसरस्वतीसमुपासकः
सत्यव्रतशास्त्री

भूमिका

[लेखक—डा० रविशङ्कर नागर]

जातक कथाओं का उद्भव एवं विकास

भारत कथाओं का स्रोत है। यहां जन्मी कथाएँ इतनी लोकप्रिय हुईं कि वे अपने जन्म-देश की सीमाओं को भी पार कर दूर-दूर देश देशान्तरों में लोकप्रिय हो गईं। पञ्चतन्त्र, हितोपदेश, कथासरित्सागर आदि कथाभाण्डार ग्रन्थों की कथाएँ विश्व कथा साहित्य में यत्किञ्चित् परिवर्तन के साथ घुलमिल गई हैं। इनमें पञ्चतन्त्र की पशुपक्षी कथाओं का जगद्व्यापी प्रभाव तो सर्व-विदित है।

मानव जीवन के प्रारम्भिक इतिहास से ही कथा सर्वाधिक लोकप्रिय रही है। कथा कहने तथा सुनने में मानव की परम्परा से रुचि है। घरों में बूढ़े दादा-दादी तथा चौपालों में बैठे ग्रामवृद्ध जब कथाएँ सुनाते हैं तो श्रोता उन्हें उत्सुकता से सुनते हैं। आज के वैज्ञानिक चरमोन्नति के युग में पुस्तकों के मुद्रण एवं प्रकाशन तथा मनोरंजन के अन्य विविध साधनों के कारण कथा कहने सुनने की प्राचीन परिपाटी कम हो गई है। परन्तु प्राचीन युग में जब मुद्रणकला का आविष्कार नहीं हुआ था और मौखिक रूप से ही विद्या का आदान प्रदान होता था, कथा की प्रतिष्ठा अक्षुण्ण थी। कथा अत्यधिक लोकप्रिय थी। धर्म के संदेश हों या राजनीति के गूढ़ तत्त्व कथा के माधुर्य में आप्लावित होकर जनसाधारण के लिए हृद्य बन जाते थे। अतएव हम देखते हैं कि प्राचीन धर्माचार्यों ने अपने-अपने धर्मों के गूढ़ संदेशों को जनसाधारण तक पहुँचाने के लिए कथा को उपयुक्त माध्यम बनाया। महात्माओं, पैगम्बरों, सन्तों एवं ज्ञानियों के मुखारविन्द से विनिस्सृत धर्म-कथाएँ धर्म का प्रमुख अंग बन गईं। इसी कारण सभी धर्मों में जनसाधारण में धर्म का प्रचार करने वाली कथाओं का विपुल भाण्डार रहता है। हिन्दुओं के पुराण ऐसी कथाओं से भरे हैं जिनके द्वारा शैव-वैष्णव आदि धार्मिक सम्प्रदायों या मतों की महिमा का प्रख्यापन किया गया है। ईसाइयों के धर्मग्रन्थ बाइबल में ईसा मसीह ने कथाओं के माध्यम से ईसाइयत का सन्देश प्रसारित किया है। बौद्धों ने भी अपने धर्म के प्रचार एवं प्रसार के लिए तथा उसे लोकग्राह्य बनाने के लिए कथा के माध्यम का आश्रय लिया। बौद्धों की कथाएँ जातक कथाओं के नाम से अभिहित हैं। इनमें लोकप्रिय कथा के माध्यम से बौद्ध धर्म के विश्वास, निष्ठा एवं सिद्धान्तों का प्रतिपादन है।

जातक शब्द का अर्थ

जातक शब्द संस्कृत की √जन् धातु से क्त प्रत्यय के योग से व्युत्पन्न है। भाव में क्त प्रत्यय से 'जातं जननं जनिः' 'जात' का अर्थ है—जन्म, उत्पत्ति। जात शब्द का एक अन्य अर्थ भी होता है—'हो चुका', 'बीत गया'। इस प्रकार जातक का अर्थ होता है—(१) जन्म कथा—भगवान् बुद्ध के पूर्व जन्मों की कथा या (२) बीती हुई कथा—जो भगवान् बुद्ध के पूर्व जन्मों की बीती हुई घटनाओं का वर्णन करती है। दोनों तरह से जातक का अर्थ होता है—भगवान् बुद्ध के पूर्व जन्मों की कथा। यद्यपि व्युत्पत्ति के आधार पर किसी के जीवन की बीती हुई घटना अथवा किसी के जन्म की कथा जातक हो सकती है, तो भी बौद्ध साहित्य में जातक शब्द भगवान् बुद्ध के पूर्व जन्मों की कथाओं के अर्थ में ही रूढ़ है। इस प्रकार जातक शब्द का रूढ़ अर्थ है—भगवान् बुद्ध के पूर्व जन्मों की कथाएँ।

जातक कथाओं के प्रेरक स्रोत

बौद्ध धर्म के दो दृढ़ स्तम्भ हैं—पुनर्जन्म तथा कर्म सिद्धान्त। बौद्ध धर्म के अनुसार जब तक बोध (ज्ञान) नहीं मिल जाता, तब तक प्राणी बार-बार जन्म लेता रहता है। वह कीट, पतङ्ग, कूकर, शूकर, पशु, पक्षी, देव-दानव किसी भी रूप में जन्म ले सकता है। इस पुनर्जन्म के पीछे कर्म का सिद्धान्त काम कर रहा है। किए गए कर्म का फल प्राणी को अवश्य भोगना पड़ता है। प्राणी जैसे कर्म करता है उनका फल भोगने के लिए उसे वैसी ही योनियों में जन्म लेना पड़ता है। कीट-पतंग की नीच योनि अथवा नृप-देव की उच्च योनि प्राणी के अपने पूर्व कर्मों का फल है। दया, उपकार आदि पुण्य कर्मों से प्राणी का उत्थान होता है और वह क्रमशः उत्तम योनियों में जन्म लेता हुआ पूर्ण ज्ञान के लक्ष्य की ओर अग्रसर होता रहता है। नीच कर्म करने से प्राणी का पतन होता है और वह उन्हें भोगने के लिए तुच्छ योनियों में जन्म लेता है तथा ज्ञान-प्राप्ति के परम लक्ष्य से दूर हटता जाता है। इस प्रकार उन्नति या अवनति प्राणी के अपने हाथ में है और उसके शुभ या अशुभ कर्मों का फल है। जन्म मरण के चक्र अथवा नाना योनियों में आवागमन के बन्धन से प्राणी की मुक्ति उस समय होती है जब उसे पूर्ण बोध हो जाये। जब तक बोध नहीं हो जाता, तब तक प्राणी अपने कर्मों के अनुसार नाना योनियों में भटकता हुआ दुःख सुख पाता है। यह क्रम अविच्छिन्न चलता रहता है। अतः आवागमन के चक्र से मुक्ति चाहने वाले प्राणी का परम लक्ष्य है—बोध = पूर्ण ज्ञान = निर्वाण। बोध प्राप्ति के बाद प्राणी बुद्ध हो जाता है। जीवन के

परम लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। बोध उसके जीवन की परम सिद्धि है। इसे पा लेने के बाद और कुछ प्राप्तव्य नहीं। तब प्राणी का निर्वाण हो जाता है।

बोध=निर्वाण की प्राप्ति के लिए बौद्ध धर्म में दो मार्ग हैं। हीनयान तथा महायान। हीनयान बौद्ध वैयक्तिक बोध के लिए तत्पर रहते थे। वे अर्हन्त कहलाते थे। जनसाधारण के बोध की उनको विशेष चिन्ता नहीं थी। वे अपना बोध चाहते थे। अतएव समाज तथा जन-जीवन से निरपेक्ष वैयक्तिक बोध के लिए एकान्त साधना में लीन रहते थे। परन्तु महायान बौद्धों को अपने बोध के साथ-साथ सृष्टि के तुच्छ से तुच्छ, क्षुद्र से क्षुद्र प्राणी का भी बोध अभीष्ट था। हीनयान बौद्धों के समान वे निजी बोध के लिए ही नहीं अपितु समग्र समाज के बोध के लिए प्रयत्नशील थे। जब तक समाज के अन्य जीव बोध-प्राप्ति के बिना कष्टग्रस्त हैं, तब तक वे भी उनके साथ-साथ कष्ट सहने को उद्यत हैं। जब तक अन्य प्राणियों को बोध नहीं हो जाता तब तक वे भी उनके साथ प्रतीक्षा कर सकते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि महायान बौद्धों का दृष्टिकोण स्वार्थभावना से रहित एवं समाज-कल्याण तथा लोकमंगल की पुनीत भावना से ओतप्रोत था। उनका जीवन समग्र समाज की प्रमुख धारा में प्रवाहित हो रहा था। वे अपने साथ समाज को भी लेकर चल रहे थे। अतएव हीन यान की अपेक्षा महायान समाज को ग्राह्य हुआ।

महायान की उपर्युक्त विचार धारा ने बौद्ध-धर्म में बोधिसत्त्व सिद्धान्त को अंकुरित किया, जो आगे चलकर जातक कथाओं का स्रोत तथा मूल प्रेरक सिद्ध हुआ। बोधि का अर्थ है बुद्धत्व=ज्ञान तथा सत्त्व का अर्थ है=प्राणी। पूरा अर्थ हुआ—बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने वाला प्राणी। पारिभाषिक शब्दावली में बुद्धत्व प्राप्ति के पूर्व जन्मों में दानशील आदि पारमिताओं द्वारा बोध प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील प्राणी बोधिसत्त्व कहलाता है और जातक कथा में उसी के जीवन की किसी महत्त्वपूर्ण उपदेशप्रद घटना का आख्यान किया जाता है। बुद्ध बनने से पूर्व भगवान् बोधप्राप्ति के लिए प्रयत्न करते रहे। अतः उस दशा में वे बोधिसत्त्व थे। परन्तु शाक्यमुनि के रूप में बोध प्राप्त हो जाने पर वे बोधिसत्त्व नहीं रहे, अपितु बुद्ध बन गए। इस प्रकार बोधिसत्त्व भगवान् सुगत की पूर्ण बोध की प्राप्ति से पूर्व की अवस्था का नाम है। बौद्ध धर्म के विश्वास के अनुसार बुद्धत्व की प्राप्ति हो जाने तक भगवान् सुगत अनेक योनियों में बार-बार जन्म लेते रहे। बुद्धत्व उनके एक ही जन्म के प्रयत्नों का फल नहीं है। एक जन्म के पश्चात् अगले जन्म में सद्गुणों का विकास करते हुए भगवान् ने अन्त में शाक्यमुनि के रूप में बोध प्राप्त किया। भगवान्

निरन्तर अपना विकास करते हुए, पारमिताओं को अर्जित करते हुए, पूर्णता को प्राप्त हुए=बुद्ध बने। इस प्रकार बोधिसत्त्व का यह सिद्धान्त विकास या प्रगति का दिग्दर्शक है जो ब्राह्मण धर्म के अवतारवाद के सिद्धान्त से सर्वथा भिन्न है। भागवत धर्म के भगवान् स्वयं में पूर्ण हैं, सिद्ध हैं, बुद्ध हैं। वे कभी कच्छप, कभी शूकर, कभी नर के रूप में जन्म लेते हैं। परन्तु नाना योनियों में उनका जन्म स्वकर्मों का फल भोगने के लिए नहीं है और न ही अपूर्णता से पूर्णता की ओर बढ़ने के लिए है। वे जब स्वयं पूर्ण हैं तो फिर उनकी और पूर्णता क्या? परन्तु पूर्ण, बुद्ध, होकर भी वे जब क्षुद्र से क्षुद्र योनि में अवतरित होते हैं तो केवल भक्तों की पुकार सुन कर, दीन-दुखियों के कष्ट निवारण के लिए ही, अपने किसी अभाव की पूर्त्ति के लिए नहीं। इसके विपरीत बौद्धों के भगवान् सुगत नीचे से ऊपर उठते हैं। नाना योनियों में इसलिए जन्म लेते हैं कि क्रमशः पारमिताओं को उपार्जित करते हुए, जीवों का कल्याण करते हुए, अन्त में पूर्ण बुद्ध बन जाएं। पूर्णत्व वे प्रयत्नों से उपार्जित करते हैं। बोध के लिए वे क्रमशः पग-पग करके आगे बढ़ते हैं। वे पुण्य कर्मों का अनुष्ठान करते हैं। उपकार के बदले अपकार करने वाले को भी क्षमा करते हैं। भूखे व्याघ्र को अपना शरीर भी भोजन के लिए सहर्ष प्रस्तुत करते हैं। अपने प्रति कृतघ्न व्यक्ति को भी दुःखी देख कर उनका हृदय द्रवित हो जाता है। इस प्रकार पारमिताओं को प्रयत्न पूर्वक अर्जित करते हुए वे अन्त में बुद्ध बनते हैं। बौद्ध धर्म के अनुसार यद्यपि सभी प्राणियों का पुनः-पुनः जन्म होता है। परन्तु बोध की प्राप्ति न होने के कारण अन्य प्राणियों को अपने विगत जन्मों की घटनाएँ स्मरण नहीं रहतीं। परन्तु बोधिसत्त्व तथा बुद्ध को अपने अतीत जन्मों की घटनाएँ हस्तामलकवत् स्पष्ट थीं। अतएव जनसाधारण को प्रवचन देते समय वे किसी घटना का सम्बन्ध पिछले जन्म की घटना से जोड़कर उसे प्रासङ्गिक बना देते थे। अपने पूर्व जन्मों के वृत्तान्तों के साथ-साथ उन्हें अपने प्रवचनों के श्रोताओं के पूर्व जन्म के वृत्तान्त भी ज्ञात थे।

इस प्रकार जातक साहित्य भगवान् बुद्ध की पूर्व जन्मों की घटनाओं, उनके तप, त्याग, दया, क्षमा आदि सद्गुणों, पारमिताओं तथा बौद्ध धर्म के अन्य सिद्धान्तों के प्रचार के उद्देश्य से प्रादुर्भूत हुआ। इन जातक कथाओं में हम बोधिसत्त्व को कभी शश, कभी हस्ती, कभी वानर, कभी नृप के रूप में जन्म लेता हुआ देखते हैं। बोधिसत्त्व किसी भी योनि में उत्पन्न हुए हों उन्हें पिछले जन्मों का ज्ञान रहता है और उनमें तितिक्षा, करुणा आदि उत्तम गुण बराबर विद्यमान रहते हैं। हम देखते हैं कि महायान मार्ग के सिद्धान्तों के अनुकूल बोधिसत्त्व अपने सहचरों के कल्याण के लिए तथा उनमें गुणसम्पत्ति का

आधान करने के लिए, उन्हें बोध के लिए उद्यत करने के लिए, सदैव उद्योगरत रहते हैं। यह बोधिसत्त्व सिद्धान्त जातकसाहित्य का प्राण है और उसमें पूर्ण-रूप से प्रतिबिम्बित है।

जातक तथा अन्य कथा साहित्य

जातक कथाएँ पूर्णतः मौलिक हैं अथवा परम्परागत लोकप्रिय कथाओं के आधार पर रची गई हैं यह विषय विचारणीय है। बहुत सी कथाएँ जो जातकों में मिलती हैं थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ रामायण, महाभारत, पञ्चतन्त्र, हितोपदेश तथा कथासरित्सागर में भी उपलब्ध होती हैं। अतः यहाँ यह शंका होना स्वाभाविक है कि बौद्धों ने ब्राह्मणों के साहित्य से कथाएँ लीं अथवा बौद्ध साहित्य से कथाएँ ब्राह्मणों के साहित्य में प्रविष्ट हुईं। इस विषय पर विद्वानों में मतभेद है। हर्टल नामक विद्वान् ने पञ्चतन्त्र की कथाओं का स्वतंत्र विकास माना है और उस पर जातक साहित्य के प्रभाव को अस्वीकार किया है। अन्य योरोपीय विद्वान् बेनफे का कथन है कि पञ्चतन्त्र पर जातक कथाओं का प्रभाव है। कुछ भी हो यह निर्विवाद है कि कथा में मानव की प्रारम्भ से ही रुचि रही है। कथा के विकास का इतिहास मानव सभ्यता के विकास के इति-हास के साथ जुड़ा हुआ है। जब से मानव ने भाषा का व्यवहार किया होगा तब से कथा का भी प्रारम्भ हो गया होगा। सभी देशों, प्रान्तों, जातियों की अपनी-अपनी कथाएँ होती हैं जिनमें उनकी सभ्यता एवं संस्कृति का चित्रण रहता है। प्रतीत होता है कि ब्राह्मण तथा बौद्ध धर्म के प्रचार से बहुत पहिले भी भारत में कथा का अक्षय कोश रहा होगा जो परम्परा से चला आ रहा होगा। सम्भव है इस प्राचीन कथाभाण्डार से ब्राह्मणों एवं बौद्धों ने अपनी-अपनी आवश्यकता के अनुरूप कथाओं को ग्रहण किया हो और उन्हें अपनी रुचि के अनुसार परिवर्धित कर लिया हो। हो सकता है कि दोनों के कथासाहित्य का एक ही मूल स्रोत रहा हो। अतएव पञ्चतन्त्र आदि की कथाओं तथा जातक कथाओं में समानता देख कर एकदम यह निर्णय लेना कि एक पक्ष की कथाएँ दूसरे पक्ष की कथाओं से प्रभावित हैं असंदिग्ध नहीं है। यह हो सकता है कि जब ब्राह्मणों तथा बौद्धों की कथाओं का विकास हो रहा होगा तो दोनों की कथाओं में समानान्तर विचारधारा का एक दूसरे पर प्रभाव पड़ा हो। परन्तु मूल रूप में दोनों पक्षों की कथाओं का स्रोत एक ही या भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। आगे चल कर एक ने दूसरे को प्रभावित किया हो यह असम्भव नहीं है।

बौद्ध साहित्य में जातकों का स्थान

महात्मा बुद्ध मगध में जन्मे। अतः मगध देश की तत्कालीन भाषा में, जिसे हम प्राचीन मागधी कह सकते हैं, उन्होंने उपदेश दिए होंगे। वर्तमान समय में उपलब्ध प्राचीन बौद्ध साहित्य अधिकांश में पालि भाषा में उपनिबद्ध है। सम्भव है यह पालि भाषा प्राचीन मागधी का ही विकसित रूप हो। भारत से बाहर चीनी, सिंहली आदि भाषाओं में भी बौद्ध ग्रन्थ लिखे गए हैं। कुछ विद्वानों का विचार है कि मूलतः सिंहली भाषा में लिखे गए जातकों का पालि भाषा में अनुवाद हुआ परन्तु यह मत मान्य नहीं है। ब्राह्मण धर्म के विरोध में बौद्ध धर्म खड़ा हुआ। अतः बौद्ध धर्म प्रचारकों ने अपने नवोदित धर्म को जनसाधारण में प्रसारित करने के लिए तत्कालीन प्रचलित लोकभाषा को अपनाया। इसीलिए हम देखते हैं कि जहाँ ब्राह्मणों के धर्मग्रन्थ संस्कृत भाषा में लिखे गए वहाँ बौद्धों के धर्मग्रन्थ लोक प्रचलित पालि भाषा में।

बौद्ध धर्म का साहित्य तीन भागों में विभक्त है जिन्हें 'पिटक' कहते हैं। वे हैं—(१) विनय पिटक (२) सुत्त पिटक (३) अभिधम्म पिटक। इनमें सुत्त पिटक सबसे बड़ा एवं महत्त्वपूर्ण है। सुत्त पिटक पाँच निकायों में विभक्त है—(१) दीघ निकाय (२) मज्झिम निकाय (३) संयुत्त निकाय (४) अङ्गुत्तर निकाय (५) खुद्दक निकाय। खुद्दक निकाय १५ भागों में विभक्त है जिन में जातक साहित्य दसवें भाग के अन्तर्गत आता है।

जातक कथाएँ पद्य तथा गद्य में उपनिबद्ध हैं। अतएव इनका स्वरूप संस्कृत के चम्पू काव्य से मिलता जुलता है जो गद्यपद्यमिश्रित होता है। जातकों का पद्यभाग गाथाओं में है। इनकी भाषा पालि है। कुछ विद्वानों का विचार है कि आरम्भिक अवस्था में जातक गाथाओं के रूप में थे। बाद में गाथाओं की व्याख्या गद्य में की गई और जातकों का रूप गद्यपद्यमिश्रित हो गया। इस अवस्था में उनमें कथा भाग का भी विस्तार हुआ। गाथाओं में कथा का अंश कम, नैतिक शिक्षा या उपदेश का अंश अधिक रहता है।

जातकों की रचना जनसाधारण के लिए की गई थी। अतएव इनकी भाषा भी सरल है। इनमें महात्मा बुद्ध के अवदानों (उदात्त कार्यों) का बार बार वर्णन मिलता है। अतः जातकों को अवदानचरित या अवदानमाला भी कह देते हैं। बोधिसत्त्व की महिमा का प्रख्यापन करने के उद्देश्य से इनमें उनके चरित का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया गया है। इनमें क्रमशः तात्कालिक बुद्ध जीवन की घटना, उस घटना से सम्बद्ध पूर्व जन्म का वृत्तान्त, तद्विषयक पद्यात्मक एक या अनेक गाथाएँ, उन गाथाओं का अर्थविस्तार और

अतीत के पात्रों का बुद्धजीवनकालीन व्यक्तियों से सम्वन्ध दिखाया गया है। इनमें एक जैसी शब्दावली का भी बार बार प्रयोग है। बहुधा इन जातकों में नैतिक शिक्षा एवं धार्मिक उपदेश की मात्रा इतनी अधिक बढ़ जाती है कि उसके भार से मूल कथा बिलकुल दब जाती है। किसी प्राचीन कथा को ले कर उसके पात्रों में से किसी प्रमुख पात्र को बोधिसत्त्व का रूप दे दिया जाता है या बुद्ध को तटस्थ दर्शक के रूप में चित्रित किया जाता है। कई बार तो किसी लोकप्रिय कथा को जो मूल रूप में लौकिक ही होती थी जातक कथा के रूप में परिवर्तित कर धार्मिक रूप दे दिया जाता है। इस प्रकार कुछ जातक कथाएँ तो बौद्धों की प्रतिभा से प्रसूत हैं परन्तु कुछ जातक कथाएँ प्राचीन अधार्मिक लोककथाओं या पशु पक्षी कथाओं का ही परिवर्तित रूप हैं जिन्हें बौद्धों ने अपनी रुचि के अनुसार जातक कथा के रूप में ढाल दिया। बौद्ध भिक्षु श्रोताओं की रुचि तथा योग्यता को पहचानते थे। अतः जैसे श्रोता होते थे तदनुरूप ही वे व्याख्या देते थे। उन्हें पता था कि जनसाधारण में कथा सुनने की प्रवल प्रवृत्ति होती है। श्रोताओ की इस स्वाभाविक रुचि का पूरा लाभ उठाते हुए जहाँ उन्होंने नई नई रोचक कथाओं को गढ़ा वहाँ उन्होंने अत्यधिक लोकप्रिय कथाओं को अपना कर उनमें यथावश्यक परिवर्तन कर उन्हें अपने जातक साहित्य में सन्निविष्ट कर लिया। इस प्रकार जातकों की सख्या में वृद्धि होती गई।

आजकल उपलव्ध जातकों की संख्या ५४७ है। इनमें कुछ कथाएं तो पुनरावृत्ति मात्र हैं। उनको निकाल दिया जाए तो संख्या कम हो जाती है। कुछ कथाओं में तो परस्पर पूर्ण समानता है परन्तु कुछ कथाओं में पूर्ण समानता होने पर भी पात्र तथा घटनाओं के कारण पार्थक्य हो जाता है। सभी कथाओं का मूल उद्देश्य वोधिसत्त्व के गुणों का विज्ञापन है। पालि भाषा के वाद संस्कृत भाषा में आर्यशूर ने जातकमाला लिखी। इसमें ३३ जातक हैं। पालि जातकों की अपेक्षा शूर की जातकमाला साहित्यिक दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। शूर की भाषा प्राञ्जल, सुगठित एवं अलङ्कृत है। शूर का गद्य भी प्रौढ़ है और कहीं कहीं तो संस्कृत के बाण भट्ट और दण्डी के गद्य के समकक्ष है। शूर ने गाथाओं के स्थान पर संस्कृत के अनुष्टुभ्, उपजाति आदि छन्दों का प्रयोग किया है। विदेशी विद्वान् स्पेयर ने अंग्रेजी भाषा में शूर की जातकमाला का अनुवाद किया है जो Sacred Books of the East ग्रन्थमाला में छपा है तथा स्वतन्त्र रूप से भी उपलब्ध है। हालैण्ड निवासी विद्वान् श्री केर्न ने सबसे पहिले कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय की दो पाण्डुलिपियों (सं० १३२८ और १४१५) तथा पेरिस राष्ट्रीय ग्रन्थागार की पाण्डुलिपि

(सं० ९५) के आधार पर शूर की जातकमाला का सम्पादन किया था। मूल पालि जातकों का अंग्रेजी में अनुवाद विदेशी विद्वान् कोवैल की देखरेख में हुआ था। पालि जातकों का हिन्दी में अनुवाद भदन्त आनन्द ने कई भागों में किया है। अन्य देशीय भाषाओं में भी जातकों का अनुवाद हुआ है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर संक्षेप में जातक साहित्य की निम्न-लिखित विशेषताएँ प्रकट होती हैं। जातकों का प्रारम्भ प्राय: 'जब वाराणसी में ब्रह्मदत्त राज्य करता था'—इस प्रकार की शब्दावली से होता है जिसमें किसी आगामी घटना का प्रारम्भिक परिचय दिया जाता है। (२) इसमें बुद्ध के पूर्व जन्म की घटना का चित्रण होता है। (३) इसकी शैली गद्यपद्यात्मक होती है। (४) गाथा किसी नैतिक शिक्षा या धार्मिक संदेश को प्रकट करती है तथा गद्य में कथा का इतिवृत्त या तन्तु रहता है। (५) गाथाओं तथा गद्य में पुनरुक्ति दिखाई देती है। (६) जातकों का आधार कोई लोकप्रिय लोक-कथा अथवा पशुपक्षी कथा होती है। (७) आरम्भ में जातकों की संख्या कम थी। परन्तु नई कथाओं की उद्‌भावना के कारण उनकी संख्या में वृद्धि होती गई। (८) इनमें बोधिसत्त्व के नैतिक गुणों, अवदानों तथा उनके द्वारा उपा-र्जित पारमिताओं की भूरि भूरि प्रशंसा की गई है।

जातकों का रचना काल

जातकों में चित्रित सामाजिक, राजनीतिक तथा भौगोलिक स्थिति से प्रतीत होता है कि ये बुद्धकालीन एवं कुछ अंशों तक बुद्ध पूर्व भारत की दशा प्रस्तुत करते हैं। इनमें प्राचीन जातक, जो लोककथाओं के आधार पर निर्मित हुए, बुद्ध पूर्व समय के प्रतीत होते हैं। बहुत से जातकों की रचना ईस्वी पूर्व तीसरी शती में हो चुकी होगी क्योंकि सांची, भरहुत आदि ऐतिहासिक स्थानों में जो पाषाणों पर उत्कीर्ण चित्र मिले हैं उनमें जातकों के नामों, घटनाओं तथा दृश्यों को अङ्कित किया गया है। इन उत्कीर्ण लेखों तथा चित्रों का समय ई० पू० तीसरी शती माना गया है। अतः उस समय तक जातक बहुत लोकप्रिय हो चुके होंगे। जातकों की रचना प्राय: उत्तर भारत में ही हुई होगी क्योंकि उनमें अधिकतर उत्तर भारत के नगरों, पर्वतों, नदियों, पशु-पक्षियों, वनस्पतियों तथा रीति रिवाजों का वर्णन मिलता है।

जातकों का महत्त्व

जातकों का महत्त्व इस बात से स्पष्ट है कि संसार के उपलब्ध साहित्य में ये सबसे अधिक प्रामाणिक, अत्यधिक सुसंपूर्ण तथा प्राचीनतम लोककथाओं का संग्रह माने गए हैं। प्राचीन भारत की सामाजिक, राजनीतिक एवं भौगो-

लिक स्थिति के ज्ञान के लिए जातक अत्यन्त सहायक हैं। विमल चरण ला ने जातकों में वर्णित अंग, मगध, कुरु, गान्धार आदि जनपदों, कपिलवस्तु, मिथिला, वैशाली, राजगृह, वाराणसी आदि नगरों, पर्वतों तथा नदियों के अध्ययन से बुद्धकालीन भूगोल का सजीव वर्णन प्रस्तुत किया है। इस प्रकार भारत के प्राचीन भूगोल को समझने में जातक अत्यन्त उपयोगी हैं और इनके अधिक गम्भीर अध्ययन की आवश्यकता है। जातकों में चित्रित विभिन्न राष्ट्रों, राजवंशों, बिम्बसार आदि राजाओं, जनता के रोज़गार-धन्धों तथा विचित्र मानववृत्तियों के अध्ययन से तत्कालीन सामाजिक दशा का प्रामाणिक विवरण तैयार किया जा सकता है। जातकों में ग्रामीण जीवन की भी सुन्दर झांकी मिलती है। वे ऐसे भारत का चित्र उपस्थित करते हैं जब मुसलमानों के आक्रमण आरम्भ नहीं हुए थे और देश में शान्ति, सुख तथा समृद्धि थी। जातकों का भारत फाहियान तथा ह्युएनसांग के समय के भारत से मिलता है। जातकों के गम्भीर अध्ययन के आधार पर राइस डेविड्स ने तत्कालीन जनजीवन का, श्रीमती राइस डेविड्स ने आर्थिक दशा का, एवं राधाकुमुद मुकर्जी ने भारतीय नौकानयन एवं प्राचीन भारतीय व्यापार पद्धति का इतिहास प्रस्तुत किया है। जातकों के आधार पर प्राचीन वैदिक आख्यान तथा रामायण, महाभारत के उपाख्यानों का परस्पर तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है। पञ्चतन्त्र, हितोपदेश आदि की बहुत सी कथाओं का तो जातक कथाओं से अत्यधिक साम्य है। बहुत सी योरोपीय लोककथाएँ भी जातक कथाओं से मिलती हैं। योरोपीय साहित्य में प्रचलित 'शेर की खाल में गधा', 'बातूनी कछुआ', 'गीदड़ और कौवा' आदि कथाएँ जातकों की कथा संख्या १८९, २१५, तथा २९४ से क्रमशः मिलती हैं। इस प्रकार जातकों के आधार पर बहुत सी विश्वप्रचलित लोक कथाओं का पूर्वरूप खोजा जा सकता है। अतएव जर्मन विद्वान् बेनफी तो जातकों को विश्वकथा साहित्य का आदि स्रोत मानते हैं। समस्त संसार की प्राचीन सभ्यता, संस्कृति एवं साहित्य के इतिहास के पुनर्गठन के लिए जातकों में बहुमूल्य सामग्री मिल सकती है। इस प्रकार जातक न केवल बौद्धों के धार्मिक सिद्धान्तों के ज्ञान के लिए ही उपयोगी हैं अपितु तत्कालीन भारत की राजनीतिक, सामाजिक एवं भौगोलिक दशा को समझने के लिए भी उनका महत्त्व कम नहीं है।

श्रीबोधिसत्त्वचरित : एक आलोचनात्मक अध्ययन

[लेखक—डा० धर्मेन्द्र कुमार गुप्त]

श्रीबोधिसत्त्वचरित डा० सत्यव्रत द्वारा विरचित महाकाव्य है। डा० सत्यव्रत इस शताब्दी के उन कवियों में से हैं जिनमें सहज कवित्व-प्रतिभा और अगाध वैदुष्य का मणिकांचन योग है। उनका चौदह सर्गों का प्रस्तुत काव्य, जो प्रथम बार सन् १९६० ई० में प्रकाशित हुआ था, महाकाव्य-रचना की दिशा में उनका प्रथम प्रयास है। इस दिशा में उनका अगला प्रयास गुरु गोविंद सिंह फांउडेशन, पटियाला, की ओर से १९६७ में प्रकाशित श्रीगुरु-गोविंदसिंहचरित के रूप में आया जो साहित्य अकादमी द्वारा १९६८ में सर्वश्रेष्ठ संस्कृत पुस्तक के रूप में संमानित हुआ।

श्रीबोधिसत्त्वचरित में बोधिसत्त्व के अवदानों की कथा को काव्य का रूप दिया गया है। बोधिसत्त्व परिपूर्ण बोध की प्राप्ति से पूर्व की अवस्था में स्थित बुद्ध का रूप अथवा सत्त्व है। दूसरे शब्दों में बुद्धत्त्व प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील सत्त्व (आत्मा) बोधिसत्त्व है जो अनेक जन्मों में किए गए अपने विभिन्न अवदानों (=उदात्त या श्रेष्ठ कर्मों) के फलस्वरूप अन्त में बुद्ध का सर्वोच्च पद प्राप्त करता है। पालि जातकों में एवं संस्कृत के कतिपय जातक-ग्रन्थों में बोधिसत्त्व के विविध अवदानों की कथाएं मिलती हैं; उन्हें परिष्कृत काव्य-शैली में उपन्यस्त करने का श्लाघ्य प्रयास प्रस्तुत महाकाव्य में किया गया है। वर्ण्य वस्तु की गौरवमयता के साथ-साथ इस काव्य में अभिव्यक्ति की महनीयता भी है जो इसे इस शताब्दी के अंगुलिगण्य संस्कृत काव्यों में श्रेष्ठ स्थान दिलाती है।

प्राचीन लक्षणकारों के अनुसार महाकाव्य एक सर्गबद्ध पद्य-रचना है जिसमें एक नायक के सम्पूर्ण जीवन का अथवा एक ही वंश के अनेक नायकों के जीवन का चरित वर्णित होता है। प्रस्तुत रचना महाकाव्य की इस पारम्परिक संकल्पना से परे हटकर चलती है, इसके नायक एकाधिक व्यक्ति हैं और इसके विभिन्न सर्गों में वर्णित घटनाओं में ऐतिहासिक निरन्तरता नहीं है फिर भी इस काव्य में वर्णित विभिन्न चरित्रों को एक अभिन्न आत्मा के रूप में कल्पित किया गया है; यह अभिन्न आत्मा भिन्न-भिन्न जन्मों में

उपस्थित बोधिसत्त्व की आत्मा है। इस कल्पना ने प्रस्तुत महाकाव्य की, कथाशिल्प की दृष्टि से परस्पर अश्रृंखलित घटनाओं में एकता ला दी है।

प्रस्तुत महाकाव्य के चौदह सर्गों में नौ में विभिन्न रूपों में बोधिसत्त्व के अवदानों की कहानी है। इन नौ रूपों में से चार (२—५) रूप बोधिसत्त्व को राजा के रूप में प्रस्तुत करते हैं, दो (१, ८) रूप उसे व्यापारी के रूप में उपस्थापित करते हैं, और शेष तीन (६, १२, १४) रूप क्रमशः उसके भिक्षु, कृषक और शिक्षक अथवा आचार्य जीवन से सम्बन्धित हैं। अपने इन रूपों के माध्यम से बोधिसत्त्व का जीवन बौद्ध धर्म के कतिपय नैतिक आदर्शों की व्याख्या करता है। ये आदर्श अथवा मूल्य सात कथाओं (२-५, ७-९) में बोधिसत्त्व के उदात्त चरित्र के उदाहरण द्वारा प्रस्तुत किए गए हैं और शेष दो कथाओं (६,१०-१) में बोधिसत्त्व द्वारा दिए गए उपदेश के माध्यम से इन्हें उपस्थापित किया गया है।

प्रथम सर्ग में बोधिसत्त्व एक उदार व्यापारी के रूप में आता है जो अपने साथी, दूसरे व्यापारी, को वाणिज्य यात्रा में पहल करने की अनुमति देता है। उसका साथी व्यापारी यात्रा में पहल पा जाने से अधिक लाभ की प्राप्ति की आशा से प्रसन्न है। वह बैलगाड़ियों पर बहुत बड़ी मात्रा में पण्य पदार्थ लादकर अपने नगर से निकल पड़ता है। रास्ते में कोई दुष्ट पिशाच उसे यह झूठा आश्वासन देकर कि समीप ही भारी वृष्टि हुई है, उसे अपने साथ ले चल रहे जल भण्डार से वंचित कर देता है। व्यापारी अपने सभी अनुचरों के साथ प्यास से तड़प-तड़प कर विशाल मरु-भूमि में प्राण खो बैठता है। वही दुष्ट पिशाच बोधिसत्त्व को भी ठगने का प्रयत्न करता है, जब वह उसी मरु-भूमि में से अपनी वाणिज्य-यात्रा के दौरान गुजरता है। परन्तु बोधिसत्त्व उसके जाल में नहीं फँसता और अपनी बुद्धिमत्ता, अनथक परिश्रम एवं ईमानदारी के फलस्वरूप उस व्यापार-यात्रा में महती सफलता प्राप्त करता है।

महाकाव्य के द्वितीय सर्ग में बोधिसत्त्व काशी नरेश के रूप में उपस्थित होता है। उदात्त-चरित्र काशी नरेश अपने विस्तृत राज्य का दौरा करता है। वह ऐसे व्यक्ति की खोज में है जो उसे उसके दोष बताए। उक्त उद्देश्य से दौरा करते हुए उसकी, अपने राज्य के सीमा-प्रदेश में एक संकरे मार्ग पर, कोसल के राजा से भेंट होती है। दोनों नरेशों के रथ के सारथि उक्त संकरे मार्ग को पार करने में पहल प्राप्त करने को उत्सुक हैं जबकि एक समय में एक रथ ही उस मार्ग पर से गुजर सकता है। अन्त में वे यह समझौता करते हैं कि उस राजा के रथ को पहले गुजर जाने का अधिकार दिया

जाए जो अपने प्रतिद्वन्द्वी से नैतिक गुणों में बढ़-चढ़कर हो। संयोगवश दोनों राजा अवस्था, पराक्रम, राजनीति-कुशलता, कुल, सम्पत्ति तथा अन्य बातों में समान हैं। फिर भी बोधिसत्त्व का चरित्र कोसल-नरेश के चरित्र से इस बात में श्रेष्ठ सिद्ध होता है कि वह अपना अपकार करने वालों के प्रति भी उदार और दयावान् है। इस प्रकार वह उस संकरे मार्ग को पहले पार करने का गौरव प्राप्त करता है।

अगली कथा में भी बोधिसत्त्व काशी नरेश के रूप में आता है। यहाँ भी उसका प्रतिद्वन्द्वी कोसल नरेश है। तीसरे और चौथे सर्गों में वर्णित यह कथा यद्यपि घटनाक्रम की दृष्टि से अधिक प्रभावोत्पादक नहीं, तथापि इसमें अंकित बोधिसत्त्व का अतिमानवीय चरित्र हमें विशेष प्रभावित करता है। उसका प्रतिद्वन्द्वी कोसल नरेश उसका राज्य और सिंहासन तक हड़प लेता है, परन्तु वह बिना किसी संदर्भ या प्रतिक्रिया के शान्तिपूर्ण भाव से यह सब देखता रहता है। उसकी उदात्त न्याय-भावना से प्रभावित यक्षों के हस्तक्षेप से उसे अपना छीना हुआ राज्य प्राप्त होता है, अन्यथा वह स्वयं अपने शत्रु राजा का विरोध नहीं करता। वदान्यता और उदारता की मूर्ति वह अपने शत्रु को उसके द्वारा महान् अपराध किए जाने पर भी शान्ति पूर्वक क्षमा कर देता है। उसके इस क्षमा भाव का कोसल नरेश पर यथेष्ट प्रभाव पड़ता है।

पाँचवें सर्ग में वर्णित अगली कथा में भी बोधिसत्त्व काशी नरेश के रूप में अवतरित होता है। उसके पास चोरी के अपराध में अभियुक्त के रूप में तीन व्यक्ति पेश किए जाते हैं। एक स्त्री इन निर्दोष व्यक्तियों को छुड़वाने राज दरबार में उपस्थित होती है। पकड़े गए व्यक्तियों में एक उसका भाई है, एक उसका पति और एक उसका पुत्र है। राजा उस स्त्री को उनमें से केवल एक को ही छुड़वाने की अनुमति देता है। वह स्त्री, उस कठिन स्थिति में, उनमें से अपने भाई को छुड़वाने की इच्छा व्यक्त करती है। वह पति और पुत्र की अपेक्षा भाई की गरिमा के पक्ष में प्रबल युक्तियाँ देती है। राजा उसके द्वारा उपस्थापित युक्तियों से प्रभावित होकर उसके तीनों सम्बन्धियों को बन्धनमुक्त कर देता है।

छठे सर्ग में एक युवक भिक्षु की कथा है जो किसी रूपवती युवती को देख कर उस पर मोहित हो जाता है। उसके साथी भिक्षु उसे अरिष्टपुर नरेश शिबि के रूप में अवतरित होने वाले बोधिसत्त्व की प्रेरणाप्रद कथा सुनाकर सांसारिक विषयवासनाओं से ऊपर उठने का उपदेश देते हैं। अगले तीन सर्गों (७-९) में अरिष्टपुर नरेश शिबि (बोधिसत्त्व) की कहानी अंकित है। इनमें से सातवें सर्ग में उन्मदन्ती की कथा दी गई है। उन्मदन्ती अनुपम लावण्य-सम्पन्न

वाला है। उसका पिता उसे महाराज शिबि को विवाह में देना चाहता है, परन्तु शिवि अपने मन्त्रियों की सलाह पर उसे अस्वीकार कर देता है। आखिर उसका विवाह राजा के सेनापति के साथ हो जाता है। अगले सर्ग में उन्मदन्ती के पूर्वजन्म की प्रासंगिक कथा है। अपने पूर्व जन्म में वह एक निर्धन व्यक्ति की पुत्री थी। अपनी एकमात्र सम्पत्ति—लाल रंग की साड़ी—को एक जरूरत-मंद भिक्षु को देने के अपने अपूर्व पुण्य से वह अगले जन्म में मोहक सौन्दर्य से सम्पन्न उन्मदन्ती के रूप में अवतरित होती है। यह उन्मदन्ती के अनुपम रूप-सौन्दर्य का रहस्य था। महाराज शिबि कौमुदी-महोत्सव के अवसर पर नगर का निरीक्षण करने निकलते हैं। उनकी दृष्टि अपने महल के वातायन से नीचे झाँक रही उन्मदन्ती पर पड़ती है। वह उसके लावण्यपूर्ण अंगों की छवि से मन्त्रमुग्ध से हो जाते हैं और उसके प्रति काम भावना से भर जाते हैं।

उसके पति, बेचारे सेनापति, को इस घटना की खबर होती है। वह अपने कुल की अधिष्ठात्री देवी वनस्पति-देवता द्वारा यह समाचार जानने का स्वांग रचकर महाराज शिबि को अपनी प्रिय पत्नी उपहृत करता है। महाराज शिबि के मन में घोर मानसिक अन्तर्द्वन्द्व जागता है। अगले (नवें) सर्ग में सेनापति के साथ उसका संवाद है जिसमें उसके मनोवैज्ञानिक संघर्ष को काव्यमय अभिव्यक्ति मिली है। स्वामी को अपनी प्रिय पत्नी का उपहार करने को तत्पर सेनापति और अपनी मोहमयी निद्रा से जाग कर धर्म का अनुपालन करने की उत्कट भावना से प्रेरित होकर सेनापति के उपहार को सविनय अस्वीकार कर रहे पश्चात्ताप-परिपूर्ण महाराज शिबि के बीच यह नाटकीय संवाद हृदयहारी कविता का सुन्दर रूप प्रस्तुत करता है।

दसवें और ग्यारहवें सर्ग में वर्णित कथा में बोधिसत्त्व एक भिक्षु के रूप में परस्पर झगड़ रहे राजा और उसकी रानी के बीच समझौता कराता है। वह उन्हें उनके पूर्व जन्म की कहानी सुनाता है जब वे किन्नर दम्पती के रूप में थे और अपने परस्पर अल्पकालिक वियोग की याद आ जाने मात्र से वर्षों तक विरह पीड़ा से व्याकुल रहे थे।

एक भोले परन्तु मनोयोगी कृषक के रूप में अवतरित बोधिसत्त्व का अतिमानवीय चरित्र बारहवें सर्ग में वर्णित कथा का विषय है। सर्ग का आरम्भ काशी के नरेश ब्रह्मदत्त के वर्णन से होता है। उसके राज्य में एक धार्मिक कृषक परिवार रहता है जिसके सदस्य हैं कृषक, उसकी पत्नी, उनका एक पुत्र और एक पुत्री तथा एक सेविका। कृषक का पुत्र खेत में साँप के काटे जाने से मर जाता है। कृषक अपने सामने अपने मृत पुत्र को देखकर भी अविचलित भाव से अपने काम में लगा रहता है और अपनी पत्नी को घर के सभी सदस्यों

के साथ खेत में आ जाने का संदेश भेज देता है। वह अपने संदेश में केवल एक व्यक्ति के लिए मध्याह्न का भोजन लाने को कहता है, क्योंकि अब खेतों का उसका साथी—उसका पुत्र—इस दुनियाँ में नहीं रहा। मानवीय मन पर अतिमानवीय संयम का यह अपूर्व उदाहरण था। यह देवताओं के स्वामी इन्द्र की सर्वोच्च पदवी को चुनौती थी। इन्द्र स्वभावतः इस अद्भुत घटना से विचलित हो घटनास्थल पर पहुँचता है। कृषक परिवार के सभी सदस्यों को शोकभाव से लेश मात्र भी अप्रभावित देखकर वह आश्चर्यचकित रह जाता है। कृषक परिवार के सभी सदस्य मृत्यु को शरीर का स्वाभाविक धर्म मान कर अपने प्रिय सम्बन्धी के निधन को एक स्वाभाविक घटना के रूप में ग्रहण करते हैं।

तेरहवें सर्ग में वर्णित अगली कथा में बोधिसत्त्व एक विपन्न व्यापारी के रूप में आता है। वह व्यापार में हानि हो जाने के कारण अकिंचन अवस्था में अपने मित्र पीलिय नामक दूसरे व्यापारी के पास जाता है। पीलिय को कभी उसने उसकी विपन्न अवस्था में अपनी आधी सम्पत्ति का दान करके उपकृत किया था। परन्तु अब पीलिय अपने विपन्न मित्र की सहायता नहीं करता। बोधिसत्त्व अपने इस अकृतज्ञ मित्र के प्रति कोई दुर्भावना या शिकायत का भाव नहीं रखता। उपकारी बोधिसत्त्व के और उसके कृतघ्न मित्र पीलिय के चरित्रों के बीच इस महान् व्यवधान की प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति इस कहानी की विशेषता है।

अन्तिम, चौदहवें, सर्ग में वर्णित कथा में बोधिसत्त्व एक अध्यापक के रूप में आता है। वह अपने शिष्य पापक को, जो अपने पापसूचक नाम को बदल कर कोई अच्छा-सा नाम रखना चाहता है, नामों की यादृच्छिकता के सम्बन्ध में आश्वस्त करता है। पापक को वह अपने लिए कोई सुन्दर-सा नाम ढूँढने को भेजता है, परन्तु पापक प्रायः सभी नामों को अर्थान्वित न पाकर अपने वर्तमान नाम को बदलने का विचार छोड़ देता है। इस कथा द्वारा यह शिक्षा दी गई है कि नाम का व्यक्ति के चरित्र के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता; अतः सच्चरित्र महनीय है, सच्चरित्र या सद्गुण सूचक नाम धारण कर लेना मात्र नहीं।

काव्य की कथावस्तु, स्पष्टतः, एक व्यक्ति अथवा चरित्र पर केन्द्रित न होकर अनेक चरित्रों पर आधारित है। फिर भी समस्त काव्य की विविध कथाओं को एकता के सूत्र में पिरोने वाली बोधिसत्त्व की एक आत्मा है जो इन सभी कहानियों के विविध पात्रों में परिव्याप्त है और जिसका व्यवहार एवं क्रिया तथा प्रभाव समान हैं। कथावस्तु का यह तत्त्व प्रस्तुत महाकाव्य

की शक्ति भी है और कमज़ोरी भी, क्योंकि जहाँ एक ओर यह कथानक के गौरव को बढ़ाता है और उसे एक महाकाव्य का आयाम प्रदान करता है, वहाँ दूसरी ओर यह तत्त्व कहानी की विविधता और रोचकता को घटा देता है तथा चरित्र-चित्रण और रस-परिपाक की काव्यमयी संभावनाओं को भी क्षीण कर देता है।

इस प्रकार ऐसे कथानक में स्वभावत: आने वाली इन सीमाओं के बावजूद, यह काव्य सफल चरित्र-चित्रण तथा कतिपय रसों के प्रभावशाली परिपाक के कुछ उत्कृष्ट निदर्शन प्रस्तुत करता है। बोधिसत्त्व के चरित्र को प्राय: प्राकृत अथवा साधारण चरित्र के साथ रखकर और फिर उसे उससे ऊपर उठा कर अंकित किया गया है। इस प्रक्रिया के द्वारा दो परस्पर भिन्न मानसिक स्थितियों का सजीव चित्रण हो पाया है। ये मानसिक स्थितियाँ हैं एक ओर उदात्त और अतिप्राकृतिक और दूसरी ओर साधारण तथा निम्न कोटि की। काव्य में अंकित कतिपय सजीव पुरुष चरित्र हैं अरिष्टपुर का नरेश शिबि, युक्तमना कृषक, संघ, और उसका कृतघ्न मित्र पीलिय। दूसरी ओर नारी पात्रों में लावण्य-मूर्ति उन्मदन्ती और संघ की सरल-स्वभाव पत्नी प्रमुख हैं। कथानक की सीमाओं के होते हुए भी कवि उक्त पात्रों एवं कतिपय अन्य पात्रों में चरित्र का क्रमिक विकास दिखाने में सफल हुआ है। चरित्र का क्रमिक विकास उसने उन पात्रों में तीव्र मानसिक अन्तर्द्वन्द्व दिखा कर सम्पन्न किया है। ऐसा मनोवैज्ञानिक अन्तर्द्वन्द्व सर्वाधिक मात्रा में हमें अरिष्टपुर नरेश के चरित्र में प्राप्त होता है जो पहले अपने सेनापति की सुन्दर पत्नी के प्रति पाप-पूर्ण दृष्टि रखता है और बाद में पश्चात्ताप की अग्नि में तपकर सोने के समान निर्मल चरित्र हो जाता है। पापक नामक शिष्य के चरित्र में भी यह अन्तर्द्वन्द्व दीख पड़ता है जो पाप बोधक अपने नाम से किसी तरह छुटकारा पाना चाहता है और कोई गुणसूचक नाम रखना चाहता है। चरित्रों के अंकन में कवि अधिक अथवा विस्तृत विवरण नहीं देता। वह केवल कुछ-एक मोटी रेखाओं से ही उनकी आकृति आंक देता है, और फिर भी वे आकृतियां विशद और सजीव व्यक्तियों के रूप में हमारे सामने आ उपस्थित होती हैं। तेरहवें सर्ग में (श्लोक ४८-४९) अंकित संघ का निम्न रेखा चित्र उसके चरित्र की उदात्तता को स्पष्टत: रूपायित कर देता है:

यदि बुसमहमेतन्नाददीयैतदीयं
झटिति विघटयेयं मैत्र्यमत्र स्वकीयम्।
अत उचितमिदं मे, स्वीकरोम्यस्य वस्तु
यदपि लघु, तथाप्यव्याहतं सख्यमस्तु ॥

विरहयतु मुधायं बुद्धिहीनः सुहृत्त्वं
न कथमनुभवेयं साध्वहं तन्महत्त्वम् ।
प्रकटयतु च कामं वित्तमत्तो लघुत्वं
कथमहमभिरामं संत्यजेयं गुरुत्वम् ।।

संघ का अतिमानवीय चरित्र उसकी पत्नी को उलझनपूर्ण स्थिति में डाल देता है जो अपने पति के मित्र पीलिय द्वारा दान में दिए गए भूसे को देख कर क्रोध और ग्लानि के भाव से भर जाती है ।

प्रस्तुत काव्य में वीर और शृंगार रसों का सफल परिपाक प्राप्त होता है । वीर रस बोधिसत्त्व के विविध रूपों के अंकन में परिपक्व हुआ है । परन्तु यहाँ वीर रस युद्धवीर न होकर धर्मवीर है । बोधिसत्त्व के विविध अवदानों का सम्बन्ध उसके उच्चतम त्याग भाव और उसके द्वारा जीवन के साधारण मूल्यों के उदात्तीकरण से है । उसके अवदानों की ये कथाएँ अपनी सर्वोच्च संभावनाओं तक विकसित की गई हैं, और इनके विकास में धर्मवीर रस का सफल परिपाक हमें प्राप्त होता है ।

उन्मदन्ती के सौन्दर्य तथा महाराज शिबि की उसके प्रति कामपूर्ण आसक्ति के वर्णन में शृंगार रस की सफल अभिव्यंजना प्राप्त होती है । इस रस का विप्रलम्भ रूप हमें किन्नर प्रेमी युगल के पूर्वानुभूत विरह की स्मृति के मर्मस्पर्शी वर्णन में मिलता है । इन प्रेमियों की कोमल अनुभूतियाँ महानतम मानवीय भावनाओं का मृदुतम और पवित्रतम रूप प्रस्तुत करती हैं । इस विप्रलम्भ भावना के एक दूसरे पहलू का सफल चित्रण महाराज शिबि के वर्णन में प्राप्त होता है जो अपने सेनापति की पत्नी के प्रति अनुचित काम-भावना से व्याकुल होता है । यह अनुचित कामभावना प्रेम का विकृत रूप है और इसका सर्वोच्च उदात्तीकरण इस रूप में किया गया है कि वह राजा, जो बोधिसत्त्व का ही एक रूप है, अपनी अभीष्ट प्रेमिका से पूर्णतः अनासक्त हो जाता है और परिपूर्ण मानसिक प्रसाद प्राप्त कर लेता है । इस शान्त उदात्तीकरण से पूर्व एक बड़ा मनोवैज्ञानिक तूफान चलता है । कवि इस तूफान और तूफान के बाद की मानसिक शान्ति—दोनों का चित्रण करने में पूर्ण रूप से सफल हुआ है ।

प्रस्तुत काव्य का एक प्रमुख गुण है इसका कथाशिल्प और वर्णनकला । इस कृति की कथाओं में हम तीव्र गति ले चलती हुई घटनाओं का क्रम देखते हैं, तथा विशदता एवं परिपूर्ण कल्पना शक्ति के साथ अंकित विविध दृश्य भी इसमें इधर-उधर प्राप्त होते हैं । घटनाक्रम के विकास में बाधक लम्बे वर्णना-

त्मक प्रसंग इस काव्य में नहीं हैं। इसमें चित्रित विविध दृश्य संक्षिप्त होते हुए भी सशक्त और प्रभावोत्पादक हैं। यहाँ उदाहरण के रूप में अत्यधिक वर्षा से आर्द्र नववनस्पतियों से हरित पर्वतीय प्रदेश का एक दृश्य प्रस्तुत है। इस पर्वतीय प्रदेश में गिरि-गुहाएँ और कमल-सरोवर भी हैं जो समस्त विस्तृत प्रदेश की शोभा को बढ़ाते हैं—

एषा विलोक्या हरिता वनाली तद्भूविभागोऽस्त्यतिवृष्टिशाली।
गुहा गिरीणां सलिलस्य पूर्णा विभान्ति पद्मानि विकासभाञ्जि ॥ (१.५१)

एक नितान्त भिन्न प्रकार का दृश्य अरिष्टपुर के वर्णन में प्राप्त होता है जो कौमुदी महोत्सव के अवसर पर मनोरम ढंग से सजाया गया है—

प्रमार्जिता पल्लवपुष्पवाटी परिष्कृता गन्धजलावसिक्ता।
प्रशस्तवस्तूपहिता समस्ता सुशोभिता भूमिरभून्नगर्याः ॥ (८.३२)

उपर्युक्त दृश्य का ही एक भाग सेनापति का विशाल प्रासाद है जो अपनी अभ्रंलिह अट्टालिकाओं के कारण आकर्षक और हृदयहारी है :

सेनापतेस्तस्य विशेषरम्यः प्रासाद आसीत्स मनःप्रसादः।
अभ्रंलिहाट्टालकदर्शनीयो मनःशिलाचारुविशालवप्रः ॥ (८.४१)

कवि मानवीय सौन्दर्य के वर्णन में भी सिद्धहस्त है। वह अपने व्यक्ति चित्रों को सादे रंगों में और कतिपय सीधी रेखाओं के माध्यम से अंकित करता है। वह प्रायः सूक्ष्म विवरण देने के चक्कर में नहीं पड़ता। ये सूक्ष्म विवरण उसकी कविता में ध्वन्य ही रहते हैं। उन्मदन्ती का निम्न चित्र उसने कुछ एक सीधी रेखाओं के द्वारा ही खींचा है, फिर भी यह प्रभावशाली है और कवि के प्रयोजन को पूरा करने वाला है :

रूपप्रकर्षेण समुज्ज्वलन्तीं सुवासिनीं चारुविलासिनीं ताम्।
अलोकसामान्यगुणाभिरामां क्षणं निरीक्ष्यैव समे व्यमुह्यन् ॥ (७.२१)

उन्मदन्ती का ही एक दूसरा चित्र दूसरे रूप में अंकित किया गया है। उसका यह दूसरा चित्र उस समय का है जब वह सेनापति की पत्नी के रूप में महाराज शिवि के हृदय में अनुचित काम भावना की उत्पत्ति का कारण बनती है। यह चित्र अपेक्षाकृत अधिक सम्पन्न रंगों और गाढ़ी रेखाओं द्वारा अंकित किया गया है :

अनङ्गरङ्गस्थलमन्तरङ्गं तरङ्गयन्ती कुटिलैः कटाक्षैः।
असौ विशालायतपक्ष्मलाक्षी मनोऽहरन्मे वनकिन्नरीव ॥
मणिप्रभोद्भासितकुण्डलश्रीर्हेमद्युतिर्विद्युदिवोल्लसन्ती।
मुग्धा विदग्धोचितलोलया मां व्यलोकयत्सा चकिता मृगीव ॥ (८.६६-७)

उन्मदन्ती के उपर्युक्त मनोहारी रूप के मुकाबले में उसके प्रेमी महाराज

शिबि का विद्रावक रूप इन संक्षिप्त शब्द रेखाओं में स्वयं उस सुन्दरी द्वारा इस प्रकार अंकित किया गया है :

यस्तुन्दिलः स्थूलतनुर्गरिष्ठो रथस्थितोऽदृश्यत दन्तुरश्च । (८.७६)

प्रकृति के कोमल रूपों के वर्णन में कवि की वर्णन-शक्ति का एक दूसरा तथा अधिक निखरा रूप प्राप्त होता है। अचल दृश्य की अपेक्षा वह चल दृश्य को अधिक पसंद करता है और चल दृश्यों में भी वह विशाल भूभाग को अधिक रुचि से अंकित करता है। नदी का निम्नांकित चित्र, जो उसने शिखरिणी छन्द में आबद्ध किया है, एक विस्तृत भू-प्रदेश को हमारी आंखों के सामने ले आता है और इस प्रकार एक विशाल भू-भाग के सजीव चित्रण का सुंदर निदर्शन प्रस्तुत करता है :

पवित्राम्भःपूर्णा सफलदलपुष्पैः परिवृता
द्रुमैः स्निग्धच्छायैर्व्रततिततिभिश्चाप्युपचिता ।
तटप्रान्तैर्हृद्यैर्विहगमधुरध्वानमुखरै-
स्तरङ्गैस्त्तुङ्गैररमयदमुं सा सरिदपि ।। (१०.१२)

उपर्युक्त विशाल दृश्य को ही निम्नलिखित पद्य में दूसरे ढंग से प्रस्तुत किया गया है जिसमें विवरण की स्वल्पता के बावजूद एक गहरी प्रभावोत्पादकता का गुण है :

पुरस्ताद् दृश्या ते तरुपरिवृतेयं गिरिणदी
स्थिता मध्येशैलद्वयमविरलाम्भोरयवती ।
तटिन्यामेतस्यामनुभवितुमानन्दमधिक
कदाचिन्मद्भर्ता किल दयितयायात् सह मया ।। (१०.२७)

वर्णनात्मक कला के साथ-साथ काव्य में घटनाओं को संवादात्मक रूप में प्रस्तुत करने का अद्वितीय कौशल भी है जिसके फलस्वरूप काव्य में जहाँ-तहाँ नाटकीय स्थिति उत्पन्न हो गई है। ऐसे प्रभावशाली संवाद का सुन्दर उदाहरण हमें नवें सर्ग में प्राप्त होता है जहाँ सेनापति की पत्नी के प्रति अपनी अनुचित काम-भावना के लिए पश्चात्ताप से परिपूर्ण राजा शिबि और अपने व्याकुल स्वामी के मानसिक परितोष के लिए अपनी पत्नी का भी उपहार करने को तत्पर सेनापति के बीच मार्मिक वार्तालाप का क्रम चलता है। ऐसा ही प्रभावशाली संवाद कृषक परिवार के रूप में बोधिसत्त्व परिवार के अद्भुत आत्मसंयम का निरीक्षण करने धरा पर अवतरित इन्द्र और उक्त कृषक परिवार के आत्मविश्वासी सदस्यों के बीच चलता है जिसे कवि ने पूर्ण काव्य-कौशल के साथ प्रस्तुत किया है।

काव्य की वर्ण्य वस्तु चूंकि मानवीय चरित्र और व्यवहार का उदात्त एवं उत्कृष्ट पक्ष है, इसलिए समस्त काव्य में नैतिक स्वर की अनिवार्यतः प्रधानता है। स्थान-स्थान पर इसमें सुन्दर शिक्षाप्रद पद्य हैं जिनमें चित्त को प्रभावित करने की अपूर्व क्षमता है। अहिंसा का सिद्धान्त, जो बौद्ध धर्म के नैतिक पक्ष का सर्वोच्च अंग है, निम्नलिखित श्लोकों में प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया गया है :

हिंसैव वर्धते बह्वो हिंसकं प्रति हिंसया ।
सुखमात्यन्तिकं लब्धुमहिंसैव गरीयसी ।।
शान्त्या प्रशमयेत् क्रोधं सलिलेनेव पावकम् ।
चित्तं प्रसादयेद् धीमान् सर्वभूतानुकम्पया ।। (३.८०-१)

कहीं-कहीं (यथा ६.२०-३२, ४०-३) लम्बे उपदेशात्मक प्रसंग भी हैं, परन्तु उन्हें मूल घटना-क्रम से इस प्रकार सुगुम्फित करके प्रस्तुत किया गया है कि उनमें नीरसता नहीं आने पाती। किसी सुन्दरी के सौन्दर्य-जाल में फँस कर तपस्या के मार्ग से भ्रष्ट हुए भिक्षु को उसके दूसरे साथी इन शब्दों में उद्बोधित करते हैं :

आपातरम्या विषयाः स्फुरन्तः समन्ततोऽन्ते परितापयन्ति ।
न बुद्धिमांस्तेष्वधिकं रमेत सुदुस्त्यजांस्तान्न च रोचयेत ।।
ज्वलत्स्फुलिंगाः प्रदहन्ति कामं तृणोल्मुका यान्त्यचिरादपायम् ।
स्वप्नोपमाः सन्ति घनान्धकाराः कामादयोऽनिष्टकरा विकाराः ।।
(६.२७,२९)

निम्नलिखित पद्य भगवद्गीता में विचलितचित्त अर्जुन को भगवान् कृष्ण द्वारा दिए गए प्रेरणाप्रद उपदेश की, कथ्य और कथन प्रकार दोनों दृष्टियों से, याद दिलाते हैं :

निसर्गतश्चेतसि संस्थितानां पदे-पदे चानुभवं गतानाम् ।
शक्यं न विज्ञैरपि वासनानां समूलमुन्मूलनमत्र कर्तुम् ।।

× × × ×

अतो मनश्चञ्चलमस्थिरं सद् यदापि यस्मिन् विषयेऽपि यायात् ।
तदा ततस्तत्प्रसभं निरुध्य समादधीतात्मनि सर्वदैव ।।

× × × ×

कामस्य वेगं बलवन्निगृह्य त्वं नित्यसत्त्वस्थ इहाश्रमे स्याः ।
वशीकृते चेतसि सर्वकालं शान्तः स्वयं मोक्ष्यसि मोहजालम् ।।
(६.४०,४२,४४)

कवि कभी-कभी उपदेशपूर्ण अंशों को पूर्ण विस्तार के साथ प्रस्तुत करता है; ऐसे स्थलों में वह जीवन के उदात्त गुणों का विपुल व्याख्यान करने को उत्सुक प्रतीत होता है। परन्तु उसके उपदेशों में अधिक प्रभावपूर्णता वहां है जहां वह विश्वजनीन तथ्यों और नैतिक सत्यों का उद्‌घाटन करने में संक्षिप्त एवं सार-पूर्ण शैली से काम लेता है। यहां यह कहना आवश्यक है कि कवि अपनी कविता में ध्वन्यात्मकता को अधिक प्रश्रय देता है, और उसकी ध्वन्यात्मकता विशेष प्रभावपूर्ण है। यदि किसी बात पर विशेष बल देने के लिए वह पुनरावृत्ति अथवा विस्तार की ओर झुकता भी है तो उसका यह झुकाव सीमित मात्रा में ही होता है और फलतः पुनरावृत्ति या विस्तार उकताहट का कारण नहीं बन पाता। लोगों को मानव जीवन की क्षणभंगुरता और दुःखपरिपूर्णता का बलपूर्वक उपदेश देने के लिए कवि बोधिसत्त्व के माध्यम से कहता है :

ध्येयं समस्तजगतः क्षणभङ्गुरत्वं दुःखास्पदत्वमरसत्वमसुस्थिरत्वम् ।
प्रेयो विहाय परमार्थरताः प्रकामं श्रेयस्करं कुरुत कर्म गुणाभिरामम् ॥
लोकं विलोक्य सकलं क्षणदृष्टनष्टं वक्त्रे यमस्य निपतन्तमवाप्तकष्टम् ।
धीराः प्रमादरहिता विषयाप्रसक्ताः शान्ताः स्थिरा विचरतेह भवे विरक्ताः ॥
(१२. १३. ४)

इन शब्दों में पाठक को प्रभावित करने की सहज शक्ति है।

प्रस्तुत काव्य का एक प्रमुख गुण है इसकी परिष्कृत काव्यशैली। अलंकृत तथा मधुर-कोमल एवं कान्त पदावली इस शैली की मुख्य विशेषता है। कविता में यत्र-तत्र सुन्दर बिम्ब-योजना के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं; ये उदाहरण काव्य के अलंकार-विन्यास की शोभा हैं। नए तथा अनुकूल उपमान कवि की बिम्बयोजना के प्राण हैं। इन उपमानों का चयन कौशलपूर्ण ढंग से किया गया है, और ये प्रायः रूढ़-जर्जर परम्परा से हटकर आए हैं। कोसल-नरेश काशी के राज्य को, जिसका राजा एक कोमल हृदय व्यक्ति है, नवनीत और मधु के समान सुग्राह्य और सुस्वाद्य समझना है (३.३९)। सिकता के गर्त में बन्दी बनाया गया काशी नरेश सिकता-समूह में से इस प्रकार बाहर निकलता है जैसे पवन से झकझोरे गए बादल के पीछे से चांद प्रकट होता है :

गर्तस्योपर्यवष्टभ्य हस्तयुग्मं महाबलः ।
नचिरात्पवनध्वस्तमेघाच्चन्द्र इवोद्गतः ॥ (४.३७)

अन्यत्र कवि ने किसी रमणी के लावण्यपूर्ण अंगों में आरूढ़ कामदेव द्वारा आहत बौद्ध भिक्षु की तुलना ऐसे मृग से की है जो मधुर संगीत के लय में खो

कर शिकारी के बाणों से घायल हो जाता है (६.५)। पारंपरिक उपमान भी, जहाँ कहीं वे आए हैं, काव्य-सौंदर्य से विहीन नहीं हैं; इसका कारण यह है कि उन्हें नया रूप और नया अर्थ दिया गया है। उदाहरणार्थ, उन्मदन्ती के निम्न वर्णन में चार उपयुक्त उपमानों की सहायता से उसके रूप-लावण्य का परिपूर्ण चित्र अंकित कर दिया गया है:

सौदामनीवाश्रितचन्द्रशाला
लावण्यवस्युत्पलिनीव बाला।
प्रसन्नपूर्णेन्दुमतीव राका
समुज्ज्वलद्दीपशिखेव सा का॥ (८.५०)

चाहे यहाँ प्रयुक्त उपमान पारंपरिक हैं, तथापि उन्हें नई रूपसज्जा में प्रस्तुत किया गया है।

कालिदास और भारवि की कविता की उदात्त और प्रसादपूर्ण शैली की याद दिलाने वाले प्रस्तुत काव्य में अन्य अलंकार भी यथावसर आए हैं जो इस के अभिव्यक्ति-पक्ष को शोभान्वित करते हैं। ऐसे अलंकारों में अर्थान्तरन्यास प्रमुख है। वर्ण्यवस्तु में घटनाओं के क्रम को सामान्य कथन से समर्थित करने के लिए कवि ने उपयुक्त और प्रभावोत्पादक ढंग से उक्त अलंकार का प्रयोग किया है। महाराज शिबि द्वारा उन्मदन्ती के गुणों का परीक्षण करने के लिए नियुक्त ब्राह्मण उस अनुपम सुन्दरी को देखकर अपनी बुद्धि और निर्णय-शक्ति खो बैठते हैं, क्योंकि, जैसा कि कवि ने इसके समर्थन में कहा है, काम भावना से उत्पन्न विकार विवेकी व्यक्ति के मन को भी विक्षुब्ध कर देता है:

नष्टो विवेकः सकलोऽपि तेषां द्विजन्मनां कामवशं गतानाम्।
उन्मादयत्येव विवेकिनोऽपि कष्टो विकारः खलु कामजन्यः॥(७.२२)

प्रस्तुत काव्य का सर्वाधिक आकर्षक गुण उसकी पदावली है जो सर्वत्र अलंकारों से सुसज्जित और प्रायः सम तथा एकरस है। उसमें वैषम्य अथवा ऊबड़खाबड़पन शायद ही कहीं है। उसके भाव लालित्यपूर्ण अभिव्यक्ति से समलंकृत हैं एवं उसकी अभिव्यक्ति का लालित्य शब्द-योजना के संगीतपूर्ण प्रभाव की उपज है। शब्दों की यह योजना परिश्रम-पूर्वक और सुरुचिपूर्ण ढंग से की गई है। कवि नाद सौंदर्य के प्रति सर्वत्र सचेत है; उसने वाक्यों और वाक्यांशों को इस रूप में ढाल कर प्रस्तुत किया है कि उनका मन पर संगीतात्मक प्रभाव पड़ता है। कालिदास और दण्डी के काव्य के समान उसकी कविता में हमें स्थान-स्थान पर पदलालित्य के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। ऐसे कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं—

१. पुरःसरस्य प्रचुरप्रचाराः समुल्लसन्त्यध्वनि वारिधाराः। (१.५४)
२. स तत्र भूयांसमलब्ध लाभं सार्थस्य सार्थस्य समृद्धिमारत्। (१.१००)
३. सत्स्वभावात्सदाचारात् सद्विचाराच्च सर्वथा। (३.१०)
४. अहिंसाया इवादर्शं दर्शं दर्शमनुत्तमम्। (३. १०२)
५. शयितोऽसंशयं शय्यामधिशय्य दुराशयः॥ (४.८२)
६. दयावताऽवता लोकान् मदिच्छाऽपूरि सूरिणा। (४.१०३)
७. इति स्पष्टमाख्येयमार्ये निवार्ये विचार्ये च कार्ये भवेन्नैव दोषः। (५.१२)
८. तस्मादकस्मादुदितादमुष्मात्पापात्समस्माद्विरमाशु भिक्षो। (६.३२)
९. इभ्यस्य सभ्यस्य मतस्य तस्य गेहेऽजनि श्रीरिव कन्यकैका। (७.९)
१०. तदोन्मदन्ती कलिकाग्रदन्ती रतिं हसन्ती हृदयं हरन्ती। (७.१३)
११. क्षणो न स्याद्यस्यां क्षणमपि तया किं क्षणदया। (१०.३८)
१२. वयोवृद्धैः सिद्धैर्निगमपरिशुद्धैरविकलं
तथादिष्टं दिष्टं सुखमयमभीष्टं च सकलम्॥ (११.२)
१३. इति समुदमुदारां वाचमाचम्य राजा। (१३.९८)

अन्त्यानुप्रास या तुक के मनोहारी उपयोग द्वारा भी कवि संगीतात्मक प्रभाव उत्पन्न करने में सफल हुआ है। इस अलंकरण-साधन का उपयोग प्राचीन संस्कृत कविता में प्रायः नहीं हुआ है। प्रस्तुत काव्य के लेखक ने अनुप्रास की इस विरल विधा का अपने काव्य के बारहवें एवं तेरहवें सर्ग में एवं अन्य सर्गों में जहाँ-तहाँ सफल प्रयोग किया है। इस क्षेत्र में कवि की सफलता का कारण संस्कृत भाषा एवं उसके अक्षय्य कोश पर उसका परिपूर्ण अधिकार है। उसकी तुकांत कविता के कुछ उदाहरण यहाँ दिए जाते हैं; इनमें तुक प्रयोग से पदावली के संगीतात्मक सौंदर्य में अभिवृद्धि हुई है :

१. मया हि दृष्टा रमणी प्रकृष्टा विशिष्टलावण्यमयी प्रहृष्टा।
अविप्रकृष्टेऽत्र पुरे निविष्टा सैवास्त्यभीष्टा हृदि मे प्रविष्टा॥
(६.१२)

२. पुत्रोऽस्ति मे प्रियतरोऽयमनिन्द्यवृत्तः
क्षेत्रे स्वयं यमिह दग्धुमहं प्रवृत्तः।
प्राणाधिकः प्रियतमो बहुधा हितोऽयं
यस्मिन्मृते पितृषु मेऽवसितं हि तोयम्॥ (१२.४६)

३. स्वधनिकमनिकेतं सर्वथार्थादपेतं
परनगरमुपेतं वीक्ष्य भार्यासमेतम्।
मनसि सकलदासाश्चिन्तयामासुरेवं
कथमपि विषमस्थं प्रोद्धरामात्र देवम्॥ (१३.७२)

कहीं-कहीं कवि ने यमक का भी सुन्दर और सफल प्रयोग किया है; इसके लिए उसने शब्दों में तोड़मरोड़ प्राय: नहीं की है। यमक के कतिपय सुन्दर उदाहरण हैं: सुहृदहं हृदहंकृतिवर्जित: (४.११०), स्निग्ध: सङ्कसम: सम: समयविन्नित्यं भवेत् प्रीतिमान् (१३.१०३) और अनया विनयाश्रयणे श्रमणे रुचिरा रुचिरारचिता नचिरात् (६.५६)।

ये उद्धरण अपने श्रुतिसुखद संगीतात्मक गुण के कारण आकर्षक हैं। यमक का एक मनोहर उदाहरण निम्नलिखित पद्य भी है जिसे कवि ने अपनी दूसरी रचना गुरुगोविन्दसिंहचरित (१.८६) में भी अवसरानुकूल विन्यस्त किया है :

स मुदितो मुदितो नृपतिर्गुणै:
सुरहितो रहितो निखिलैर्मलै: ।
अविकलं विकलङ्कमिहोज्ज्वलं
रसमयं समयं गमयन्नभात् ।। (६.५५)

प्रसाद गुण, जो सुगुंफित पद-योजना का प्राण है, प्रस्तुत काव्य में सीधी वाक्य-योजना के फलस्वरूप आया है। इस गुण के प्रयोग द्वारा काव्य में स्वाभाविकता आ गई है। निम्नलिखित पद्य उसकी स्वाभाविक वाक्य-योजना एवं उसके फलस्वरूप उत्पन्न अभिव्यक्ति की प्रासादिकता के सुन्दर उदाहरण हैं :

१. व्यामोहमापादयितुं प्रयुक्तं वचोऽदसीयं वितथं प्रतीत ।
एतादृशा दुष्टधियो विरूपा: प्रच्छन्नपापा विचरन्त्यरण्ये ।।(१.८५)

२. अयोऽमी प्रदातुं त्वया चेन्न शक्या-
स्तत: किं प्रकुर्यामहं मन्दभाग्या ।
यदि त्वं प्रसन्नोऽसि हे भूपते तन्
मदीयं प्रियं भ्रातरं संप्रयच्छ ।। (५.१७)

३. श्रीकोसलेशो विदितात्मदोषो
भूत्वा विशेषेण निरस्तरोष: ।
स्त्रीतल्लजाया निजवल्लभाया:
श्रीमल्लिकाया: प्रणयी बभूव ।। (११.२२)

कवि की कविता में भाषा का स्वाभाविक प्रवाह है जो शब्दों और वाक्यांशों की समरसता से उत्पन्न होता है। यह स्वाभाविक प्रवाह उसकी पद-योजना का मुख्य गुण है। कविता में कहीं भी बन्धवैषम्य अथवा पद-योजना में कहीं भी ऊबड़खाबड़पन नहीं है। कविता समतल भूमि में बहने

वाली नदी की भाँति समगति से बह रही है। ऐसी समगति से प्रवाहित होने वाली कविता की कुछ पंक्तियाँ निम्नलिखित हैं :

(१) अथ ब्रह्मदत्तेन पृष्टा पुनः सा पतिं वाञ्छसि त्वं किमाच्छादनं स्वम् ।
अवादीदसावेवमेवं हि देव स्वमाच्छादनं कामयेऽहं पतिं भोः ।। (५.१०)

(२) म्लानं मनोऽभून्मलिना मनीषा तेजोऽखिलं चाजरदिन्द्रियाणाम् ।
रागातिरेकेण तदेकवृत्तेर्ध्वस्ता समस्तात्मपवित्रताऽपि ।। (६.७)

सुनियोजित वाक्यांश रचना के प्रति कवि का विशेष आग्रह है जिसके कारण उसने अपनी परिष्कृत पदशय्या में बीच-बीच में संस्कृत के महान् कवियों की कविता से लिए गए सुन्दर वाक्यांशरत्न जड़े हैं। उसकी कविता में हमें उपनिषदों एवं रामायण और महाभारत के अतिरिक्त कालिदास, भारवि, दण्डी, भवभूति आदि कवियों की कविता की सुखद छाया प्राप्त होती है। उसकी कविता में प्राचीन काव्यों से लिए गए सूक्तिरत्न इस प्रकार मनोहारी ढंग से जटित हैं कि उनकी शोभा प्रस्तुत काव्य की शोभा के साथ एकरूप हो गई है। ऐसे कतिपय पद्य नीचे दिए जाते हैं जिनमें जटित प्राचीन सूक्तिरत्न आसानी से पहचाने जा सकते हैं :

(१) अयमात्मैव सर्वत्र मन्तव्यः सततातत: ।
द्रष्टव्यः श्रवणीयश्च विज्ञेय इति मे मतम् ।। (४.१८)

(२) न तितिक्षासमं किंचिदस्ति साधनमुत्तमम् । (४.९०)

(३) आततायिनमायान्तं किं न हन्याम तं वयम् । (३.७४)

(४) संसिद्धिः खलु कर्मणैव कथिता स्यान्नामवेयेन किम् । (१४.३५)

(५) वीतशोकभयक्रोधः स्थिरधीर्मुनिराडिव । (३. १०४)

(६) कामात्मता नैव मता प्रशस्तेत्यतोऽस्य कामस्य वधं करिष्ये ।। (९.१७)

(७) परं तं न पश्यामि देशं नु यस्मिन्नहं प्राप्नुयां सोदरं भ्रातरं स्वम् ।। (५.२२)

(८) सारं ग्राह्यमपास्य फल्गु सकलं नामादि दृश्यं जगत् । (१४.९)

(९) निरस्तधैर्योऽहमुदीर्णरागः स्मरामि तामेव पुरः स्फुरन्तीम् ।
कामी स्वतां पश्यति सत्यमुक्तं कामातुराणां न भयं न लज्जा ।। (६.१७)

(१०) मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ... (१.५७, ८.४०)

(११) प्रलोभिता भूरि सुखैषणाभिः कष्टैरनिष्टैः परिवेष्टिता वा ।

कल्याणहेतुं सुविनिश्चितार्थं धीराः स्वमार्गं न परित्यजन्ति ॥[1]
(६.१०)

(१२) विकारहेतौ न विकुर्वते ये धन्यास्त एवात्र समुल्लसन्ति ॥ (६.४३)

(१३) यस्योदये सर्वदिशः प्रसेदुर्ववुः सुखा गन्धवहाश्च भूयः ।[2] (१.५)

(१४) विना विचारं मतिमान्मनुष्यः कदापि कार्यं सहसा न कुर्यात् ।
विनिन्द्यमुक्तं विपदां पदं तद् दुःख्यत्यवश्यं ह्यविमृश्यकारी ॥
(६.३७)

(१५) वियोगोऽसह्योऽसौ स्मृतिपथमुपेतो मनसि नो
गरीयः संतापं जनयति च संमोहयति च ॥ (१०.२५)

कवि की भाषा का एक पक्ष विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है और वह है भाषा में व्याकरण-सम्बन्धी सूक्ष्मताओं का संनिवेश जिससे उसकी कविता पाण्डित्य-गरिमा से सम्पन्न हो गई है और उसमें एक अपूर्व दीप्ति आ गई है। कवि की प्रतिभा और व्युत्पत्ति मूलतः व्याकरणोन्मुख है। उसे संस्कृत भाषा के व्याकरण से उतना ही प्रेम है जितना स्वयं उस भाषा से। सम्भवतः यही कारण है कि वह बहुत देर तक एक को दूसरे से अलग नहीं रख सकता। व्याकरण के प्रति उसका प्रेम कहीं-कहीं अत्यन्त विशिष्ट रूप में आया है। परन्तु ऐसा केवल एक सीमा तक ही हुआ है। इस प्रकार उसका काव्य भट्टि कृत 'रावण-वध' के समान व्याकरण-शास्त्र का उदाहरण-ग्रन्थ मात्र न रहकर वास्तविक काव्य का उत्तम निदर्शन बन सका है जिसमें शब्द-शास्त्र भाषा के सौन्दर्य और गौरव को बढ़ाने के लिए आया है, उसे धुंधला करने नहीं। व्याकरण-सम्बन्धी सूक्ष्म नियमों को एक बार समझ लेने के बाद हम उसकी कविता में प्रयुक्त तत्सम्बन्धी विशिष्टताओं के चमत्कार से द्विगुणित रूप में प्रभावित और प्रमुदित होते हैं। कवि कुछ ऐसे प्रयोगों को सफलता-पूर्ण ढंग से अपनी रचना में समाविष्ट करता है जो इसके पूर्व सम्भवतः व्याकरण के ही ग्रन्थों के किन्हीं अज्ञात कोनों में पड़े थे और साहित्य में जिनके प्रयोग की सुन्दर सम्भावनाओं पर किसी का ध्यान नहीं गया था। कुछ ऐसे व्याकरणिक रूप और प्रयोग जो इस काव्य में बरबस हमारा ध्यान खींचते हैं निम्नलिखित हैं: अपीप्यत् (१०.३), अपपारम् (१०.३६), अशीलि, सम-मीलि (१३.१००), चञ्चूर्यमाण (१.६४), पाट्टपट (३.३६), अटाट्यमान (६.२), बोभवीति (१.८१), बम्भ्रम्यते (१.७३), रोरूयांचक्रे (३.१२७),

---

१. गुरुगोविन्दसिंहचरित (४.६६) में भी सुन्दर ढंग से जटित।

२. तु० गुरुगोविन्दसिंहचरित १.१५ भी।

वरीवृतीति एवं तन्तनीति (६.२५), भ्रातृकाम्यामि (५.२१), समयाकुर्यात् (३.१३), राजीचिकीर्षु : (१३ ९७)।

काव्य में प्रयुक्त कुछ अन्य रूप कतिपय विशिष्ट व्याकरणिक नियमों की ओर हमें ले जाते हैं, जिनका भाषा में सुन्दर प्रयोग देखकर हम आनन्दित हो उठते हैं। ऐसे कुछ रूप और प्रयोग इस प्रकार हैं : अविसंष्ठुल (१.२५), विशङ्कट (१.३४), कुमारश्रमणा (६.३), आढ्यंकरण (८.३), सहस्रणं एवं अक्षशौण्ड (८.७४), पून (६.४०), आत्मनीन (९.५४), कर्मन्दिन् (६.१९), स्थेमन् (११.३), भूजानि (११.१६), कडंगर्य (१३.४२), सौहृदय्य (१३.७४), माणवीन (१३.३४), मल्लीमतल्ली (९.२७)।

एक स्थान पर कवि ने पापक की कथा में पाणिनि के दो नियमों 'आशिषि च' (३.१.१५०) और 'कुत्सिते' (५.३.७४) का जीवक शब्द के दो विभिन्न अर्थ बताने के लिए उल्लेख किया है। पाणिनि के पूर्व उल्लिखित सूत्र के अनुसार जीवक का अर्थ होगा 'चिरंजीवी' और दूसरे सूत्र के अनुसार अर्थ होगा 'कुत्सित अथवा निकृष्ट जीव'।

कहीं-कहीं लेखक ने साहित्य में विरल रूप में प्रयुक्त शब्दों का प्रयोग किया है। इनका उल्लेख किसी-किसी कोश ग्रन्थ में ही प्राप्त होता है। ऐसे शब्द हैं : आभील (३.९०), मङ्क्षु (३.५१, ८.४५, १४.३०), भावुक (=कल्याण अथवा संपत्ति); (८ १०२), वियाता (८.८३), अय (१२.७, १३ ६५), निर्व्ययनी (१२.४८), अकपूय (१३.९८)। कुछ प्रयोग हमें वैदिक भाषा की शब्दावली की ओर ले जाते हैं; जैसे—तृष्णक् (१.३८), रथेष्ठा (१.४६), तोक (१२.३५), अपचिति (१३.८७), सत्रा (१.१६,९७)।

कवि अनुष्टुभ् जैसे छोटे छन्दों और शार्दूलविक्रीडित जैसे लम्बे छन्दों के प्रयोग में समान रूप से सफल है, यद्यपि सामान्यतः उसका आग्रह मध्यम आकार के छन्दों, जैसे उपजाति (प्रथम, द्वितीय ६५-७, षष्ठ से नवम, एकादश २०-३, द्वादश ६१-२, चतुर्दश ३९-४४), रथोद्धता (द्वितीय सर्ग) और भुजंगप्रयात (पंचम सर्ग) के लिए है। उसके द्वारा प्रयुक्त अन्य छन्द हैं शिखरिणी (दशम, एकादश सर्ग) वसन्ततिलक (नवम ५२-४, द्वादश सर्ग) और मालिनी (द्वितीय ६१-४, पंचम ३७, त्रयोदश सर्ग)। इनके अतिरिक्त हम द्रुतविलम्बित (६.११०, ८.११०, ९.५५) तोटक (४.११२), रुचिरा ९.५६-७), स्वागता (१३.९९-१००, १४.४५) और मन्दाक्रान्ता १४.३७-८) छन्दों का सफल प्रयोग भी पाते हैं।

कुल मिलाकर श्रीबोधिसत्त्वचरित भारतीय संस्कृति की एक प्राचीन गौरवगाथा को नए युग में नए रूप में प्रस्तुत करने का एक सफल प्रयास है। इस

प्रस्तुतीकरण के माध्यम के रूप में प्रयुक्त भाषा पाणिनि जितनी पुरानी होती हुई भी आज की किसी भी भाषा के समान नई ताज़गी से युक्त है। यह काव्य लिखकर कवि ने सामान्य रूप से भारतीय संस्कृति और विशेषत: बौद्ध धर्म के उच्चतम आदर्शों को सशक्त अभिव्यक्ति दी है। इस काव्य के माध्यम से उसने अपने लिये संस्कृत के सर्जनाशील लेखकों की पंक्ति में सम्मानपूर्ण स्थान बना लिया है। यदि एक विद्वान् के रूप में उससे हमें बड़ी आशाएं हैं तो एक कवि के रूप में उससे हमारी आशाएं और अधिक बलवती कही जा सकती हैं। संस्कृत जगत् को कविता के क्षेत्र में उसकी उपलब्धियों पर सकारण गर्व है।

अन्त में हम इस गम्भीर विद्वान् और मधुर कवि को उसी के अपने शब्दों में (कुछ परिवर्तन के साथ) यह शुभ कामना अर्पित करते हैं—

प्राप्तोत्तमप्रकृतिचारुविशिष्टदेवाः
सत्यव्रता विहितवृद्धजनोपसेवाः ।
विद्यागमं स्थिरसुखप्रदमाश्रयध्वं
हृद्य कवेस्तदमृतं च पदं लभध्वम् ।। (१२.८८)

अथ

श्रीबोधिसत्त्वचरितम्

प्रथमः सर्गः

शास्तेति नाम्ना प्रथितो महात्मा
बुद्धः प्रबुद्धो जनताहिताय ।
प्राग्जन्मवृत्तान्तकथास्तदीया
गीर्वाणवाण्या समुदीरयामि ॥ १ ॥

१. लोक-कल्याण के लिए सदा जागरूक तथा शास्तृ के नाम से प्रसिद्ध महात्मा बुद्ध के पूर्वजन्म की चरितगाथाओं को मैं देववाणी संस्कृत में निबद्ध करता हूँ।

काश्यां पुरा राज्यमलङ्करिष्णुः
श्रीब्रह्मदत्तो नृपतिर्बभूव ।
सम्यक्प्रजापालनशिक्षणाद्यैः
ख्यातिं गतो यः किल सद्गुणौघैः ॥ २ ॥

२. प्राचीन समय में काशी के शासन को सुशोभित करने वाले ब्रह्मदत्त नामक एक राजा हुए। प्रजा का सुचारु रूप से पालन एवं शिक्षण आदि अनेक सद्गुणों के कारण उन्होंने ख्याति अर्जित की।

प्रशासतस्तस्य भुवं यथावत्
पञ्चापि भूतानि शिवं वितेनुः ।
ब्रह्मेव सृष्टेरधिपः प्रजानां
रराज राजा स उदारकीर्तिः ॥ ३ ॥

३. विधिपूर्वक राज्य के प्रशासन में तत्पर उनके [राज्य में] पंचमहाभूतों—पृथ्वी-जल-तेज-वायु-आकाश—ने सुख का विस्तार किया। वह प्रजापालक एवं उदार कीर्ति राजा [ब्रह्मदत्त] सृष्टि-विधाता ब्रह्मा के समान शोभा को प्राप्त हुए।

वाराणसी तस्य पुरी प्रसिद्धा
बभौ भृशं लोचनलोभनीया ।
अदभ्रमभ्रंलिहमास्त यस्यां
गृहे गृहे वैभवमद्वितीयम् ।। ४ ।।

४. उन की वह प्रसिद्ध वाराणसी (काशी) नामक नगरी (दर्शकों के) नेत्रों को सुतरां लुभाने वाली थी। जहां घर-घर में व्याप्त विपुल एवं अपूर्व वैभव आकाश को (अक्षरार्थ-बादलों को) छूने वाला था।

श्रीबोधिसत्त्वो भगवान् महात्मा
वैश्यस्य कस्यापि गृहे प्रजज्ञे ।
यज्जन्मना सर्वदिशः प्रसेदु-
र्ववुः सुखा गन्धवहाश्च भूयः ।। ५ ।।

५. महात्मा बोधिसत्त्व ने उस नगरी में एक वैश्य के घर जन्म लिया। उन के जन्म-समय पर सभी दिशाएं निर्मल हो गईं और सुखद हवाएं बहने लगीं।

स वर्धमानोऽर्यगृहे वपुष्मान्
क्रमेण लोकव्यवहारदृश्वा ।
युवा कुमारः प्रतिबुद्धतत्त्वः
श्रीबोधिसत्त्वो हि विराजते स्म ।। ६ ।।

६. उन वैश्य के घर में वय बढ़ने के साथ-साथ नवयुवक कुमार बोधिसत्त्व का शरीर सुपुष्ट होने लगा और वे तत्त्वज्ञानी [कुमार] शनैः शनैः लोकव्यवहार में निपुण हो कर शोभा पाने लगे।

बहूनि वर्षाणि यदा व्यतीयु-
र्व्यापारमारब्धवतः सतोऽस्य ।
स्वजीविकालाभमुदीक्षमाणः
सुधीरसावित्थमवालुलोचत् ।। ७ ।।

७. व्यापार का काम करते हुए जब उन सत्पुरुष को बहुत वर्ष बीत गये तब उन मतिमान् ने अपनी जीविका में लाभ की इच्छा से इस प्रकार विचार किया :

दूरप्रदेशे गमनं विधाय
क्रियेत वाणिज्यमिदं मया चेत् ।
स्याद् भूयसी द्रव्यविशेषसिद्धि-
र्लभ्येत देशाटनजं च सौख्यम् ।। ८ ।।

८. यदि मैं किसी सुदूर प्रदेश में जाकर यही व्यापार का काम करूं तो इस से मुझे पुष्कल-सम्पत्ति-लाभ होगा और देशाटन का सुख भी मिलेगा।

इत्येव वित्तोपचयाभ्युपायं
विचार्य पण्यानि समग्रहीत्सः ।
शतैः पुनः पञ्चभिरुक्षयानै-
रारादुभवं गन्तुमियेष देशम् ॥ ९ ॥

९. यही धन-संवर्धन का श्रेष्ठ उपाय है यह सोच कर उन्होंने पण्य (विक्रय योग्य) वस्तुओं का संग्रह कर लिया और पांच सौ बैल गाड़ियां लेकर एक दूरवर्ती देश में जाने का निश्चय किया ।

सार्थेन साकं महता यदासौ
प्रस्थातुकामोऽभवदर्थलीप्सुः ।
तदैव कश्चिद्द वणिगात्मजो ऽन्यो
यानैः शतैः पञ्चभिरेतुमैच्छत् ॥१०॥

१०. धनोपार्जन की इच्छा से बोधिसत्त्व जब एक बड़ा दल (काफिला) लेकर प्रस्थान के लिए उद्यत हो रहे थे तभी एक अन्य वणिक् पुत्र भी पांच सौ बैल गाड़ियां लेकर यात्रा का उपक्रम करने लगा ।

महार्हवस्तून्यहमाददीये-
त्यभून्मतिः सार्थयुतस्य तस्य ।
सङ्गृह्य पण्यं विविधं स यत्नाद्
इष्टार्थलाभाय यियासुरासीत् ॥ ११ ॥

११. अपने दल (काफिले) के साथ जाने वाले उस वणिक् पुत्र ने बहुमूल्य पदार्थों के संग्रह करने का विचार किया क्योंकि वह यत्नपूर्वक अनेक प्रकार की पण्य-वस्तुएं एकत्रित कर यथेष्ट धन-लाभ के उद्देश्य से जाना चाहता था ।

समं प्रयास्यन्तममुं विलोक्य
श्रीबोधिसत्त्वोऽचिन्तदेवम् ।
सार्धं मयैवायमपि व्रजिष्यन्
यात्रान्तरायो भवितेति मन्ये ॥ १२ ॥

१२. बोधिसत्त्व ने साथ-साथ उसे जाने को उद्यत देखकर इस प्रकार विचार किया कि निश्चय ही मेरे साथ जाने का इच्छुक यह वणिक्-सुत मेरी यात्रा में विघ्न रूप सिद्ध होगा ।

न वर्त्म पर्याप्तमिदं सहैव
द्वयस्य यात्रार्थमसम्भवित्वात् ।
सङ्कीर्णमार्गेण कथं सहस्रा-
ण्येष्यन्ति यानानि निराकुलानि ॥ १३ ॥

१३. एक साथ दोनों की यात्रा सम्भव नहीं है, उसके लिए यह मार्ग

पर्याप्त नहीं है । इस संकीर्ण मार्ग से किस प्रकार हज़ारों यान निर्बाध चलेंगे ?

विधीयते चेद् युगपत् प्रयाणं
कदापि नादो भवति प्रमाणम् ।
पन्था ह्यणीयान् सुगमो न जातु
भूयान् कथं यात्रिगणः प्रयातु ॥ १४ ॥

१४. एक साथ यात्रा करना किसी भी तरह युक्तिसंगत नहीं । क्योंकि मार्ग संकीर्ण होने से कदापि सुगम नहीं है । इतने अधिक यात्री किस प्रकार [एक साथ] चलेंगे ?

भोज्यं जनानां यवसं वृषाणां
समं प्रयाणेन विमर्दितं स्यात् ।
भवेन्न किञ्चित्सुखमात्मलभ्यं
जलान्नकाष्ठादिकमाकुलीस्यात् ॥ १५ ॥

१५. यात्रियों का पाथेय और बैलों का खाद्य (चारा) इस सह-यात्रा से भ्रष्ट हो जाएगा । जल-अन्न-काष्ठ आदि [उप भोग्य] वस्तुओं के [प्रबन्ध के] अस्त व्यस्त हो जाने के कारण हमें किञ्चिन्मात्र भी सुख नहीं मिलेगा ।

एवं विविञ्चन् स सदात्तबुद्धिः
तमर्थमर्योक्तिजमाबभाषे ।
विधीयतामार्य ! विचार्य कार्यं
यात्रा न सत्रात्र हिताय नौ स्यात् ॥ १६॥

१६. [वणिक् सुत] की [सह-यात्रा सम्बन्धी] बात पर विचार करके सदा विवेक सम्पन्न बोधिसत्त्व ने उसे कहा, आर्य ! आप सोच-विचार कर काम करें, क्योंकि सहयात्रा से हम दोनों का ही हित साधन नहीं होगा ।

न संभवो नौ युगपत्प्रयाणे
मार्गस्य सङ्कोचितयेति जाने ।
दृष्टा मयेह प्रतिपत्तिरिष्टा
या तामहं त्वामपि सूचयामि ॥ १७ ॥

१७. मैं जानता हूं कि मार्ग के संकीर्ण होने के कारण हम दोनों का एक साथ प्रयाण करना संभव नहीं होगा । इस का जो उत्तम उपाय मैंने सोचा है, इसे, तुम्हें भी बताता हूं ।

भवान् पुरस्ताद् व्रजतु प्रकामं
यायामहं वेति विविङ्ग्ध बन्धो ! ।
त्वं वेहि पश्चादथवाहमेमि
क्रमेण यानेऽस्ति न कोऽपि दोषः ॥ १८ ॥

१८. बन्धुवर ! इस पर आप अच्छी तरह सोच विचार लें कि आप [यात्रा पर] पहले जायें या मैं जाऊँ। पहले मैं जाऊं या आप, क्योंकि [एक साथ न जाकर] क्रम से जाने में कोई दोष नहीं है।

वणिक्सुतो विप्रतिपन्नचेतास्
तद्युक्तियुक्तं वचनं निशम्य।
विचारयामास पुरः प्रयाणे
लाभो महीयांस्तु भविष्यतीति॥ १९॥

१९. उस उल्टी बुद्धि वाले वणिक् सुत ने बोधिसत्त्व के युक्ति-युक्त वचनों को सुनकर विचार किया कि पहले जाने में ही मुझे महान् [अर्थ-] लाभ होगा।

यातास्मि वर्त्माऽप्रहतं सुखेन
प्राप्तास्मि पत्राण्यविमर्दितानि।
अत्स्यन्त्यनुच्छिष्टतृणं वृषा मे
स्वच्छं यथेच्छं सलिलं च लप्स्ये॥ २०॥

२०. 'मैं [किसी अन्य द्वारा] अक्षुण्ण (न चले हुए) मार्ग पर सुख से चलूंगा। [यात्रापथ में किसी के भी द्वारा] मर्दित न किये हुए पत्ते प्राप्त करूंगा। मेरे बैलों को अनुच्छिष्ट (किसी अन्य द्वारा अभुक्त) घास खाने को मिलेगा, और मैं यथेष्ट मात्रा में स्वच्छ जल प्राप्त करूंगा।

पण्यस्य मूल्यं प्रथमं ग्रहीष्ये
स्वेच्छानुकूलं क्रयविक्रयेण।
पूर्वं गतोऽहं ननु बोधिसत्त्वाल्
लाभान्वितः स्यामिति निश्चिनोमि॥२१॥

२१. यह निश्चित है कि बोधिसत्त्व से पहले जाकर मैं [अधिक] लाभ प्राप्त करूंगा और अपनी इच्छा के अनुकूल क्रय-विक्रय द्वारा विक्रेय वस्तुओं का प्रथम मूल्य (मनचाही कीमत) ग्रहण करूंगा।'

इत्थं विनिश्चित्य वणिक्तनूजः
स बोधिसत्त्वं गिरमुज्जगार।
पुरो गमिष्याम्यहमेव नूनं
द्रव्यं यतोमे भविता ह्यनूनम्॥२२॥

२२. इस प्रकार निश्चय करके वणिक्-पुत्र ने बोधिसत्त्व से कहा, 'पहले मैं ही जाऊंगा। क्योंकि इस से मुझे अधिक द्रव्य लाभ होगा'।

निपीय भूयो वचनं तदीयं
श्रीबोधिसत्त्वस्त्वचिचिन्तदेवम्।

यायात् पुरस्तादयमेव तावत्
मया तु पश्चाद् गमनीयमेव ॥२३॥

२३. उसकी बातें ध्यान से सुन कर वोधिसत्त्व ने विचार किया, पहले इसे ही जाने देना चाहिए। मैं तो बाद में ही जाऊंगा।

लाभः परस्ताद्गमनेऽस्ति भूयान्
न खेदमत्रानुभवामि किञ्चित्।
वाटाः समाः स्युर्विकटा अटव्यां
पुरा प्रयातुः शकटीभिरस्य ॥२४॥

२४. [क्योंकि] बाद में जाने में लाभ है। [वैश्यपुत्र के पहले जाने से] मुझे कोई दुःख नहीं है। प्रत्युत पहले जाने [के इच्छुक] इस की बैलगाड़ियों से बीहड वन के [विषम=ऊंचे-नीचे] मार्ग समान (समतल) हो जाएँगे।

अपिच्छिला सत्यविसंष्ठुलैवं
स्पष्टा भविष्यत्यखिला धरित्री।
उक्ष्णां नृणां चङ्क्रमणैर्निघृष्टो
भवेदनुद्घातसुखश्च पन्थाः ॥२५॥

२५. बैलों और मनुष्यों के संचरण से [वन की] धरती पंकहीन, समतल और स्वच्छ हो जायगी तथा मार्ग ऊबड़खाबड़ न होने से सुखकारक (सुगम) हो जाएगा।

तृणानि चात्स्यन्ति कठोरशुष्का-
ण्यग्रेसरास्तस्य वृषाश्च्युतानि।
पश्चाद्गता मे वृषभास्तु नूत्ना-
न्यास्वादयिष्यन्ति मृदूनि तानि ॥२६॥

२६. [यात्रा पर] आगे जाने वाले उस के बैल नीचे गिरे हुए कठोर एवं शुष्क तृण (घास) खाएगे, जबकि बाद में जाने वाले मेरे बैलों को नवीन एवं मृदु तृण (घास) खाने को मिलेंगे।

छिन्नप्ररूढानि नवानि पत्रा-
ण्याप्स्याम्यभीष्टानि च शाकहेतोः।
आस्वाद्य माधुर्यमयं त्वलभ्यं
तोयं तदुत्खातमहं लभेय ॥२७॥

२७. तोड़ लेने के बाद फिर उगे हुए, शाक बनाने के लिए अभीष्ट नये पत्ते मुझे प्राप्त होंगे और उस [वणिक्सुत] के द्वार खोदा हुआ स्वादु एवं मधुर दुर्लभ जल भी मुझे मिलेगा।

मया स्वयं प्राण्युपघाततुल्यं
निर्धारणीयं न च वस्तुमूल्यम् ।
एतद्विनिर्दिष्टपथा स्थितोऽहं
कर्तास्मि निश्चिन्ततया पणायाम् ॥२८॥

२८. मुझे प्राणिहिंसा के समान, वस्तुओं का [मनचाहा] मूल्य स्वयं निर्धारित नहीं करना पड़ेगा। उस [पूर्वगामी वणिक् पुत्र] के द्वारा सङ्केतित मार्ग पर स्थित होकर (निर्धारित मूल्यों पर स्थिर रहकर) मैं निश्चिन्तता से व्यापार करूंगा।

इत्याद्यनेकानुपलक्ष्य लाभान्
स बोधिसत्त्वो वणिजं न्यगादीत् ।
अहं प्रसीदामितमां निकामं
त्वमच्छ गच्छेह यथेच्छमग्रे ॥ २९ ॥

२९. इस प्रकार अनेक (संभव) लाभों का विचार कर बोधिसत्त्व ने वणिक् से कहा, हे भद्र ! आप स्वेच्छापूर्वक पहले जाइये। मुझे इससे बहुत प्रसन्नता होगी।

वणिक् तथास्त्वित्यभिधाय सद्यः
संनह्य गन्त्रीर्नगराच्चचाल ।
देशाच्च देशे पणनं स कुर्वन्
क्रमेण गत्वा मरुभूमिमाप ॥ ३० ॥

३०. वह वणिक् 'तथास्तु' कह कर और गाड़ियां तैयार कर शीघ्र नगर से चल पड़ा। [मार्ग में आनेवाले] एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में वस्तुओं का क्रय-विक्रय करता हुआ वह मरुभूमि में जा पहुँचा।

मरुस्थलीं तामविलङ्घ्य नासौ
गन्तुं प्रदेशान्तरमर्हति स्म ।
दृष्ट्वैव कान्तारभुवं वितोयां
प्रभूतभूताध्युषितामदुःख्यत् ॥ ३१ ॥

३१. उस मरुप्रदेश को पार किये बिना वह दूसरे प्रदेश में नहीं जा सकता था, किन्तु उस निर्जल एवं बहुत प्रकार के जीवों—हिंसक प्राणी, दस्यु आदि—से व्याकीर्ण कान्तार भूमि को देखते ही वह दुःखी हो गया।

कान्तारसंज्ञा निबिडाः प्रदेशाः
कष्टप्रदास्ते विविधं भवन्ति ।
पाटच्चरैः केचन हिंस्रजीवै-
रन्ये च भूतैः कृतसंनिवेशाः ॥ ३२ ॥

३२. 'कान्तार' संज्ञक घने प्रदेश अनेक प्रकार से कष्टदायी होते हैं। वहां पर कहीं तो डाकू, कहीं हिंसक प्राणी और कहीं अन्य जीव [प्रेत, राक्षस] आदि निवास करते हैं।

सन्तीदृशाः केऽपि च भूमिभागाः
जलस्य लेशोऽपि न यत्र लभ्यः।
भोज्यस्य तत्रास्ति कथैव का वा
प्रजापतेः सृष्टिरियं विचित्रा ॥ ३३ ॥

३३. [वहां] ऐसे भी कुछ भूभाग होते हैं, जहां जल का लेश भी नहीं मिलता। भोजन की तो बात ही क्या? सचमुच प्रजापति की सृष्टि विचित्र है!

अलभ्यभोज्यान्नजलं प्रदेशं
सुविस्तृतं षष्टिषु योजनेषु।
विशंकटं तत्र ससंकटं तं
निशाम्य वैश्यः स्थितिमाततान ॥ ३४ ॥

३४. खाद्यान्न तथा जलाभाव से पीडित, संकटपूर्ण एवं साठ योजन की दूरी तक फैली हुई उस विशाल मरुभूमि के विषय में सुनकर वणिक्पुत्र वहाँ रुक गया।

स्थूलेष्वनेकेषु महत्सु तूर्णं
यथेष्टमापूर्य जलं घटेषु।
तोयस्य खाद्यस्य कृतव्यवस्थः
ततः स कान्तारभुवं विवेश ॥ ३५ ॥

३५. उस ने शीघ्र ही अनेक बड़े-बड़े मटकों में पानी भर कर और जल और अन्न की व्यवस्था कर कान्तार— दुर्गम मरुभूमि—में प्रवेश किया।

निरन्तरं प्रान्तरमन्तरा यन्
यदा स मध्येऽटवि सम्प्रपेदे।
स्वमावृतं तत्र कृताधिवासै-
र्दैत्यैरदर्शद्बहुभिर्वणिक् सः ॥ ३६ ॥

३६. जब वह उस प्रदेश में निरंतर चलता हुआ मरु के मध्यभाग में पहुंचा, तब उसने वहां रहनेवाले बहुत से दैत्यों (राक्षसों) से अपने को घिरा हुआ पाया।

दुरासदैः सोपधिभिः समस्तै-
रुपेत्य तैर्दैत्यगणैरचिन्ति।
केनाप्युपायेन वणिक्तनूजं
विमोह्य खादेम वयं मुदेति ॥ ३७ ॥

३७. वे दुर्धर्ष तथा छली राक्षसगण मिल कर सोचने लगे कि किस प्रकार वणिक्पुत्र को धोखा देकर हम सानन्द इसे अपना भोज्य बनावें।

प्रभ्रंशयामो जलपूर्णकुम्भा-
नेतानशेषान् यदि वैश्यसूनोः।
तृष्णक् तदायं सलिलं विनैव
सामर्थ्यहीनो भविताऽचिरेण॥ ३८॥

३८. यदि हम [किसी प्रकार] इस वैश्यपुत्र के सभी जल पूरित कुम्भ गिरा दें, तो जल के अभाव में पिपासा-प्रपीडित होकर यह शीघ्र शक्ति-हीन हो जाएगा।

न चैव शक्ष्यत्यभियातुमग्रे
पश्चादलं स्यान्न निर्वतितुं वा।
तदास्मदायत्ततयाऽऽशु खाद्यो
भवेदयं युक्ततमोऽभ्युपायः॥ ३९॥

३९. [उस अशक्ति की दशा में] न तो यह आगे बढ़ सकेगा और न पीछे लौटने में समर्थ होगा। तब यह सर्वथा हमारे अधीन हो जाने से शीघ्र ही हमारा खाद्य बन सकता है। बस यही सर्वोत्तम उपाय हो सकता है।

विचिन्त्य दैत्याधिपतिर्यथोक्तं
मायाविधाने बहुशः पटीयान्।
श्वेतान् महोक्षान् रमणीययाने-
ष्वायोजयामास तदा स्वकीयान्॥ ४०॥

४०. उपर्युक्त प्रकार से सोचकर कपट में परम प्रवीण दैत्यराज ने सुन्दर गाड़ियों में अपने श्वेतवर्ण वाले श्रेष्ठ बैल जोड़ दिये।

तूणीरचर्मेष्वसनासिरूपा-
ण्यादत्त चत्वारि स आयुधानि।
मिथ्याजलक्लेदितकेशचैलो
ललास नीलोत्पलमालभारी॥ ४१॥

४१. वह तरकस, ढाल, धनुष तथा खड्ग इन चार मुख्य शस्त्रों को धारण कर के और अपने केश एवं वस्त्रों को [मायाजनित] कृत्रिम जल से गीला करके, नील कमलों की माला पहने शोभित होने लगा।

पङ्कोपलिप्तानि च यानचक्रा-
ण्यसावकार्षीत् कपटप्रवीणः।
सर्वं व्यवस्थाप्य रथस्थितः सन्
राजेव वैश्यं प्रति संप्रतस्थे॥ ४२॥

४२. उस कपट पटु दैत्यराज ने अपने यान (गाड़ी) के पहियों को कीचड़ से सान लिया। इस प्रकार सब ठीक-ठाक कर वह रथ में बैठ कर राजा के समान वैश्य की ओर चल पड़ा।

तद्भृत्यवर्गोऽपि तथाऽऽर्द्रवासाः
क्लिन्नालकः शुक्लसरोजमाली।
पङ्कोदबिन्दून् विसृजन्नुपायात्
मृणालमूलं रसयन्नुपायात् ॥ ४३ ॥

४३. उस के सेवक गण भी उसकी भांति गीले वस्त्र तथा भीगे केशों के साथ श्वेत कमलों की माला धारण किये हुए थे। वे युक्तिपूर्वक पंकिल जल की बूंदें गिराते हुए और मृणाल-सूत्र खाते हुए वहां पहुँचे।

सकैतवं प्रेष्यगणैः समेतं
जलाशयापन्नमिवोन्नगात्रम्।
विलोक्य दैत्याधिपतिं तदानीं
न्यमज्जदाश्चर्यमहोदधौ सः ॥ ४४ ॥

४४. अपने सेवकों के साथ आए हुए, जलाशय पर पहुँचे हुए के समान गीले शरीर वाले दैत्यराज को देखकर वह (वैश्य पुत्र) विस्मय-सागर में डूब गया।

मरुस्थली धूलिपरिप्लुताशा-
ऽऽकाशास्त विष्वङ्मुषितप्रकाशा।
हा ! शान्तबुद्धेरपि तत्र नाशा-
ल्लब्धावकाशास्तु कथं सुखाशा ॥ ४५ ॥

४५. मरुस्थली में दिशाएं और आकाश धूल से व्याप्त थे, जिस कारण चारों ओर प्रकाश का अभाव हो गया था। वहां शान्त मन वाले (वणिक् पुत्र) का भी विनाश हो गया। सुख की आशा को अवकाश कहाँ ?

ऊष्मायमाणो बहुतीव्रवेगात्
पृष्ठात् पुरस्ताच्च मरुत् तदैतं।
तथापि याति स्म वणिग् रथेष्ठा
भृत्यैः समेतो बहुभिः स्वकीयैः ॥ ४६ ॥

४६. वहां उस समय आगे और पीछे से प्रचण्ड वेग के साथ उष्ण पवन वह रहा था। फिर भी रथ पर स्थित वैश्य अपने अनेक सेवकों के संग चला जा रहा था।

उपेयिवांस्तस्य विशः स पार्श्वे
रथं च स स्वं स्थगयांचकार।

आपृच्छ्य पूर्वं कुशलप्रवृत्तिं
भवान् क्व यातीति तमन्वयुङ्क्त ॥ ४७ ॥

४७. [एक अन्य] मार्ग से दैत्यराज ने उस वैश्य के पास पहुंच कर अपना रथ रोक दिया। कुशल समाचार के अनन्तर उस ने प्रश्न किया कि आप कहां जा रहे हैं ?

वैश्योऽपि यानं स्थगयन्नवोचत्
वाराणसीतोऽहमुपागतोऽस्मि ।
विक्रेतुमिच्छुर्विविधानि पण्या-
न्यन्यप्रदेशं प्रति सम्प्रयामि ॥ ४८ ॥

४८. वैश्य ने भी गाड़ी रोक कर कहा कि मैं वाराणसी से यहां आया हूं और अनेकविध वस्तुओं को वेचने के उद्देश्य से दूसरे प्रदेश में जा रहा हूं।

सपुण्डरीकान् सजलार्द्रवस्त्रान्
दृष्ट्वा व आस्वादयतो बिसानि ।
मन्ये समीपे विलसन्ति वर्षाः
सरांसि साम्भांसि च सोत्पलानि ॥ ४९ ॥

४९. [वैश्य ने दैत्यराज से कहा कि] कमल धारण किए हुए, जल से आर्द्र वस्त्रों वाले तथा कमल तन्तु को खाते हुए आप को देखकर मैं समझता हूं कि पास में वृष्टि हो रही है, एवं तालावों में जल तथा कमल हैं।

उदीरितं निष्कपटं वचस्तत्
निशम्य मायी न्यगदत् स दैत्यः ।
सत्यं भवान् वक्ति यथार्थमेताः
भवन्ति वर्षाः प्रकटप्रकर्षाः ॥ ५० ॥

५०. उस छली दैत्य ने उस के निर्व्याज वचन सुन कर कहा कि आप सर्वथा सत्य कहते हैं। वस्तुतः यहां बहुत वेग से वर्षा हो रही है।

एषा विलोक्या हरिता वनाली
तद्भूविभागोऽस्त्यतिवृष्टिशाली ।
गुहा गिरीणां सलिलस्य पूर्णा
विभान्ति पद्मानि विकासभाञ्जि ॥ ५१ ॥

५१. यह [सम्मुख स्थित] शस्यश्यामला वनराजि दर्शनीय है। उस भूमिखण्ड में प्रचुर वृष्टि हो रही है। पर्वतों की कन्दरायें जल से परिपूर्ण हैं और विकसित कमल शोभा पा रहे हैं।

आस्तामिदं, क्रय्यतयोह्यते यद्
यानेषु तद्वस्तु किमस्ति वाच्यम् ।

सोऽब्रूत वासांसि हि काशिकानि
नाना च खाद्यानि चकासतीति ॥ ५२ ॥

५२. [दैत्यराज ने कहा] अच्छा, यह रहने दो। [अब यह कहो कि] इन यानों में विक्रय योग्य क्या-क्या वस्तुएं हैं ? (वैश्य ने) उत्तर दिया, 'इन में बनारसी वस्त्र तथा अनेक प्रकार के खाद्य पदार्थ हैं' ।

श्रुत्वा पुनः कौसृतिकः स दैत्यो
जगाद वैश्यात्मजमप्रबुद्धम् ।
यानेऽन्तिमे सातिशयं गरिष्ठे
किं भारवन्न्यस्तमिहास्ति वस्तु ॥ ५३ ॥

५३. यह सुनकर उस धूर्त दैत्य ने मुग्धमति वैश्यपुत्र से पूछा, अन्तिम यान बहुत भारी प्रतीत होता है, उसमें क्या भार (भारी वस्तु) लदा हुआ है ।

मन्ये जलं स्यादयि मुग्ध बन्धो !
प्रयोजनं ते न जलस्य किञ्चित् ।
पुरःसरस्य प्रचुरप्रचाराः
समुल्लसन्त्यध्वनि वारिधाराः ॥ ५४ ॥

५४. [उसने फिर कहा—] अरे ! मुग्धमति बन्धु ! मैं समझता हूँ, उस यान में जल भरा है जबकि तुम्हें जल ले जाने की कुछ भी आवश्यकता नहीं है। [क्योंकि] जब तुम आगे बढोगे तो मार्ग में बहुत सी जलधारायें मिलेंगी ।

स्वयं विवेच्यं भवताऽधुना तद्
यदेषु कुम्भेषु मुधोह्यतेऽम्भः ।
तस्मादुपध्वस्य घटानशेषान्
जलं त्वमुत्सृज्य सुखेन याहि ॥ ५५ ॥

५५ [दैत्य बोला—] आपको स्वयं विवेक से काम लेना चाहिए । आप व्यर्थ ही इन घड़ों में पानी ढो रहे हैं । अतः ये सभी घड़े विनष्ट कर और पानी गिरा कर आप सुखपूर्वक यात्रा करें ।

एवं स दम्भी वणिगात्मजं
तमेतैर्वचोभिर्बहु विप्रलभ्य ।
आवासभूमिं प्रतियन् स्वकीया-
मक्ष्णोरदृश्यत्वमवाप तूर्णम् ॥ ५६ ॥

५६. इस प्रकार वह कपटी इन [छल पूर्ण] बातों द्वारा वैश्यपुत्र को अनेक प्रकार से भ्रान्ति में डालकर अपनी निवासभूमि की ओर लौटता हुआ ही आंखों से ओझल हो गया ।

मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धि-
र्वणिक् स दैत्यस्य वचोऽभ्युपेत्य ।
सर्वानुपाध्वंसयदाशु कुम्भान्
न तोयलेशोऽपि यतोऽवशिष्टः ॥ ५७ ॥

५७. उस मूढ़ तथा [स्वयं विचार न करके] दूसरे के विचारों से संचालित मति वाले वणिक् ने दैत्य के कथन पर विश्वास करके शीघ्र ही सारे घड़ों को विध्वस्त कर डाला, जिससे लेशमात्र जल भी शेष नहीं रहा ।

ततः स युग्यान् शकटेषु युक्त्वा
प्राचोदयत् तूर्णमभिप्रयातुम् ॥
तस्याध्वनो मध्यमुपागतस्य
प्राणोपघातिन्युदपाद्युदन्या ॥ ५८ ॥

५८. तब उसने बैलों को गाड़ियों में जोतकर शीघ्र आगे बढ़ने के लिए हांका । अभी वह उस मार्ग (गन्तव्य) के मध्य में ही पहुँचा था कि उसे प्राण हरने वाली प्यास लगी ।

तृषाऽऽकुलोऽभूदनुयायिवर्गो-
ऽप्यमुष्य वैश्यस्य, न केवलं सः ।
अनर्थमेकः कुरुते तदीयं
फलं तु तत्पृष्ठचरोऽपि भुङ्क्ते ॥५९॥

५९. अकेला वैश्य ही नहीं, वरन् उसके सभी अनुयायी भी प्यास से व्याकुल हो गये । क्योंकि अनर्थ करने वाला तो कोई एक होता है, परन्तु उनका फल उसके सभी आश्रितों—अनुयायियों—को भोगना पड़ता है ।

अहः समस्तं प्रययौ तृषार्तो
न चोपलेभे क्वचनोदबिन्दुम् ।
युग्या विमुक्ताः शकटेषु बद्धाः
कष्टश्रितैस्तैः सकलैरभावि ॥६०॥

६०. तृषा से पीड़ित वह सारा दिन आगे बढ़ता रहा किन्तु कहीं भी उसे जल की बूंद तक नहीं मिली । तब गाड़ियों में जुते हुए बैलों को विमुक्त कर दिया गया और वे सभी लोग संकटापन्न हो गये ।

क्षीणा नितान्तं तृषिताः क्षुधार्ताः
वृषा मनुष्याश्च समं निदद्रुः ।
अजागरुर्नैव च शक्त्यभावात्
सर्वेऽप्यभूवन् विगतासवस्ते ॥६१॥

६१. अत्यन्त दुर्बल, प्यास और भूख से पीड़ित बैल और मनुष्य सभी

एक साथ निद्रावश हो गये। शक्ति के अभाव से वे फिर जागे ही नहीं और सब का प्राणान्त हो गया।

आगत्य दैत्यो निभृतं रजन्यां
मृतान् समस्तानपि तानदर्शत्।
हर्षातिरेकाच्च यथेच्छमादत्
भृत्यैरथाप्यादयत स्वकीयैः ॥६२॥

६२. रात्रि के समय दैत्य ने चुपचाप वहाँ आकार सभी को मरा हुआ देखा। हर्ष से विह्वल होकर उसने उनका मास स्वयं खाया और अपने सेवकों को भी खिलाया।

तेषां शरीरावयवोद्धृताना-
मस्थ्नामवाशिष्यत तत्र राशिः।
समस्तवस्तूपहितानि तानि
पञ्चापि यानानि शतानि चासन् ॥६३॥

६३ उन सब के शरीराङ्गों से निःसृत अस्थियों का ढेर तथा पण्य वस्तुओं से लदे उस के पांच सौ यान वहीं पड़े रहे।

एवं स्वसार्थेन समं स वैश्यो
मौढ्याच्च लौल्याच्च विनाशमापत्।
चञ्चूर्यमाणो द्रविणाय गृध्नुः
कथं न नश्येदविमृश्यकारी ॥६४॥

६४ इस प्रकार वह अपनी मूढ़ता और (चित्त की) चपलता के वशीभूत होकर अपने दल के साथ विनाश को प्राप्त हुआ। धन का लालची अविवेकशील व्यक्ति जब ठीक ढंग से नहीं चले तो उसका विनाश कैसे न हो।

ऊर्ध्वं तु वैश्यापगमादतीते
मासेऽर्धमासे सति बोधिसत्त्वः।
प्रशान्तचेता विहितव्यवस्थो
व्यापर्तुमिच्छुः स्वपुरादचालीत् ॥६५॥

६५. वैश्य के जाने के पश्चात् मास-अर्धमास बीतने पर बोधिसत्त्व भी व्यापार की अभिलाषा से शान्त चित्त से सब व्यवस्था करके अपने नगर से चल पड़े।

क्रमेण गच्छन् सुतरां मनीषी
कान्तारभूमेः पदमाससाद।
धन्वेत्यभिज्ञाय च तं प्रदेशं
प्रपूरयामास जलं घटेषु ॥६६॥

६६. [यात्रा पर] चलते-चलते अत्यन्त मतिमान् बोधिसत्त्व उस कान्तार भूमि में पहुँच गये। उस प्रदेश को मरुभूमि जानकर उन्होंने घड़ों में (मटकों में) जल भर लिया।

सर्वान् समाहूय निजान् मनुष्यान्
यथायथं कार्यनियोजितान् सः।
न मामनापृच्छ्य कदापि तोयं
पेयं भवद्भिर्गिरमित्युवाच ॥६७॥

६७. यथोचित रीति से अपने अपने कार्य में नियोजित सभी लोगों (अनुयायियों) को बुलाकर उन्होंने कहा कि आप सभी व्यवहार कुशल हैं। अतः मुझ से पूछे बिना आपको जल का सेवन नहीं करना चाहिए।

अकारणं नाभिदधे वनेषु
विषाक्तवृक्षा अपि संभवन्ति।
पत्रं फलं पुष्पमथापि किञ्चिद्
विनाज्ञया मे न निषेवणीयम् ॥६८॥

६८. मैं आपसे यह बात अकारण ही नहीं कहता हूँ। (तथ्य यह है) कि वनों में विषैले वृक्ष होते हैं। आपको मेरी आज्ञा के बिना यहाँ फल पुष्प अथवा पत्तों का भी सेवन नहीं करना चाहिए।

आदेयमास्वादितपूर्वमेव
कन्दादिकं किञ्चन वस्तुजातम्।
एतद् भवन्तः परिपालयन्तु
ब्रवीम्यहं वो वचनं हिताय ॥६९॥

६९. आप केवल उन्हीं कन्द, मूल आदि का सेवन करें जिनका उपभोग आप पहले भी कर चुके हैं। आप इसका पालन करें। क्योंकि मैं आपके हित को दृष्टि में रखकर कह रहा हूँ।

इदं समादिश्य मनुष्यसङ्घं
स धन्वनो मध्यमवाप शीघ्रम्।
तदैव दैत्योऽन्तिकमागतः सन्
तं बोधिसत्त्वं समवालुलोकत् ॥७०॥

७०. इस प्रकार उन लोगों (सहचरों) को आदेश देकर वह शीघ्र ही मरुभूमि के मध्यभाग में पहुंच गया। तभी उस दैत्य ने भी समीप आकर बोधिसत्त्व को देखा।

प्रतारणायां निपुणश्चकार
यथापुरं भूपतिवेशमेषः।

सम्यक् तमालक्ष्य तु बोधिसत्त्वः
स्वचेतसीत्थं कलयाञ्चकार ॥७१॥

७१. वञ्चना में निपुण उस दैत्य ने पहले की भांति राजा का वेष बनाया। [उस की रूप-आकृति का] अच्छी तरह निरीक्षण करके बोधिसत्त्व ने मन में विचार किया।

न दृश्यते नाप्युपलभ्यते वा
जलस्य लेशोऽपि मरुस्थलेऽस्मिन् ।
कान्तारभूमिः खलु निर्जलेति
प्रायेण लोके प्रथितः प्रवादः ॥७२॥

७२. इस मरुप्रदेश में लेशमात्र भी जल न तो मिलता है और न दिखाई देता है। लोगों में भी प्रायः यह प्रवाद (जनोक्ति) प्रचलित है कि कान्तार भूमि जलशून्य होती है।

बम्भ्रम्यते लोहितचक्षुरत्र
व्यपेतभीरेष जनस्तथापि ।
छायास्य भूमौ न विलोक्यते-
ऽतः प्रत्येमि दैत्यश्छलयन्नुपेतः ॥७३॥

७३. फिर भी (इस भीषण जलाभाव में भी) यह रक्त-नयन पुरुष निर्भय होकर घूम फिर रहा है और इस की छाया (परछाईं) भी भूमि पर नहीं पड़ रही है। अतः मेरा विश्वास है कि यह कोई दैत्य हमें छलने के लिए आया है।

असंशयं पूर्वसरः स मूढो
वणिक्सुतोऽनेन विमोहितः स्यात् ।
प्रपीड्य विध्वस्य च भोज्यपेयं
प्रजग्ध्य सार्थेन सहोज्झितः स्यात् ॥७४॥

७४. निःसन्देह पहले आया हुआ वह मूढ़ वणिक्सुत इसके द्वारा प्रतारित हुआ है। अवश्य इसने उस के भोज्य और पेय जल को विध्वस्त कर और कष्ट देकर दलसहित उसे खा लिया होगा और [अस्थियाँ, पण्य आदि] छोड़ दी होंगी।

मया भृशं सावहितेन भाव्यं
न वञ्चनीयः स इवाहमस्मि ।
दैत्योऽपि मे वेत्तु यथा पटुत्वं
तथोचितं कार्यमिहातनोमि ॥७५॥

७५. मुझे इससे बहुत सावधान रहना चाहिए। [कहीं] उस [वणिक्-सुत की] भांति मैं ठगा न जाऊं? मैं इसके साथ ऐसा व्यवहार करूं जिससे

यह दैत्य भी मेरी पटुता जान ले।

विचिन्तयन्नेवमुवाच दैत्यं
सोऽत्रागमे हेतुरिहास्ति कस्ते।
प्रतीयसे वञ्चयितेव कश्चिद्
द्रुतं स्वमुद्देशमितः प्रयाहि ॥७६॥

७६. इस प्रकार सोचकर उन्होंने दैत्य से कहा, यहाँ तुम्हारा आने का क्या प्रयोजन है ; तुम मुझे कोई वञ्चक दिखाई देते हो। यहाँ से शीघ्र अपने स्थान पर चले जाओ।

अज्ञायि विज्ञेन मया त्वदीयं
दुर्धीप्सितं साध्वभिधित्सितं च।
आकारचेष्टादिभिरभ्युपायैः
किं नोहतेऽनुक्तमपीह धीमान् ॥७७॥

७७. समझदार होने के कारण मैंने तुम्हारा दुष्टाशय और विवक्षा (जो तुम कहना चाहते हो) भी, सम्यक् जान ली हैं। क्या बुद्धिमान् पुरुष आकार इंगित आदि उपायों से अनकही बात का आशय नहीं पा लेता ?

अलब्धनीरान्तरसंनिकर्षा
वयं जलं नैव समुत्सृजामः।
लभामहे यत्र तु तद् द्वितीयं
तत्रैनदुत्सृज्य पुनश्चलामः ॥७८॥

७८. जब तक हम अन्य जल के समीप नहीं पहुंच जाते तब तक [अपने पास विद्यमान] जल का परित्याग नहीं करेंगे। जहाँ हमें और जल मिलेगा, वहाँ इसे छोड़कर आगे चलेंगे।

व्यापारिणां नो विधिरीदृगेव
त्वयात्र कार्यो न वृथा प्रयासः।
श्रुत्वैतदीयं वचनं तदासा-
वन्तर्हितः सन् स्वपदं प्रयातः ॥७९॥

७९. हम व्यापारी लोगों की तो ऐसी रीति (कार्य-विधि) होती है। तुम इस विषय में [निर्देश देने का] व्यर्थ प्रयास न करो। उसके ये वचन सुनकर वह दैत्य वहाँ से ओझल होकर अपने स्थान पर चला गया।

तस्मिन् प्रयाते सति भूतनाथे
श्रीबोधिसत्त्वोऽभिदधे स्वभृत्यैः।
हितं वचस्तस्य जनस्य कस्मात्
त्वया श्रुतं नेति विचित्रमेतत् ॥८०॥

८०. दैत्यराज के चले जाने के उपरान्त सेवकों ने बोधिसत्त्व से निवेदन किया कि यह बात हमें अजीब सी लगती है कि आपने उस व्यक्ति के हितकारी वचन क्यों नहीं सुने ।

असावभाणीद् यदियं वनाली
श्यामायमाना पुरतोऽस्ति दृश्या ।
तस्याः परस्यां भुवि शोभमाना
जलस्य वृष्टिः खलु बोभवीति ॥८१॥

८१. उसने कहा था कि सामने हरी भरी वनराजि दर्शनीय है । उससे आगे वाले भूभाग में सुन्दर एवं बहुत वर्षा हो रही है ।

स धारयित्वा स्रजमुत्पलाना-
मादाय पद्मस्तबकांस्तथैव ।
खादन् मृणालं सलिलार्द्रवासा
वृष्टिः पुरस्ताद् भवतीत्यवादीत् ॥८२॥

८२. वह कमलों की माला धारण कर तथा पंकजों के स्तवक (गुच्छे) लेकर आया था, कमलतन्तु खा रहा था, वस्त्र जल से आर्द्र थे । उसने कहा था कि आगे वर्षा हो रही है ।

अदो वचः प्रत्ययिता न कस्माद्
वयं समुत्क्षिप्य जलं प्रयामः ।
विश्रान्तिमेते वृषभा लभेरन्
यानेषु भारोऽपि भवेल्लघीयान् ॥८३॥

८३. उसके वचन पर विश्वास करके हम जल फेंककर क्यों न चलें ? जिससे ये वृषभ भी विश्राम ले सकें और यानों का भार भी हल्का हो जाय ।

मनुष्यसङ्घस्य वचः प्रतीपं
प्रकाममापीय स बोधिसत्त्वः ।
यानानि सर्वाण्यवरोध्य लोका-
नेकीकृतानित्थमुवाच वाचम् ॥८४॥

८४. बोधिसत्त्व ने अपने सहयोगीजनों के विपरीत वचन ध्यान से सुनकर यान रोक दिए और सब लोगों को एकत्रित कर इस प्रकार कहा :

व्यामोहमापादयितुं प्रयुक्तं
वचोऽदसीयं वितथं प्रतीत ।
एतादृशा दुष्टधियो विरूपाः
प्रच्छन्नपापा विचरन्त्यरण्ये ॥८५॥

८५. आप लोग निश्चित जान लें कि उसकी बातें असत्य हैं और केवल

भ्रान्ति उत्पन्न करने वाली हैं। वन में इस प्रकार के दुरात्मा, कपटवेषी और प्रच्छन्नपापी घूमते रहते हैं।

प्रश्नानिमान् वस्तु पिपृच्छिषामि
तदुत्तरं साधु विचार्य देयम्।
न ह्यैकमत्यं भविताखिलानां
सत्यां गिरं वित्त मयोच्यमानाम् ॥८६॥

८६. मैं आप से ये (वक्ष्यमाण) प्रश्न पूछना चाहता हूँ। उनका उत्तर अच्छी तरह सोचकर दीजिए। मैं आपसे सत्य-सत्य कहता हूँ कि [इन प्रश्नों पर] आप का ऐकमत्य (सहमति) नहीं होगा।

कान्तारभूमाविह निर्जलायां
दृष्टा क्वचित् पुष्करिणी श्रुता वा।
श्रुता न दृष्टा न कदाचनेति
प्रत्युतरं चेद्, अमृषोद्यमेतत् ॥८७॥

८७. क्या आपने कहीं इस निर्जल कान्तार भूमि में कोई वापी देखी या सुनी है। यदि आपका उत्तर है कि कभी देखी सुनी नहीं, तब मेरा कथन सत्य है अर्थात् यह भूमि निर्जला है।

दूरं कियद् याति हि वृष्टिवायुः
प्रयात्यसौ योजनमात्रमेव।
युष्मासु संवेदयतेऽत्र कस्तं,
नास्मासु संवेदयतेऽत्र कश्चित् ॥८८॥

८८. [प्रश्न-:] वृष्टिकाल में शीतल वायु कितनी दूर तक जाती है? [उत्तर-:] वह एक योजन तक जाती है। [प्रश्न-:] आप में से उस वायु का स्पर्श किसे अनुभव हो रहा है? [उत्तर-:] किसी को भी नहीं।

मेघाः कियद् दूरमवेक्षिताः स्युः
स्युरीक्षिता योजनमात्रमेव।
युष्मास्वितः कश्चिदवेक्षते तान्
नास्मास्वितः कश्चिदपीक्षते तान् ॥८९॥

८९. [प्रश्न-:] [आकाश में] मेघ कितनी दूरी से देखे जा सकते हैं? [उत्तर-:] एक योजन तक की दूरी से। [प्रश्न-:] क्या आपमें से कोई यहाँ से [मेघों को] देख रहा है? [उत्तर-:] कोई भी नहीं।

विद्युत् कियद् दूरमवेक्षिता स्यात्
चत्वारि पञ्चापि च योजनानि।

युष्मास्वितः कश्चिदवेक्षते तां
नास्मास्वितः कश्चिदपीक्षते ताम् ॥६०॥

६०. [प्रश्न-:] [मेघों में चमकने वाली] विद्युत् कितनी दूरी से देखी जा सकती है ? [उत्तर-:] चार या पाँच योजन से । [प्रश्न-:] क्या आप में से कोई उसे देख रहा है ? [उत्तर-:] हम में से कोई उसे नहीं देख रहा ।

दूरं कियद्व वारिदगर्जनं स्याद्
द्वे योजने योजनमेककं वा ।
युष्मास्वितस्तच्च शृणोति कश्चित्
नास्मास्वितस्तच्च शृणोति कश्चित् ॥६१॥

६१. [प्रश्न-:] मेघों की गर्जना कितनी दूर से सुनी जा सकती है ? [उत्तर-:] दो या एक योजन से । [प्रश्न-:] क्या आप में से कोई उनकी गर्जना सुन रहा है ? [उत्तर-:] हम में से कोई उनकी गर्जना नहीं सुन रहा ।

यद्येवमासीन्न मनुष्य एष
प्रतारकः कोऽपि तु दैत्य आसीत् ।
भ्रमं समुत्पाद्य वृथाम्बुवृष्टे-
र्व्यामोहयामास स मायया वः ॥६२॥

६२. यदि यह बात सत्य है तो वह आगन्तुक, मनुष्य न होकर कोई छली राक्षस था । उसने व्यर्थ ही जल-वृष्टि की भ्रान्ति उत्पन्न कर आप सब को छल से विमोहित किया है ।

द्रष्टव्यमेतन्नचिराद्व भवद्भि-
र्यथाऽमुना वैश्यसुतः स जग्धः ।
मार्गे समेष्यन्ति तदुज्झितानि
यानानि पञ्चापि शतानि तानि ॥६३॥

६३. जिस प्रकार इस दैत्य ने वैश्य पुत्र को भोज्य बना लिया है वह आप को शीघ्र ही ज्ञात हो जाएगा । उस के द्वारा छोड़े हुऐ पाँच सौ यान भी रास्ते में मिलेगे ।

नासीदुपाये कुशलोऽयंपुत्रो
दैत्येन तस्मादसकावखादि ।
तथा न यूयं भवतेति कृत्वा
समैरनुत्सृष्टजलैः प्रयेयम् ॥६४॥

६४. वह वैश्य पुत्र उपाय कुशल (व्यवहार निपुण) नहीं था, अतः दैत्य ने उसे अपना भक्ष्य बना डाला । आप की भी कहीं वैसी दशा न हो, यह विचार कर पानी का परित्याग किए बिना आगे बढ़िए ।

कर्तव्यमादिश्य स बोधिसत्त्वः
प्रातिष्ठताग्रे स्वजनैः परीतः ।
ददर्श पञ्चापि शतानि याना-
न्यस्थीनि चोक्ष्णामथ पूरुषाणाम् ॥९५॥

९५. बोधिसत्त्व उन्हें कर्तव्य का निर्देश देकर सभी बन्धुओं (अनुयायियों) सहित आगे चल पड़े । वहाँ उन्होंने पाँच सौ यान तथा बैलों और पुरुषों की अस्थियाँ देखीं ।

अभ्याशमित्वा शकटान्यरौत्सीद्
वृषान् विमोच्यास्थगयच्च यात्राम् ।
प्रागेव सूर्यास्तमयात् समस्ता-
नप्याशयद् भोजनमिष्टसिद्धयै ॥९६॥

९६. बोधिसत्त्व ने पास जाकर गाड़ियाँ रोक दीं । बैलों को खोल कर यात्रा स्थगित कर दी और अभीष्ट कार्य की सिद्धि को लक्ष्य में रखकर सूर्यास्त से पूर्व ही सभी को भोजन करवा दिया ।

रात्रौ च सत्रा कतिभिर्मनुष्यै-
र्दैत्योपघातार्थमुपात्तशस्त्रः ।
युग्यान् निबध्य स्वजनौघमध्ये
यामत्रयं जागरितोऽवतस्थे ॥९७॥

९७. बोधिसत्त्व, दैत्यों के विनाश के लिए कुछ लोगों के साथ शस्त्र ग्रहण कर तथा बैलों को लोगों के बीच में बांध कर रात को तीन पहर तक जागते रहे ।

कल्ये विशल्यः स विमोच्य बन्धाद्
यात्रार्थमुक्ष्णः शकटेष्वयुङ्क्त ।
जीर्णानि यानानि विहाय धीरो
दृढान्युपादाय च सम्प्रतस्थे ॥९८॥

९८. प्रभात होने पर उसने चिन्ताविमुक्त होकर और यात्रा के लिए बैलों को बन्धन से खोलकर छकड़ों में जोड़ दिया । धीर स्वभाव बोधिसत्त्व अपने जीर्ण यानों को छोड़ कर [उन के स्थान पर वैश्य पुत्र के] दृढ़ यान लेकर चल पड़े ।

देशं गतो व्याप्रियतातिमात्रं
पेणे सहस्रस्य शतस्य चापि ।
वस्तु ह्यमूल्यं न कुतोऽप्यगृह्णा-
च्चिक्राय पण्यं बहुमूल्यमेव ॥९९॥

९९. [अभीष्ट] देश में पहुंच कर उन्होंने पर्याप्त व्यापार किया। सैंकड़ों-हजारों का लेन देन किया। किसी से कोई वस्तु बिना मूल्य ग्रहण नहीं की और बहुमूल्य पण्य वस्तुएं खरीदीं।

स तत्र भूयांसमलब्ध लाभं
सार्थं समृद्धार्थतरं चकार।
भूत्वा पुनर्द्वैगुणिकश्च पण्यै-
र्गुण्यः स्वदेशं न्यवृतत् स्वपुण्यैः ॥१००॥

१००. उन्होंने वहाँ बहुत लाभ प्राप्त किया। अपने दल के लोगों को समृद्ध बनाया। दुगुनी मात्रा में पण्य वस्तुएँ लेकर गुणी बोधिसत्त्व अपने पुण्यों से स्वदेश को लौट आए।

व्यापारिणोरेतवतोर्विदेशं
द्वयोः कथावस्त्विदमस्ति दृश्यम्
एकस्तु लाभं लभते महान्तं
स्वार्थादथान्यश्च्यवते नितान्तम् ॥ १०१ ॥

१०१. विदेश में जाने वाले दो व्यापारियों की यह कथा-वस्तु अवलोकनीय है। [उन में से] एक तो महान् लाभ प्राप्त करता है जबकि दूसरा सर्वथा अपनी स्वार्थहानि [प्राणहानि भी] कर लेता है।

यः शुद्धबुद्धया कुरुते स्वकार्यं
विचारवानस्ति चरित्रवांश्च।
धीरस्य लब्धानुभवस्य तस्य
नतस्य हानिर्न कदाचिदस्ति ॥ १०२ ॥

१०२. जो व्यक्ति विचारशील एवं चरित्रवान् हैं तथा शुद्ध बुद्धि से काम करता है, उस धीर, अनुभवी एवं विनीत पुरुष को कभी हानि नहीं उठानी पड़ती।

लेभे परस्ताद् गमनेऽपि लाभं
श्रीबोधिसत्त्वो न च कृच्छ्रमार्छत्।
वणिक्सुतः पूर्वसरोऽपि हानिं
ग्लानिं च सव्यापदमापदेवम् ॥ १०३ ॥

१०३. श्रीबोधिसत्त्व ने [वैश्यपुत्र के] बाद में जाकर भी लाभ प्राप्त किया और विपद्ग्रस्त नहीं हुए। इधर वणिक् सुत ने पहले जाकर भी इष्टहानि, मनस्ताप और विपत्ति (मृत्यु) पाई।

द्वितीयः सर्गः

काशिनाम्नि ललिते विपश्चिता-
माश्रये सुविदिते पुरे पुरा ।
ब्रह्मदत्तनृपतिर्यथाविधि
प्राशिषद् वसुमतीं महायशाः ॥ १ ॥

१. पहले कभी, विद्वानों की आश्रयस्थली काशी नामक सुप्रसिद्ध नगरी में एक महायशस्वी राजा ब्रह्मदत्त विधिपूर्वक शासन करते थे ।

तस्य सम्यगनुतिष्ठतश्चिरं
राज्यशासनमनाकुलं स्थिरम् ।
कामनीयकमधाद् गुणाञ्चितं
भूतपञ्चकमपि प्रपञ्चितम् ॥ २ ॥

२. चिर काल तक सुव्यवस्थित रूप से एवं स्थिरतापूर्वक राज्य का सुशासन करते हुए उनके गुणों से मानों सत्कृत होकर पंच महाभूतों ने भी रमणीयता का विस्तार किया अर्थात् राज्य को सुखसमृद्धि से सम्पन्न कर दिया ।

तद्गृहे जनिमलब्ध पुण्यवान्
बुद्ध एव भगवान् कदाचन ।
यः प्रबुद्धमतिरात्मचिन्तनाद्
बोधिसत्त्व इति पूर्वनामभाक् ॥ ३ ॥

३. एक बार उनके घर में स्वयं पुण्यात्मा भगवान् बुद्ध ने जन्म ग्रहण किया । आत्मचिन्तन से प्रबुद्धमति होने के कारण बोध प्राप्त कर के जिनका पूर्वनाम बोधिसत्त्व था ।

बिभ्रती तमथ कान्तमहिष्यपि
बुद्धमन्तरुदरे महोदयम् ।
भूषयन्ति जननीं स्वजन्मना
तन्निभा हि विरला विभूतयः ॥ ४ ॥

४. [संसार में] जिन का उदय महिमामण्डित है ऐसे भगवान् बोधिसत्त्व को उदर में धारण कर रानी सुशोभित (धन्य) हुई, क्योंकि बोधिसत्त्व जैसी विरल विभूतियाँ ही अपने जन्म से माता का गौरव बढ़ाती हैं ।

मातृकुक्षिरपि सोऽतिगौरवो
धन्यतामतितरामुपागमत् ।
बोधिसत्त्व उदयं गतो बभौ
यत्र कष्टपरिवर्जमर्भकः ॥ ५ ॥

५. वह माता की गौरवशालिनी कुक्षि भी सुतरां धन्य हो गई जहाँ गर्भ-कष्ट के बिना जन्म लेकर बालक बोधिसत्त्व शोभित हुए ।

स क्रमेण ववृधे कुमारकः
श्रीकुमार इति नाम लम्भितः ।
स्वस्थसुन्दरवपुः समन्ततः
सद्गुणैश्च सकलैरलंकृतः ॥ ६ ॥

६. बालक बोधिसत्त्व क्रमशः बढ़ने लगा । उस का नाम 'श्रीकुमार' रखा गया । स्वस्थ एवं सुन्दर शरीरवाला वह बालक सभी सद्गुणों से परिशोभित था ।

एत्य तक्षकशिलां कलाप्रियो
ऽधीत्यभूदखिलवाङ्मये पुनः ।
प्राप्तषोडशसमो युवा भवन्
यौवराज्यपदवीमधिष्ठितः ॥ ७ ॥

७. तक्षशिला में जाकर कलाप्रेमी कुमार ने समस्त वाङ्मय की शिक्षा पाई । सोलह वर्ष की वय में युवक होने पर बोधिसत्त्व युवराज पदवी पर आसीन हुए ।

प्रीतिमत्युचितकर्मकर्तरि
स्वर्गते पितरि भूमिभर्तरि ।
नित्यमात्तविनयः स धर्मतो
ब्रह्मदत्ततनयः क्षमामशात् ॥ ८ ॥

८. प्रेमपूर्ण हृदय वाले, न्यायोचित कार्यों में निरत पिता राजा ब्रह्मदत्त के स्वर्ग सिधारने पर उसके सुपुत्र [श्रीकुमार] ने [मन में] सदैव विनय भाव धारण करके धर्मपूर्वक पृथ्वी का शासन किया ।

नादधुः पदममुष्य शासने
व्याधिभीतिकलहाद्युपद्रवाः ।
तत्प्रजाभिरनिशं सुकर्मभिः
स्वःसुखानि बिभरांबभूविरे ॥ ९ ॥

९. उस के शासन में रोग, भय, कलह आदि उपद्रवों ने प्रवेश नहीं किया । उस के प्रजाजन सदा सत्कर्मों मे निरत रह कर स्वर्ग के सुख भोगते थे ।

निर्भयाः सहृदया गतस्मया
रोषदोषरहिताः परस्परम् ।
प्रीतिपूर्वकमुदारचेतस-
श्चक्रिरे व्यवहृतिं समे जनाः ॥ १० ॥

१०. [प्रजा में] सभी लोग निर्भय, सहृदय, अभिमान रहित, क्रोध आदि दोषों से अस्पृष्ट और उदारमना थे तथा परस्पर प्रीतिपूर्वक व्यवहार करते थे ।

निर्णयं प्रकुरुते स्म भूपतिः
शास्त्रतो, न खलु कामचारतः ।
सत्यशान्तिकरुणाक्षमार्जवै-
रन्वरञ्जयदसौ निजाः प्रजाः ॥ ११ ॥

११. वह राजा शास्त्र-दृष्टि से विचार कर [विवादों का] निर्णय करता था, स्वेच्छा से नहीं । सत्य, शांति, करुणा, क्षमा, सरलता आदि गुणों से वह अपनी प्रजाओं का अनुरञ्जन करता था ।

पार्थिवं तमवलोक्य धार्मिकं
मन्त्रिणस्तदनुसारिणोऽभवन् ।
तत्क्रमेण सकलोऽप्यशिश्रियद्
धार्मिकत्वमधिकारिणां गणः ॥ १२ ॥

१२. उस राजा को धार्मिक देख कर मन्त्रियों ने उस का अनुसरण किया । तदनन्तर क्रमशः सभी अधिकारियों ने धार्मिकता का अवलम्बन किया ।

दोषजातमपहाय जज्ञिरे
सर्व एव गुणपक्षपातिनः ।
द्रुह्यति स्म न कुतोपि कश्चन
न व्यधाद् व्युदितमप्यनर्थकम् ॥ १३ ॥

१३. सभी लोग दोषों का परिहार कर गुणानुरागी बन गए । कोई किसी भी कारण किसी से द्रोह (वैर) नहीं करता था और किसी से अनर्थक विवाद नहीं करता था ।

शाठ्यकूटकपटान् व्यघट्टयन्
निश्छलं च सरलं व्यवाहरन् ।
सज्जनाः समुदितार्थसिद्धयः
प्राप्नुवन् मुदमुदात्तबुद्धयः ॥ १४ ॥

१४. [प्रजाजनों ने] शठता, छल एवं कपट को विध्वस्त कर दिया । वे

मातृकुक्षिरपि सोऽतिगौरवो
धन्यतामतितरामुपागमत् ।
बोधिसत्त्व उदयं गतो बभौ
यत्र कष्टपरिवर्जमर्भकः ॥ ५ ॥

५. वह माता की गौरवशालिनी कुक्षि भी सुतरां धन्य हो गई जहाँ गर्भ-कष्ट के बिना जन्म लेकर बालक बोधिसत्त्व शोभित हुए ।

स क्रमेण ववृधे कुमारकः
श्रीकुमार इति नाम लञ्छितः ।
स्वस्थसुन्दरवपुः समन्ततः
सद्गुणैश्च सकलैरलंकृतः ॥ ६ ॥

६. बालक बोधिसत्त्व क्रमशः बढ़ने लगा । उस का नाम 'श्रीकुमार' रखा गया । स्वस्थ एवं सुन्दर शरीरवाला वह बालक सभी सद्गुणों से परिशोभित था ।

एत्य तक्षकशिलां कलाप्रियो
ऽधीत्यभूदखिलवाङ्मये पुनः ।
प्राप्तषोडशसमो युवा भवन्
यौवराज्यपदवीमधिष्ठितः ॥ ७ ॥

७. तक्षशिला में जाकर कलाप्रेमी कुमार ने समस्त वाङ्मय की शिक्षा पाई । सोलह वर्ष की वय में युवक होने पर बोधिसत्त्व युवराज पदवी पर आसीन हुए ।

प्रीतिमत्युचितकर्मकर्तरि
स्वर्गते पितरि भूमिभर्तरि ।
नित्यमात्तविनयः स धर्मतो
ब्रह्मदत्ततनयः क्षमामशात् ॥ ८ ॥

८. प्रेमपूर्ण हृदय वाले, न्यायोचित कार्यों में निरत पिता राजा ब्रह्मदत्त के स्वर्ग सिधारने पर उसके सुपुत्र [श्रीकुमार] ने [मन में] सदैव विनय भाव धारण करके धर्मपूर्वक पृथ्वी का शासन किया ।

नादधुः पदममुष्य शासने
व्याधिभीतिकलहाद्युपद्रवाः ।
तत्प्रजाभिरनिशं सुकर्मभिः
स्वःसुखानि बिभरांबभूविरे ॥ ९ ॥

९. उस के शासन में रोग, भय, कलह आदि उपद्रवों ने प्रवेश नहीं किया । उस के प्रजाजन सदा सत्कर्मों मे निरत रह कर स्वर्ग के सुख भोगते थे ।

निर्भयाः सहृदया गतस्मया
रोषदोषरहिताः परस्परम् ।
प्रीतिपूर्वकमुदारचेतस-
श्चक्रिरे व्यवहृतिं समे जनाः ॥ १० ॥

१०. [प्रजा में] सभी लोग निर्भय, सहृदय, अभिमान रहित, क्रोध आदि दोषों से अस्पृष्ट और उदारमना थे तथा परस्पर प्रीतिपूर्वक व्यवहार करते थे ।

निर्णयं प्रकुरुते स्म भूपतिः
शास्त्रतो, न खलु कामचारतः ।
सत्यशान्तिकरुणाक्षमार्जवै-
रन्वरञ्जयदसौ निजाः प्रजाः ॥ ११ ॥

११. वह राजा शास्त्र-दृष्टि से विचार कर [विवादों का] निर्णय करता था, स्वेच्छा से नहीं । सत्य, शांति, करुणा, क्षमा, सरलता आदि गुणों से वह अपनी प्रजाओं का अनुरञ्जन करता था ।

पार्थिवं तमवलोक्य धार्मिकं
मन्त्रिणस्तदनुसारिणोऽभवन् ।
तत्क्रमेण सकलोऽप्यशिश्रियद्
धार्मिकत्वमधिकारिणां गणः ॥ १२ ॥

१२. उस राजा को धार्मिक देख कर मन्त्रियों ने उस का अनुसरण किया । तदनन्तर क्रमशः सभी अधिकारियों ने धार्मिकता का अवलम्बन किया ।

दोषजातमपहाय जज्ञिरे
सर्व एव गुणपक्षपातिनः ।
द्रुह्यति स्म न कुतोपि कश्चन
न व्यवाद् व्युदितमप्यनर्थकम् ॥ १३ ॥

१३. सभी लोग दोषों का परिहार कर गुणानुरागी बन गए । कोई किसी भी कारण किसी से द्रोह (वैर) नहीं करता था और किसी से अनर्थक विवाद नहीं करता था ।

शाठ्यकूटकपटान् व्यघट्टयन्
निश्छलं च सरलं व्यवाहरन् ।
सज्जनाः समुदितार्थसिद्धयः
प्राप्नुवन् मुदमुदात्तबुद्धयः ॥ १४ ॥

१४. [प्रजाजनों ने] शठता, छल एवं कपट को विध्वस्त कर दिया । वे

निष्कपट भाव से सरलतापूर्वक व्यवहार करने लगे। सज्जन तथा उदारमति वे लोग कार्यों में अभीष्ट सिद्धि प्राप्त करके प्रसन्न रहते थे।

इत्थमुत्तमगुणैः प्रशंसिते
सत्प्रवृत्तिमति भूपशासने।
संविवादविरहाद् वृथाऽभवन्
न्यायविध्यधिकृतास्तदालयाः ।। १५ ।।

१५. इस प्रकार उत्तम गुणों के कारण श्लाघनीय एवं सत्कार्यों में प्रवृत्ति रखने वाले उस के शासन में पारस्परिक वैर विरोध न होने से न्याय मन्दिर निष्प्रयोजन हो गए।

प्राड्विवाकनिवहः प्रमाणविन्
न्यायसद्म समये समागतः।
वादिनं प्रतिविवादिनं जनं
पश्यति स्म न कमप्युपस्थितम् ।। १६ ।।

१६. प्रमाण शास्त्र (विधिशास्त्र) में कुशल विधिवक्ता गण (वकील आदि) निश्चित समय पर न्यायालय पहुँचते थे, किन्तु वहाँ किसी भी वादी-प्रतिवादी को नहीं देखते थे।

यत्र नास्ति कलहः कथंचन
क्वापि नैव च विवादभावना।
तत्र किंविषयकोऽस्तु निर्णयो
न्यायशासनकृतश्च किंकृताः ।। १७ ।।

१७. जहाँ किसी प्रकार का कलह नहीं, और कहीं विवाद की भावना नहीं, वहाँ किस विषय का निर्णय? और न्याय के व्यवस्थापकों का क्या प्रयोजन?

आकलय्य निखिलं व्यवस्थितं
दोषलेशविकलं स्वशासनम्।
आत्मशोधनरतो व्यचीचरद्
भूपतिः किल कुमारसंज्ञकः ।। १८ ।।

१८. अपने शासन को सुव्यवस्थित एवं लेशमात्र भी दोष के संस्पर्श से रहित पाकर श्रीकुमार भूपति आत्मशोध में निरत हो गए।

सन्ति नाम मयि येपि दुर्गुणा-
स्तान्निरीक्षितुमहं यतेऽधुना।
सद्गुणाश्रयणमेव वस्तुतः
श्रेयसे मनुजजन्मनो मम ।। १९ ।।

१९. मुझ में जो भी दोष विद्यमान हैं मैं अब उन को देखने का (दूर करने का) यत्न करता हूँ। मानव का [श्लाघ्य] जन्म प्राप्त करने वाले मेरे लिए सद्गुणों का आश्रय ही वस्तुतः हितकारी है।

कश्चिदस्ति यदि दुर्गुणो मयि
तं विवेक्तुमिह नालमस्म्यहम्।
मद्गतं लघु महच्च दूषणं
निश्चितं मदितरोऽभिधास्यति ॥ २० ॥

२०. मुझ में जो कोई भी दुर्गुण विद्यमान है, यहाँ रहकर मैं उस का विश्लेषण करने में समर्थ नहीं हूँ। मुझ में जो भी छोटा या बड़ा दोष है, उसे कोई दूसरा व्यक्ति ही निश्चित रूप से बता सकता है।

आत्मदोषरहितश्च सर्वथा
गुण्य एव भवितास्मि पुण्यवान्।
इत्यतः परिषदि स्थिताञ्जनान्
दोषमात्मगतमन्वयुङ्क्त सः ॥ २१ ॥

२१. 'अपने में सर्वथा दोष रहित हो जाने पर ही मैं पुण्याशय एवं गुण-संपन्न हो जाऊँगा'—ऐसा विचार कर उस ने सभासदों से आत्मस्थ दोष के विषय में प्रश्न किया।

किन्तु तत्र सदसि स्थिता जना
दोषमेकमपि तस्य नाभ्यधुः।
केवलानचकथन् गुणानहो
स्याद् गुणाधिकरणे क्व दूषणम् ॥ २२ ॥

२२. किन्तु वहाँ सभा में स्थित लोगों ने उस का एक भी दोष नहीं बताया। उन्होंने केवल गुणों का ही कीर्तन करते हुए कहा कि गुणों के अधिष्ठान में दोष की संभावना ही कहाँ होती है ?

तान् निशम्य गुणवादिनो जनान्
भूपतिः पुनरिदं व्यचिन्तयत्।
मद्भयान्न कथयन्त्यमी समे
मय्यवस्थितमपीह दूषणम् ॥ २३ ॥

२३. उन गुण-कथन करने वालों की बात सुन कर राजा ने सोचा कि ये सब [सम्भवतः] मुझ में विद्यमान दोष को भी मेरे [कुपित हो जाने के] भय से ही नहीं बताते हैं।

अन्वयुक्षत ततोऽन्तरे गृहा
दूरतश्च पुरवासिनो नराः।

अभ्यधायिषत केवलं गुणा-
स्तैरपि क्षितिभृतोस्य तत्त्वतः ।। २४ ।।

२४. तब उसने बाह्य घर वालों और दूरवर्ती नगरवासी जनों से [अपने दोष के विषय में] पूछा किन्तु उन्होंने भी वस्तुतः राजा के केवल गुणों का ही आख्यान किया ।

प्रस्थितः स नगराद् बहिः स्वके
शासने जनपदं पिपृच्छिषुः ।
चक्रयानमधिरुह्य यन्तृमन्
मन्त्रिषूपहितराज्यशासनः ।। २५ ।।

२५. तब वह मन्त्रियों को राज्यभार देकर [आत्मदोष के विषय में] जिज्ञासा भाव से नगर से बाहर अपने राज्य के अन्तर्गत ग्रामीण क्षेत्रों में सारथियुक्त रथ पर आरूढ़ होकर गया ।

प्रान्तभूमिषु समन्ततः प्रयान्
पर्यपृच्छदखिलान् स्वदूषणम् ।
किन्तु यावदुपशल्यमन्ततो
नाप कञ्चिदपि दोषवादिनम् ।। २६ ।।

२६. उसने सीमावर्ती प्रदेशों में सब ओर जाकर अपने दोष के विषय में सभी से प्रश्न किया किन्तु ग्रामों के उस सीमा क्षेत्र तक में किसी ने भी उस का दोषकथन नहीं किया ।

अभ्रमीदधिकृतं स्वमण्डलं
सर्वमेव पृथिवीपतिस्तदा ।
चिन्तयन् प्रतिनिवर्तनं ततो
राज्यसीम्न्युपगतः स्थितश्चिरम् ।। २७ ।।

२७. तब उसने अपने अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत सम्पूर्ण मण्डल में भ्रमण किया । तब वापस लौटने की इच्छा से राज्य सीमा पर पहुँच कर देर तक वहाँ रुका ।

तावदेव खलु मल्लिकाभिधः
कोशलेश्वरवरोऽभ्युपाययौ ।
सोपि सारथियुते रथे स्थितो
भ्राम्यति स्म निजराज्यसीमनि ।। २८ ।।

२८. उसी समय कोशल देश के अधीश्वर मल्लिक वहाँ आए । वे भी सारथि युक्त रथ पर स्थित होकर अपन राज्य की सीमा में भ्रमण कर रहे थे ।

काश्यधीश्वरकुमारभूपते-
स्तुल्यमेव स बभूव धार्मिकः ।
आत्मदूषणगवेषणेच्छया
पर्यटन् समगतात्र वर्त्मनि ॥ २६ ॥

२६. कोशलाधीश भी काशी के भूपति श्रीकुमार के समान ही धार्मिक थे । [वे भी] आत्मगत दोष के विषय में गवेषणा की इच्छा से प्रेरित होकर उस मार्ग पर भ्रमण करते हुए उनसे (श्रीकुमार से) आ मिले थे ।

तावुभावपि रथस्थितौ तदा
स्वं स्वमाशु पुरमेतुमुद्यतौ ।
संकटे पथि नितान्तसंकुले
दुर्गमे युगपदेव संगतौ ॥ ३० ॥

३०. रथ पर अवस्थित वे दोनों ही अपने-अपने नगर को शीघ्र जाने (पहुँचने) को तत्पर थे । वे दोनों ही एक बहुत विषम, संकीर्ण एवं दुर्गम मार्ग पर एक साथ आ पहुँचे थे ।

तत्तु वर्त्म रथिनोः सतोस्तयो-
र्नैकदैव सुगमं द्वयोरभूत् ।
मेदिनी स्वरसमेदिनी परं
किं करोतु विषमा रथोद्धता ॥ ३१ ॥

३१. वह मार्ग [संकीर्ण होने के कारण] रथ पर आरूढ़ दोनों के लिए एक साथ जाने के योग्य नहीं था । कंकर-पत्थरों से आकीर्ण, असमान एवं रथ-संचार के लिये ऊबड़ खावड़ धरती (मार्ग) भी क्या करे ?

गन्तुमिच्छुरवदत् तदाग्रतः
कोशलेश्वररथस्य सारथिः ।
देहि मार्गमयि मत्कृते पुरः
स्वं रथं प्रतिनिवर्त्य सत्वरम् ॥ ३२ ॥

३२. तब प्रथम जाने के इच्छुक कोशलेश्वर के रथ के सारथि ने [काशी नरेश के सारथि से] कहा, 'अपने रथ को शीघ्र पीछे करके मुझे पहले मार्ग दो (जाने दो) ।'

प्रत्यवोचदथ तं विनीतवत्
काश्यधीश्वररथस्य सारथिः ।
मत्कृतेपि भवता प्रदीयतां
मार्ग, एष च निवर्त्यतां रथः ॥ ३३ ॥

३३. काशी-नरेश के सारथि ने भी विनीत भाव से उसे प्रत्युत्तर दिया

कि अपने रथ को पीछे हटाओ और मुझे भी [आगे बढ़ने का] मार्ग दो ।

सारथिः पुनरुवाच कोशला-
धीश्वरः खलु रथेऽत्र तिष्ठति ।
सद्गुणाश्रयममुष्य गौरवं
विद्धचतो रथमपाकुरु स्वकम् ।। ३४ ।।

३४. सारथि ने उत्तर दिया कि मेरे रथ में कोशल के अधिपति विराजमान हैं । उनके सद्गुणों से अलंकृत गौरव को दृष्टि में रखकर अपना रथ [पीछे] हटाओ ।

काश्यधीश्वर इहापि तिष्ठति
स्यन्दने सकललोकनन्दनः ।
इत्युवाच विनयेन तं वचः
श्रीकुमारनृपतेश्च सारथिः ।। ३५ ।।

३५. 'मेरे रथ में भी सकल प्रजाजनों को आनन्दित करने वाले काशी नरेश विराजमान हैं,'—श्री कुमार के सारथि ने ये विनीत वचन कहे ।

का गतिर्भवतु तुल्ययोर्द्वयो-
र्भूपयोर्युगपदेतयोः पथि ।
सारथी इति मिथो विचारणा-
तत्परावभवतां सविस्मयम् ।। ३६ ।।

३६. वे दोनों सारथि विस्मित होकर विचारमग्न हो गये कि मार्ग में एक साथ, समान गुणों वाले दो नृपाल विद्यमान हैं—ऐसी स्थिति में क्या करना चाहिए ।

तत्र काशिक उवाच कौशलं
सोऽग्रतो व्रजतु नावसंशयम् ।
यस्य भूपतिरिहास्ति भूतले
योग्यतातिशयितो महत्तरः ।। ३७ ।।

३७. तब काशी के सारथि ने कोशल के सारथि से कहा कि निःसन्देह वही प्रथम जाने का अधिकारी है जिसका भूपति इस भूतल पर [अपेक्षाकृत] अधिक योग्यता-सम्पन्न एवं महान् है ।

युक्तियुक्तमिति वाक्यमूचुषि
काशिके क्षितिपतेर्नियन्तरि ।
कोशलेशरथसारथिस्तदा
स्वीचकार वचनं तथास्त्विति ।। ३८ ।।

३८. काशी-भूपति के सारथि द्वारा यह युक्तिसङ्गत वचन कहने पर अर्थात् उचित समाधान प्रस्तुत करने पर कोशलेश के सारथि ने भी 'तथास्तु' कहकर उसका कथन स्वीकार कर लिया।

अस्तु तर्हि विगतात्मसंशयस्
त्वं वयः प्रकथय स्वभूपतेः ।
वृद्ध एष वयसापि सन् पुनः
स्यान्मदीयनृपतेर्महत्तरः ॥ ३९ ॥

३९. [काशीराज के सारथि ने कहा] अच्छा तो तुम अब अपना संशय दूर करके अपने भूपति का वय बताओ। यदि वे वय में ज्येष्ठ हैं तो निश्चय ही मेरे भूपति से महान् हैं।

काश्यधीशरथसारथाविति
प्रोक्तवत्युचितमाह सोऽपरः ।
श्रीमतापि वय उच्यतां निज-
क्ष्माभृतो भवतु येन निर्णयः ॥ ४० ॥

४० काशीराज के सारथि के उपर्युक्त कथन पर कोशलेश के सारथि ने भी यही युक्तिसंङ्गत बात कही कि आप भी अपने महाराज का वय बतावें जिससे निर्णय हो सके।

षष्टिरङ्ग ! शरदोऽभवद्वयो
मामकीननृपतेरितीरिते ।
यद्वयोऽस्ति तव भूपतेर्ध्रुवं
तन्ममापि भवतीत्युदैरयत् ॥ ४१ ॥

४१. काशीराज के सारथि ने उत्तर दिया, भद्र ! हमारे महाराज का वय साठ वर्ष है। उसके ऐसा कहने पर दूसरे सारथि ने कहा, जो वय आपके महाराज का है, हमारे महाराज का भी वही वय है।

एवमेव बलनीतिकौशला-
द्यप्यपृच्छ्यत तदा द्वयोरपि ।
सर्वथैव सदृशं तयोरभूद्
दृश्यमानमिह वस्तु लौकिकम् ॥ ४२ ॥

४२. इस प्रकार दोनों ही [राजाओं] के बल, नीति, कौशल आदि के सम्बन्ध में प्रश्न किये गये। ये सभी लोक-प्रत्यक्ष बातें (भौतिक सम्पत्ति) दोनों में ही एक समान निकलीं।

ज्ञातिगोत्रकुलबुद्धिकीर्तिभू-
कोषसैन्यधनधान्यसम्पदा ।
तुल्यतामुपगतावुभाविति
काशिकः स विदितोऽभ्यधात्पुनः ।। ४३ ।।

४३. जाति, गोत्र, कुल, बुद्धि, कीर्ति, भूविस्तार, कोष, सोना, धनधान्य आदि की श्रेष्ठता के विषय में भी वे दोनों समान प्रमाणित हुए । ये सब जानने के उपरान्त काशी के सारथि ने कहा ।

कथ्यतां तव नृपस्य कीदृशं
शीलमस्ति ननु कौशलप्रिय ।
शीलतोपि स महान् भवन् पुनः
स्यान्मदीयनृपतेर्महत्तरः ।। ४४ ।।

४४. हे कोशल नरेश के प्रेमभाजन ! आपके राजा का शील कैसा है ? कहो । यदि शील की दृष्टि से भी तुम्हारे महाराज वरेण्य सिद्ध होते हैं तो अवश्य मेरे महाराज से महान् हैं ।

कौशलस्त्वकथयद् यथायथं
शीलमात्मनृपतेः समासतः ।
स्वामिनो भवति यः प्रियंकर-
स्तद्गुणान् कथमसौ न वर्णयेत् ।। ४५ ।।

४५. कोशल देश के सारथि ने अपने राजा के शील का उचित प्रकार से संक्षेप में वर्णन किया । जो अपने स्वामी का हितेषी होता है, वह उस के गुणों का वर्णन क्यों न करेगा ?

मल्लिको मम चरित्रवान् नृपः
शीलवान् विनयवांश्च राजते ।
साधुकारिषु च साधुतां भजन्
पापकृत्स्वपि च कोपनो भवन् ।। ४६ ।।

४६. 'मेरे राजा मल्लिक चरित्रवान्, शीलसम्पन्न एवं विनयशील हैं । सदाचारियों से साधुता का व्यवहार करते हैं और पापियों के प्रति क्रोध प्रदर्शित करते हैं ।

यादृशी भवति यस्य भावना
तादृशीं स खलु सिद्धिमृच्छति ।
सोपपत्तिकमिदं वचः स्वयं
मल्लिकोऽत्र चरितार्थयत्ययम् ।। ४७ ।।

४७. 'जैसी जिसकी भावना होती है, वैसी ही उसे सिद्धि (फल) प्राप्त होती है' इस युक्तिसमन्वित कथन को श्री मल्लिक चरितार्थ करते हैं।

साधुना चरति साधुतां सदा
दुर्जनेन सह दुष्टतां तथा।
मार्दवञ्च मृदुना समं भज-
त्युद्धतो भवति चोद्धतेन सः ॥ ४८ ॥

४८. महाराज मल्लिक साधु के साथ साधुता का, दुष्ट के साथ दुष्टता का, मृदु (विनीत) के साथ विनय का एवं उद्धत के साथ उद्धतता का व्यवहार करते हैं।

यः शठेषु शठतां समाचरन्
नीतिशास्त्रविदुदीर्यते महान्।
तस्य मल्लिकनृपस्य सारव-
च्छीलमेतदुपपादितं मया ॥ ४९ ॥

४९. शठ के साथ शठता का व्यवहार करने वाले हमारे महाराज मल्लिक नीति शास्त्र में बड़े कुशल कहे जाते हैं। मैंने उन के शील का सारगर्भित विवरण प्रस्तुत कर दिया है।

कोशलेशचरितं निशम्य तत्
काशिकः पुनरमुं न्यवीविदत्।
एतदेव किमु वर्तते भवद्-
भूपतेश्चरितमुत्तमं महत् ॥ ५० ॥

५०. कोशलाधीश का यह चरित सुन कर काशीराज के सारथि ने निवेदन किया कि क्या यही आप के राजा का उत्तम एवं महान् चरित है ?

नाभ्यधायि भवता विशिष्टता
काचन स्वनृपशीलवर्णने।
प्राकृता अपि समाचरन्ति तां
या शठेषु शठतोपपादिता ॥ ५१ ॥

५१. आपने अपने राजा के शील वर्णन में किसी विशिष्टता का उल्लेख नहीं किया। शठ के साथ शठता के व्यवहार की जो बात आपने कही है, साधारण जन भी ऐसा ही करते हैं।

दुष्टतां चरति दुर्जनेषु यः
शीलवानिति कथं स मन्यताम्।
नेदृशं चरितमुज्ज्वलं महद्
गौरवास्पदमनिन्द्यमुच्यते ॥ ५२ ॥

५२. जो व्यक्ति दुर्जन के साथ तदनुसार ही दुष्टता का आचरण करता है, उसे शीलवान् कैसे स्वीकार किया जाय ? इस प्रकार के चरित्र को उज्ज्वल, महान्, गौरव के अनुकूल तथा अनिन्द्य नहीं कहा जा सकता।

ईदृशा यदि गुणास्त्वयादृताः
कथ्यतां तदगुणा भवन्ति के।
लौकिकोऽयमुपचार इष्यतां,
नैतदस्ति चरितं महात्मनाम् ।। ५३ ।।

५३. यदि इस प्रकार के व्यवहारों को 'गुण' संज्ञा दी जाती है तो 'दोष' किसे कहेंगे ? इसे लोकव्यवहार कह सकते हैं किन्तु महान् पुरुषों का चरित ऐसा नहीं होता।

शीलमुच्चतरमन्यदस्ति भो !
ज्ञेयमत्र भवता विशेषतः।
यत्र तद् भवति, बुध्यतामसौ
शीलवान्ननु पुमानलौकिकः ।। ५४ ।।

५४. भद्र ! शील इस से भिन्न तथा कहीं अधिक महान् होता है, आपको इसे विशेष रूप से जानना चाहिए। जिस व्यक्ति में यह गुण होता है, उसे ही अलोकसामान्य (असाधारण) शीलवान् पुरुष समझना चाहिए।

प्राजिता नृपरथस्य कौशलः
प्रत्युवाच तमवाप्तकौशलः।
सन्तु मन्नृपगुणास्तवागुणाः
कीदृशास्तु भवदीशितुर्गुणाः ।। ५५ ।।

५५. कोशल-नरेश का रथ हांकने वाले चतुर सारथि ने उसे उत्तर दिया, सम्भवतः मेरे राजा के गुण तुम्हारी दृष्टि में दोष हों किन्तु आप के स्वामी किस प्रकार के गुणों से सम्पन्न हैं ?

वाचमेवमुचितां निपीय ता-
मभ्यभाषत पुनः स काशिकः।
श्रूयतां मदवनीपतेस्त्वया
शीलमुच्चममलं गुणोज्ज्वलम् ।। ५६ ।।

५६. उस के इस युक्तिपूर्ण वचन को सुन कर काशी के सारथि ने कहा, सुनो ! मैं अपने भूपाल के निर्मल गुणों से उद्भासित महान् शील का वर्णन करता हूँ।

सत्यमेव जयतीह नानृतं
हिंसयापि न फलत्यभीप्सितम्।

इत्यहिंसनपरोऽमृषोद्यवाक्
काश्यधीश्वरवरः प्रसीदति ॥ ५७ ॥

५७. 'सत्य की विजय होती है, असत्य की नहीं, हिंसा द्वारा भी अभीष्ट-प्राप्ति नहीं होती'—ऐसा मान कर हमारे काशीराज अहिंसा-परायण तथा सत्यभाषी हैं।

शान्तिपूर्वकमयं प्रयस्यति
क्रोधमेष सुतरां निरस्यति।
साधुवद् व्यवहरन्नसाधुना-
प्युद्धतं प्रति सदैव शाम्यति ॥ ५८ ॥

५८. ये शांतिपूर्वक प्रयास करते हैं और क्रोध का सुतरां परिहार करते हैं। दुर्जन के प्रति ये साधुता का व्यवहार करते हैं और उद्धत के प्रति शम-नीति अपनाते हैं।

सत्यवाद्यनृतवादिनं जनं
दानतश्च कृपणं जयत्ययम्।
लोभमोहभयशोकवर्जितः
सौख्यमत्र लभते निरत्ययम् ॥ ५९ ॥

५९. [हमारे महाराज] असत्यवक्ता को सत्य वचन से और कृपण को दान से वशीभूत करते हैं। लोभ, मोह, भय तथा शोक से दूर रह कर निर्बाध रूप से सुख का अनुभव करते हैं।

एतदेव चरितं प्रशंसितं
शीलमप्यभिहितं महत्तरम्।
यत्सदाचरति वाङ्मनोवपुः-
स्वस्थतामुपगतोऽयमीश्वरः ॥ ६० ॥

६०. मैंने काशीनाथ के श्लाघनीय चरित और महान् शील का वर्णन किया है जिस का ये वाणी, मन और शरीर से अविकृत रह कर सतत पालन करते हैं।

इति निगदति तस्मिन् काशिकाधीशसूते
विलसति च कुमारे वाङ्मनःकायपूते।
सहकृतनिजसूतो वाचमाचम्य रम्यां
द्रुततरमवतीर्णः स्यन्दनात् कोशलेशः ॥ ६१ ॥

६१. काशीराज के सूत के ऐसा कहने पर और वाणी, मन तथा शरीर से पवित्र श्री कुमार के [सामने] होने पर अपने सारथि के साथ ही कोशल-

नरेश अपने रथ से तुरन्त नीचे उतर आए।

व्यधित सपदि वाहान् मुक्तबन्धान् प्रसन्नः
स्वरथमथ निवर्त्यायच्छदध्वानमस्मै।
नृपतिरपि कुमारः प्रीतिसम्प्रीणिताङ्गः
पुलकिततनुरुच्चैर्मल्लिकं सच्चकार ॥ ६२ ॥

६२. उसने प्रसन्न होकर अपने घोड़ों को बन्धन-मुक्त कर दिया। अपने रथ को पीछे लौटा कर उसे [जाने का] मार्ग दिया। महाराज कुमार ने भी आनन्दसंभृत अंगों से पुलकितशरीर होकर मल्लिक का बड़े प्रेम से सत्कार किया।

उभयमिलनवेला सातिधन्याभवत्तां
कथमपि गमयित्वा साधुशिक्षां च दत्त्वा।
पथि सति गतियोग्ये स्यन्दनस्थः ससूतो
भवनमवनिपालः स्वं कुमारो जगाम ॥ ६३ ॥

६३. उन दोनों के मिलन की वेला धन्य हो गई। किसी प्रकार उस वेला को बिताकर और [राजा मल्लिक को] उचित शिक्षा देकर, मार्ग के चलने योग्य हो जाने पर रथ में बैठ कर नृपति कुमार अपने सारथि सहित राज-भवन को चले गए।

गतवति च महीपे काशिके मल्लिकोऽपि
हृदि दधदविगीतं श्रीकुमारस्य शीलम्।
प्रमुदितवदनः संश्चक्रयानाधिरूढो
निजनगरमयासीत् सूतनिर्दिष्टवर्त्मा ॥ ६४ ॥

६४. काशीराज के चले जाने पर मल्लिक ने श्री कुमार के अनिन्द्य शील को हृदय में धारण किया और प्रसन्न भाव से रथारूढ होकर सारथि द्वारा निर्दिष्ट मार्ग से अपने नगर चले गए।

कथेयमानन्दयति प्रकामं
शीलं तथाख्याति मनोभिरामम्।
तस्मात् सदाचारवता जनेन
भाव्यं जगत्यां शुभकृत्यकेन ॥ ६५ ॥

६५. यह कथा अत्यन्त प्रमुदित करने वाली है और मनोभिराम शील का आख्यान करती है। इसलिए सदाचारी पुरुष को संसार में शुभ कार्य करने चाहियें।

विना सदाचारमहं विलोके
न जीवनं किंचन जीवलोके।
सदाऽपकारिष्वपि चोपकाराद्
द्रवन्मना योऽस्ति, महान् स एव ॥ ६६ ॥

६६. मैं संसार में आचारहीन जीवन को जीवन नहीं समझता। अपकारी लोगों के प्रति भी द्रवित होकर जो सदा उपकार ही करता है, वही [मेरी दृष्टि में] महान् है।

तथा महत्त्वं न धनस्य विद्यते
वृथार्जनात् तेन मनश्च खिद्यते।
यथेह शीलं सदलंकरोत्यलं
महोज्ज्वलं मानवजन्म निर्मलम् ॥ ६७ ॥

६७. धन का उतना महत्त्व नहीं है, व्यर्थ ही (सदुपयोग के विना) धन-संचय करने से मन खिन्न होता है, किन्तु इस के विपरीत शील पुरुष को अलंकृत करता है और उस से मानव जन्म अत्यन्त अवदात (पवित्र) और निर्मल हो जाता है।

नरेश अपने रथ से तुरन्त नीचे उतर आए।

व्यधित सपदि वाहान् मुक्तबन्धान् प्रसन्नः
स्वरथमथ निवर्त्यायच्छदध्वानमस्मै।
नृपतिरपि कुमारः प्रीतिसम्प्रीणिताङ्गः
पुलकिततनुरुच्चैर्मल्लिकं सच्चकार ॥ ६२ ॥

६२. उसने प्रसन्न होकर अपने घोड़ों को बन्धन-मुक्त कर दिया। अपने रथ को पीछे लौटा कर उसे [जाने का] मार्ग दिया। महाराज कुमार ने भी आनन्दसंभृत अंगों से पुलकितशरीर होकर मल्लिक का बड़े प्रेम से सत्कार किया।

उभयमिलनवेला सातिधन्याभवत्तां
कथमपि गमयित्वा साधुशिक्षां च दत्त्वा।
पथि सति गतियोग्ये स्यन्दनस्थः ससूतो
भवनमवनिपालः स्वं कुमारो जगाम ॥ ६३ ॥

६३. उन दोनों के मिलन की वेला धन्य हो गई। किसी प्रकार उस वेला को बिताकर और [राजा मल्लिक को] उचित शिक्षा देकर, मार्ग के चलने योग्य हो जाने पर रथ में बैठ कर नृपति कुमार अपने सारथि सहित राज-भवन को चले गए।

गतवति च महीपे काशिके मल्लिकोऽपि
हृदि दधदविगीतं श्रीकुमारस्य शीलम्।
प्रमुदितवदनः संश्चक्रयानाधिरूढो
निजनगरमयासीत् सूतनिर्दिष्टवर्त्मा ॥ ६४ ॥

६४. काशीराज के चले जाने पर मल्लिक ने श्री कुमार के अनिन्द्य शील को हृदय में धारण किया और प्रसन्न भाव से रथारूढ होकर सारथि द्वारा निर्दिष्ट मार्ग से अपने नगर चले गए।

कथेयमानन्दयति प्रकामं
शीलं तथाख्याति मनोभिरामम्।
तस्मात् सदाचारवता जनेन
भाव्यं जगत्यां शुभकृत्यकेन ॥ ६५ ॥

६५. यह कथा अत्यन्त प्रमुदित करने वाली है और मनोभिराम शील का आख्यान करती है। इसलिए सदाचारी पुरुष को संसार में शुभ कार्य करने चाहियें।

विना सदाचारमहं विलोके
न जीवनं किंचन जीवलोके।
सदाऽपकारिष्वपि चोपकाराद्
द्रवन्मना योऽस्ति, महान् स एव ॥ ६६ ॥

६६. मैं संसार में आचारहीन जीवन को जीवन नहीं समझता। अपकारी लोगों के प्रति भी द्रवित होकर जो सदा उपकार ही करता है, वही [मेरी दृष्टि में] महान् है।

तथा महत्त्वं न धनस्य विद्यते
वृथार्जनात् तेन मनश्च खिद्यते।
यथेह शीलं सदलंकरोत्यलं
महोज्ज्वलं मानवजन्म निर्मलम् ॥ ६७ ॥

६७. धन का उतना महत्त्व नहीं है, व्यर्थ ही (सदुपयोग के विना) धन-संचय करने से मन खिन्न होता है, किन्तु इस के विपरीत शील पुरुष को अलंकृत करता है और उस से मानव जन्म अत्यन्त अवदात (पवित्र) और निर्मल हो जाता है।

तृतीयः सर्गः

काशीक्षेत्रे प्रसिद्धाभूत् पुरा वाराणसी पुरी ।
ब्रह्मदत्तो नृपो यस्यामप्रमत्तो व्यराजत ।। १ ।।

१. प्राचीन समय में काशीक्षेत्र में वाराणसी एक प्रसिद्ध नगरी थी जहाँ राजा ब्रह्मदत्त प्रमाद रहित होकर सुशोभित थे अर्थात् शासन करते थे ।

विधिना शास्त्रदृष्टेन प्रकृतीः सोऽनुरञ्जयन् ।
असपत्नः सपत्नीकः सरत्नां भुवमन्वशात् ।। २ ।।

२. वे शास्त्रोक्त विधि से प्रजाओं का अनुरंजन करते हुए शत्रुरहित होकर, पत्नी सहित, रत्नगर्भा वसुधा के शासन में तत्पर थे ।

तस्य सौराज्ययुक्तस्य प्रिया सौम्या विचक्षणा ।
मुख्या सौभाग्यवत्यासीन्महिष्याहितलक्षणा ।। ३ ।।

३. उस शोभन राज्य सम्पन्न राजा ब्रह्मदत्त की प्रमुख रानी प्रिय, सौम्य-प्रकृति, दक्ष, सौभाग्यवती एवं शुभलक्षणों से युक्त थी ।

रमणी रमणीयांगी रममाणा चिरं मुदा ।
सम्पन्नापन्नसत्त्वा सा ब्रह्मदत्तेन भूभृता ।। ४ ।।

४. उस ललित अंगों वाली रमणी ने अपने पति के साथ चिरकाल तक प्रसन्नतापूर्वक सुखोपभोग करते हुए गर्भ-धारण किया ।

तस्याः कृताभिषेकायाः प्राविक्षत्कुक्षिमुत्तमाम् ।
दिष्ट्या बुद्धो महात्मैव बोधिसत्त्वाभिधः स्वयम् ।। ५ ।।

५. पुंसवन संस्कार के उपरान्त, सौभाग्यवश 'बोधिसत्त्व' नाम से प्रसिद्ध स्वयं महात्मा बुद्ध ने उसकी उत्तम कुक्षि में प्रवेश किया (गर्भरूप में आस्थित हुए) ।

प्राप्तकाला त्वसौ देवी शुद्धबुद्धिं जितेन्द्रियम् ।
बोधिसत्त्वाभिधं बुद्धं महात्मानमजीजनत् ।। ६ ।।

६. उचित समय पर उस देवी ने शुद्धबुद्धि वाले, जितेन्द्रिय, 'बोधिसत्त्व' नाम से विभूषित महात्मा बुद्ध को जन्म दिया ।

स बालः प्राप्तसंस्कारः स्पृहणीयगुणान्वितः ।
भृशमानन्दयामास सर्वानप्यभितो जनान् ॥ ७ ॥

७. [जात कर्म आदि] संस्कार के अनन्तर वह स्पृहणीय गुणों से समन्वित बालक अपने आस पास के सभी लोगों को अतीव आनन्द से भर देता था।

संभवन्तीदृशाः पुण्यैर्लोकाभ्युदयहेतवः ।
सफलं तद् गृहं यत्र बुद्धोऽबुद्ध विशुद्धधीः ॥ ८ ॥

८. लोक कल्याण का सम्पादन करने वाले ऐसे व्यक्ति पुण्यों से ही जन्म लेते हैं। वह घर धन्य हो गया जहाँ विशुद्धमति बुद्ध ने जन्म ग्रहण किया।

अथास्य जननादूर्ध्वं शुभमेकादशेऽहनि ।
पित्रा नाम्न कृतं प्रीत्या शीलवानिति सुन्दरम् ॥ ९ ॥

९. जन्म के ग्यारहवें दिन पिता ने बड़े प्रेम से बालक का सुंदर और शुभ नाम 'शीलवान्' रखा।

सत्स्वभावात् सदाचारात् सद्विचाराच्च सर्वथा ।
अन्वर्थसंज्ञास्तस्यासन् यथा नाम तथा गुणाः ॥ १० ॥

१०. सुन्दर स्वभाव, शुभ आचरण एवं सद्विचारों के कारण उस बालक का नाम सर्वथा सार्थक बन गया—जैसा नाम वैसे ही गुण।

राध्यन्तोऽस्मै कुमाराय गणका अप्यजीगणन् ।
सुखसम्पत्तिसौभाग्याशंसि नाम च जन्म च ॥ ११ ॥

११. ज्योतिषियों ने गणना करके कुमार का जन्म और नाम सुख, सम्पत्ति और सौभाग्य का सूचक बताया।

प्राप्तषोडशवर्षोऽसौ शीलवान्नाम माणवः ।
पारीणः सर्वशास्त्राणां राजनीत्यामधीत्यभूत् ॥ १२ ॥

१२. बालक शीलवान् सोलह वर्ष की वय प्राप्त होने पर सभी शास्त्रों में पारंगत हो गया और राजनीति की शिक्षा पाने लगा।

कथं नु समयाकुर्यात् प्रतिभावान् बुधो मुधा ।
क्रममाणा मतिः स्वच्छा न वयःक्रममीक्षते ॥ १३ ॥

१३. प्रतिभाशाला और बुद्धिमान् व्यक्ति [शिक्षा प्राप्ति में व्यर्थ ही] अधिक समय का व्यय क्यों करे? कारण, बढ़ती हुई स्वच्छ प्रज्ञा उमर के बढ़ने की अपेक्षा नहीं करती।

वयस्यल्पेऽपि शास्त्राणां रहस्यमधिजग्मुषी ।
सूक्ष्मा सर्वपथीनासीत् प्रशस्ता तस्य शेमुषी ॥ १४ ॥

१४. अल्प आयु में भी शास्त्रों के रहस्य का साक्षात्कार करने वाली उस

की प्रशस्त एवं सूक्ष्म प्रज्ञा सर्वमार्गगामिनी (सभी विषयों में अप्रतिहत) थी।

स्वतातेऽथ दिवं याते ब्रह्मदत्ते महीपतौ।
राज्यसिंहासनं पित्र्यमधितष्ठौ महामनाः ॥ १५ ॥

१५. पिताश्री महाराज ब्रह्मदत्त के दिवङ्गत होने पर महामना शीलवान् पिता के राज्य सिंहासन पर प्रतिष्ठित हुए।

राज्यासनमधिष्ठाय शुशुभे स गुणैर्यथा।
उदयाचलमारूढः शीतरश्मिर्हि शोभते ॥ १६ ॥

१६. राज्य सिंहासन पर अधिष्ठित होकर शीलवान् अपने सद्‌गुणों से इस प्रकार शोभा पाने लगे, जिस प्रकार चन्द्रमा उदयाचल पर आरूढ़ होकर शोभित होता है।

ऋजुदृष्टिर्विशुद्धात्मा करुणावरुणालयः।
चकार सर्वभूतानां भूयः श्रेयोऽनुशासनम् ॥ १७ ॥

१७. [सब के साथ] सरलता का व्यवहार करने वाले, पवित्रात्मा एवं करुणासागर शीलवान् ने प्रजाजनों को इस प्रकार की शिक्षा दी जिससे उनके श्रेय (कल्याण) की सिद्धि हो।

दरिद्रेभ्यो ददौ दानं धर्मशालाश्च निर्ममौ।
प्रजानामिष्टमादध्यौ नित्यं पुण्योदयाद् बभौ ॥ १८ ॥

१८. उन्होंने दरिद्रों को दान दिया, धर्मशालाओं का निर्माण किया तथा प्रजा के हित का चिन्तन किया। इस प्रकार नित्य पुण्योपार्जन करते हुए वे सुशोभित हुए।

सौहृदय्यं तथा मैत्रीं प्रीतिं प्राचीचरद् भुवि।
वमनस्यं घृणामीर्ष्यां हिंसाञ्चाचिच्यवत्पुनः ॥ १९ ॥

१९. उन्होंने लोक में सुहृद्‌भाव (सहृदयता), मैत्री तथा परस्पर प्रीति का प्रचार किया तथा पारस्परिक वैमनस्य, घृणा, ईर्ष्या तथा हिंसा को निरस्त किया।

पुत्रवत्पालयामास सस्नेहं सकलाः प्रजाः।
सदात्मकत्वविद्यायाः प्रतिपत्तिमुपेयिवान् ॥ २० ॥

२०. आत्मा सर्वत्र है इस ज्ञान बोध को प्राप्त कर उन्होंने प्रेमपूर्वक समस्त प्रजा का पुत्र-समान पालन किया।

संयमी शीलवान्नाम युवा शांतः स पार्थिवः।
पुण्यशीलामिलां चक्रे स्वकीययशसोज्ज्वलाम् ॥ २१ ॥

२१. उस युवक, शान्तचित्त और संयमी राजा शीलवान् ने इस पृथ्वी को अपनी कीर्ति से धवल एवं पुण्यशील बना दिया।

सन्ध्याजपोपवासादिव्रतपालनतत्परः ।
प्रशासद् विधिवद्राज्यं लभते स्म परं सुखम् ।। २२ ।।

२२. सन्ध्योपासन, जप, उपवास आदि व्रतों के अनुष्ठान में निरत शीलवान् विधिपूर्वक शासन करते हुए परम सुख का अनुभव करते थे ।

एवं वितन्वतस्तस्य राज्यकार्यं महीक्षितः ।
अधर्मश्चारिवर्गश्च न पुरे पदमादधौ ।। २३ ।।

२३. इस प्रकार राज्य-कार्यों का संचालन करते हुए उस राजा के नगर में अधर्म ने तथा शत्रुओं ने प्रवेश नहीं किया ।

सौराज्यं तस्य सम्प्रेक्ष्य कलिरीर्ष्याकुलो ननु ।
बुद्धिभ्रंशं व्यधाद्राज्ञः सचिवस्यैव हन्त भोः ।। २४ ।।

२४. उसका शासन इतना सुचारु था कि शायद कलिकाल को ईर्ष्या हो गई और उसने राजा के मन्त्री की ही बुद्धि पलट दी ।

अत एव कुवृत्तेन सुवृत्तस्यापि भूपतेः ।
अशुद्धबुद्ध्या शुद्धान्ते प्रवृत्तं दूषितश्च सः ।। २५ ।।

२५. इसी कारण उस दुराचारी ने उस सदाचारी राजा के अन्तःपुर में कुबुद्धि से प्रेरित हो कुचेष्टा की और उसे दूषित कर दिया (वहां की रानियों का सतीत्वभ्रंश कर दिया) ।

सद्वृत्तेष्वपि दुर्वृत्ताः कुटिलाः सरलेष्वपि ।
शीलवत्सु च दुःशीलाः संभवन्तीह संसृतौ ।। २६ ।।

२६. इस संसार में सदाचारियों के साथ दुराचरण करने वाले, सरल-स्वभाव सज्जनों से कुटिलता का व्यवहार करने वाले तथा सुशील व्यक्तियों के प्रति दुःशील लोग भी होते हैं ।

वैयात्यमकृतामात्यो ह्यकृतात्मा स मन्दधीः ।
दुर्भाग्योपहतो नूनं शास्त्रज्ञोऽपि विमुह्यति ।। २७ ।।

२७. उस दुर्बुद्धि तथा हीनाचार मंत्री ने [व्यभिचार की] यह धृष्टता की । शास्त्रविद् भी दुर्भाग्य से नष्टबुद्धि होकर विपरीत आचरण कर बैठता है ।

यदा शीलवतावेदि मन्त्रिणस्तस्य दुष्कृतम् ।
तदाहूय स एकान्ते पौनःपुन्येन धिक्कृतः ।। २८ ।।

२८. जब शीलवान् को मन्त्री के दुष्कृत्य का ज्ञान हुआ, उसने उसे एकांत में बुलाकर बार बार धिक्कारा ।

उक्तश्चेदं त्वया मूढ ! सचिवानुचितं कृतम् ।
कर्मणो गर्हणीयस्य त्वमस्य फलमाप्नुहि ।। २९ ।।

२९. और कहा, हे मूढ ! तूने यह अति अनुचित कृत्य किया है । अब इस कृत्य का फल तुम भोगो ।

स्पष्टं कष्टप्रदो दुष्टस्त्वं न वस्तुमिहार्हसि ।
अतः सत्वरमेतस्मान् मम राज्याद् बहिर्भव ।। ३० ।।

३०. स्पष्ट है कि तुम क्लेश देने वाले दुर्जन व्यक्ति हो और यहां रहने के योग्य नहीं हो । इसलिये तुरन्त मेरे राज्य से वाहर चले जाओ ।

स्वापतेयं स्त्रमादाय सर्वं दारगवादिकम् ।
सपद्येव त्वयामात्य ! पद्यान्याद्य प्रपद्यताम् ।। ३१ ।।

३१. हे अमात्य ! स्त्री, गाय आदि अपना सब धन लेकर आज तुरन्त एक अन्य रास्ता लो [यहाँ से अन्य स्थान के लिए चल दो] ।

स्थानान्तरमितो याहि त्वं न विश्वासभाजनम् ।
वञ्चयन् दुष्टशीलत्वात्सुशीलं कृतिनं जनम् ।। ३२ ।।

३२. यहाँ से अन्यत्र चले जाओ, क्योंकि तुम विश्वासपात्र नहीं हो । तुमने अपने दुःशील के कारण सुशील तथा निश्छल जन की प्रतारणा की है ।

इत्युक्त्वा तं स भूपालः स्वदेशान्निरवासयत् ।
संचक्ष्या ह्यसुखोदर्का सदा दुर्जनसंगतिः ।। ३३ ।।

३३. यह कहकर उस भूपति ने उसे अपने देश से निकाल दिया, क्योंकि दुष्टों की संगति का परिणाम दुःखदायी कहा गया है ।

भूभृतेत्थं समादिष्टः स मन्त्री दुष्टचेष्टितः ।
काशीराष्ट्रस्य सीमानं झटित्येवोदलङ्घत ।। ३४ ।।

३४. दुष्कृत्यकारी मन्त्री राजा के आदेश पर तुरन्त काशी देश की सीमा पार करके चला गया ।

परितोऽटाट्यमानोऽसौ सीमामुल्लङ्घ्य काशिकीम् ।
अथ कोशलदेशस्य भूपतिं शरणं ययौ ।। ३५ ।।

३५. काशी राज्य की सीमा पार कर चारों ओर (इधर उधर) घूमता हुआ वह कोशलदेश के राजा की शरण में पहुँचा ।

द्वाःस्थैः कृतप्रवेशस्तु कोशलेशमुपास्थित ।
चाटूक्तिनिपुणस्तेन सेवार्थं च नियोजितः ।। ३६ ।।

३६. द्वारपालों द्वारा प्रवेशित होकर वह कोशल नरेश के समक्ष उपस्थित

हुआ और चाटुवचन (मिथ्याप्रशंसा) कहने में अति निपुण उसे उसने नौकरी पर लगा लिया।

सेवमानः स दुर्मन्त्री प्रत्यहं कोशलाधिपम्।
अचिरेणैव कालेन तस्य विश्वासभूरभूत्॥ ३७॥

३७. वह कुमन्त्री प्रतिदिन कोशलराज की सेवा में तत्पर रहकर अल्प काल में ही उसका विश्वासपात्र बन गया।

प्रगाढप्रत्ययो भूत्वा स किंमन्त्री कदाचन।
अनिष्टमभिसंधित्सुः कोशलाधीशमभ्यधात्॥ ३८॥

३७. राजा का अत्यन्त विश्वास प्राप्त कर उस दुर्मन्त्री ने [काशीराज का] अनिष्ट करने की इच्छा से प्रेरित होकर एक दिन कोशल-नरेश से निवेदन किया :

देव ! वाराणसीराज्यं नवनीतसमं मृदु।
अस्त्यद्य मद्यमाद्यं ते क्षुद्रं क्षौद्रमिवानतम्॥ ३९॥

३९. हे देव ! वाराणसी का राज्य नवनीत के समान कोमल है। आपके लिए यह आज उत्कृष्ट कोटि के मद्य के समान है एवं स्वयं उपनत मधु के समान हैं। अतः सरलता से वश में किया जा सकता है।

तद्राजः सरलो नम्रस्वभावोऽत्यन्तकोमलः।
स्तोकया सेनयैवाशु जय्यो भवितुमर्हति॥ ४०॥

४०. उस का राजा सरल स्वभाव, नम्र तथा अत्यन्त मृदु है। थोड़ी सी सेना द्वारा ही उस पर विजय पाना शक्य है।

शीलवान् हि क्षमाशीलो न कदाप्यभिमन्यते।
अवश्यं वश्यतां नेयः स्वाभिमानवता त्वया॥ ४१॥

४१. शीलवान् नृपति क्षमाशील है, उसे अहंकार छू भी नहीं गया। आप जैसे स्वाभिमानी को अवश्य उसे वश में करना चाहिए।

गम्भीरधीरधीरस्य श्रुत्वा वाक्यं कुमन्त्रिणः।
कोशलाधीश्वरः स्वीये मनस्येवं व्यचारयत्॥ ४२॥

४२. गंभीर विचारों वाले कोशलाधीश ने उस अधीर कुमन्त्री के वचन सुनकर अपने मन में इस प्रकार विचार किया :

अस्ति वाराणसीराज्यं महीय इति विश्रुतम्।
अनीकिन्याल्पयैवादः कथं जय्यं भविष्यति॥ ४३॥

४३. ऐसा सुना है कि काशी का राज्य बहुत बड़ा है। थोड़ी सी सेना द्वारा उसे किस प्रकार विजित किया जा सकता है।

एष मन्त्री त्वसन्दिग्धं जय्यत्वं तस्य वक्त्यतः ।
मन्ये गुप्तचरोऽमुष्य राज्यस्यायं भवेदिति ।। ४४ ।।

४४. यह मंत्री उस पर हमारे निश्चित विजय की बात कहता है । मैं समझता हूँ यह उस राज्य का गुप्तचर होगा ।

आलोच्य कोशलाधीशः प्रावोचन्मन्त्रिणं पुनः ।
ननु राज्यस्य कस्यापि प्रणिधिस्त्वं प्रतीयसे ।। ४५ ।।

४५. कोशलाधीश ने इस प्रकार विचार कर मन्त्री से कहा, मुझे तुम किसी राज्य के गुप्तचर प्रतीत होते हो ।

मन्त्रिणोक्तमहं राजन् प्रणिधिर्नास्मि कस्यचित् ।
क्रियतां मयि विश्वासः प्रेष्यान् प्रेष्यावलोक्यताम् ।। ४६ ।।

४६. मन्त्री ने कहा, राजन् ! मैं किसी का गुप्तचर नहीं हूँ । मुझ पर विश्वास कीजिये और सेवकों को वहाँ भेज कर जाँच कर लीजिए ।

काशीसीमासमीपस्थान् ग्रामांस्तावदुपद्रव ।
ध्रुवं विज्ञास्यते तेन राज्ञस्तस्याविरोधिता ।। ४७ ।।

४७. काशीराज्य की सीमा के समीपवर्ती ग्रामों पर आक्रमण कर दीजिये । इससे आपको निश्चित रूप से ज्ञात हो जाएगा कि वह राजा सामना करने वाला नहीं है ।

दयालुर्मृदुरक्रूरः सर्वसत्त्वाभयप्रदः ।
सर्वथैवानलंभूष्णुः प्रतियोद्धुमसौ नृपः ।। ४८ ।।

४८. वह राजा दयालु, कोमल स्वभाव, कठोरता से रहित, सभी जीवों को अभय देने वाला और सर्वथा प्रत्याक्रमण में अशक्त है ।

सीमोपद्रावकान् सर्वान् विनिगृह्य यदा प्रजाः ।
भूपस्यान्तिकमेष्यन्ति तदा तान् स विमोक्ष्यति ।। ४९ ।।

४९. सीमा पर सभी उपद्रव करने वालों को पकड़ कर जब प्रजा के लोग राजा के पास ले जाएँगे, तब वह उन सब को मुक्त कर देगा ।

दण्ड्यानपि रिपून् प्रायः प्रेम्णा संभावयिष्यति ।
अदण्डयित्वा चैतेभ्यो धनं प्रत्युत दास्यति ।। ५० ।।

५०. वह दण्डनीय शत्रुओं के साथ भी प्रायः प्रेम पूर्ण व्यवहार करेगा । उन्हें दण्ड (ही) नहीं देगा अपितु धन प्रदान करेगा ।

इत्यमात्यवचः श्रुत्वा कोशलेशः स्वसैनिकैः ।
काशीराज्यस्य सीमान्तप्रदेशान् मङ्क्ष्वनीनशत् ।। ५१ ।।

५१. मन्त्री के ये वचन सुनकर कोशल नरेश ने शीघ्र ही अपने सैनिकों

द्वारा काशी राज्य के सीमान्त प्रदेशों का विनाश आरम्भ कर दिया ।

कोशलेश्वरसैन्येन ध्वस्तसीमाः समन्ततः ।
प्रजा दस्युगृहीतास्ताः काशीराजान्तिकं ययुः ।। ५२ ।।

५२. कोशलेश्वर की सेना द्वारा चारों ओर से सीमा प्रदेश विध्वस्त किये जाने पर प्रजा के लोग दस्युओं को पकड़ कर काशीराज के पास गये ।

ऊचुश्चैवं महाराज ! सीमाविध्वंसका इमे ।
दस्यवो दण्डमर्हन्तीत्युचितं यत्तदाचर ।। ५३ ।।

५३. उन्होंने निवेदन किया कि महाराज ! सीमा का विध्वंस करने वाले ये लोग दण्डनीय हैं । इन के साथ आप जैसा उचित समझें, व्यवहार करें ।

काशीराजस्तु धर्मात्मा शीलवान् बलवानपि ।
विशुद्धचेतसा सर्वान् परिपप्रच्छ तस्करान् ।। ५४ ।।

५४. धर्मात्मा काशीराज शीलवान् ने शक्तिमान् होते हुए भी विशुद्ध मन से उन दस्युओं से प्रश्न किया :

भद्राः ! किमिति सीमान्तप्रदेशोऽयं विनाश्यते ।
युष्माभिर्विगताशङ्कैर्यथार्थमभिधीयताम् ।। ५५ ।।

५५. हे भद्रपुरुषो ! आप किस उद्देश्य से सीमान्त प्रदेश को उपद्रवग्रस्त कर रहे हैं ? निःशङ्क होकर सत्यकथन कीजिए ।

ते प्रोचुर्जीविकोपायाभावादेतद्विनिन्दितम् ।
अकृत्यं क्षुन्निवृत्त्यर्थं जीविकाकृत्य सेव्यते ।। ५६ ।।

५६. उन्होंने उत्तर दिया, जीविका का अन्य उपाय न होने से हम भूख मिटाने (उदर पूर्ति) के लिये इस निन्दनीय एवं अकरणीय कार्य को जीविका के साधन के रूप में कर रहे हैं ।

राजोवाच कुतो यूयं न मदन्तिकमागताः ।
इच्छापूर्तिं विधातुं वः समर्थः स्यामहं ध्रुवम् ।। ५७ ।।

५७. राजा ने कहा, आप मेरे पास क्यों नहीं आये, मैं निश्चय ही आपकी इच्छापूर्ति कर सकता था ।

अस्तु तावत्पुनर्नैव सीमाध्वंसो विधीयताम् ।
इदं चाभीप्सितं द्रव्यं समादायोपभुज्यताम् ।। ५८ ।।

५८. अस्तु ! आप पुनः सीमा पर उपद्रव न कीजिए और यह अभीष्ट द्रव्य लेकर [इच्छानुसार] उपभोग कीजिये ।

एवमुक्त्वा स तान् मुक्तांश्चक्रे वित्तं च दत्तवान् ।
उपकर्ता भवेत्साधुः सदैवापकृतावपि ।। ५९ ।।

५९. यह कहकर उसने उन्हें बन्धनमुक्त कर दिया और [अभीष्ट] धन दे दिया। सज्जन व्यक्ति अपकार होने पर भी सदा उपकार ही करता है।

प्रत्यर्थिनोऽपि लब्धार्थाः कोशलाधीशमभ्ययान् ।
अखिलञ्चैव वृत्तान्तं स्वं यथास्वं न्यवेदयन् ॥ ६० ॥

६०. वे शत्रु (दस्यु) धन प्राप्त करके कोशलाधीश के पास पहुँचे और सारी घटना जैसे हुई थी, उन्होंने कह सुनाई।

तदेतदद्भुतं वृत्तमाकलय्यापि शङ्कितः ।
कोशलाधीश्वरः काशीं नैवाक्रमितुमैहत ॥ ६१ ॥

६१. यह अद्भुत वृत्तान्त सुनकर भी कोशलेश ने शंकित होकर, काशी पर [सहसा] आक्रमण करने की इच्छा नहीं की।

शनैः शनैः स निर्भीको भूत्वाश्चर्यसमन्वितः ।
शीलं शीलवतः पश्यन् काशीमध्यमुपागतः ॥ ६२ ॥

६२. धीरे धीरे वह निर्भय होकर विस्मित भाव से शीलवान् को देखता हुआ [सेना सहित] काशी के मध्य भाग तक पहुँच गया।

मध्याञ्जनपदांस्तत्र द्राक् स्वसैन्यैर्व्यनाशयत् ।
समस्तवस्तुसम्पूर्णमलुलुण्ठत् पुनः पुरम् ॥ ६३ ॥

६३. उसने अपनी सेनाओं द्वारा मध्यवर्ती जनपदों का तुरन्त विध्वंस करा दिया और पुनः समस्त [धन-धान्यादि] वस्तुओं से परिपूर्ण नगरी को लूटा।

दयावान् काश्यधीशस्तु न मनागपि चुक्षुभे ।
कोशलेशकृतं देशध्वंसं दृष्ट्वा च चक्षमे ॥ ६४ ॥

६४. दयालु काशी-नरेश जरा भी क्षुभित नहीं हुए और कोशलेश द्वारा किये गये देश के विनाश को देखकर उसे [शान्त भाव] से सहन किया।

निग्रहीतुं समर्थोऽपि न वाच्यं किञ्चिदुक्तवान् ।
धनं दत्त्वामुचत्सर्वांस्तानुपद्रवकारिणः ॥ ६५ ॥

६५. [शत्रु को] दण्ड देने में समर्थ होने पर भी उनकी निन्दा नहीं की, प्रत्युत उन सभी उपद्रवकारियों को धन देकर छोड़ दिया।

अथ कोशलभूपालः काशीराजमनुल्बणम्
अहिंस्रं धार्मिकं नम्रं व्यजानात् प्रकृतिप्रियम् ॥ ६६ ॥

६६. [यह देखकर] कोशलपति ने जान लिया कि काशीराज शान्तप्रकृति, अहिंसक, धार्मिक, विनम्र तथा मधुर स्वभाव वाले हैं।

उद्दण्डोऽसौ महीपालं तथा ज्ञात्वाऽभ्यषेणयत् ।
ससंरम्भं महारम्भः काशीराज्यजिघृक्षया ॥ ६७ ॥

६७. उस उद्दण्ड राजा ने काशीराज को तथाविध (शान्तचित्त) जान कर काशी के राज्य को अपने अधीन करने की इच्छा से बड़ी तैयारी के साथ उत्तेजित होकर [सेना लेकर] प्रस्थान किया (कूच कर दिया)।

काश्यधीशस्य सेनान्यो वाहिन्याममितौजसः ।
आसन्नासन्नसाहस्रा योद्धारः समराङ्गणे ॥ ६८ ॥

६८. काशीपति की सेना में एक सहस्र के लगभग सेनानायक थे जो समर भूमि में अतुल पराक्रमी तथा युद्धविशारद थे।

संमुखापतदुद्दाममत्तवारणवारणाः ।
स्वराष्ट्रस्वामिरक्षार्थं विहितप्राणधारणाः ॥ ६९ ॥

६९. [वे वीर सैनिक] सामने आते हुए उद्धत एवं मदपूर्ण हाथियों को भी रोकने में समर्थ थे। अपने राष्ट्र और स्वामी की रक्षा के लिए ही वे प्राणों को धारण करने वाले थे।

अपृष्ठदर्शिनो वीरा वज्रपातेऽप्यनाकुलाः ।
क्षेपीयांसो महाप्राणा मनोवाक्कायनिस्तुलाः ॥ ७० ॥

७०. वे वीर [युद्ध में] पीठ न दिखाने वाले, वज्रपात होने पर भी व्याकुल न होने वाले, क्षिप्रता से काम करने वाले, महान् ओजस्वी तथा मन-वाणी-शरीर में अपूर्व थे।

विद्युदुद्द्योतवद् दीप्राः स्वाम्यादेशवशंवदाः ।
जम्बूद्वीपजये शक्ताः शूराः सर्वेऽप्यकद्वदाः ॥ ७१ ॥

७१. वे सभी शूर विद्युत्-प्रकाश के समान प्रभापूर्ण (तेजोमय), स्वामी के आदेश का पालन करने वाले, जम्बूद्वीप के जय में सक्षम तथा [परस्पर] निन्दा न करने वाले थे।

तेन सैन्यसहस्रेण कोशलेशकृता क्षतिः ।
स्वदेशस्य यदादर्शि काश्यधीशस्तदोदितः ॥ ७२ ॥

७२. जब उन हजार सेनानियों ने कोशलेश द्वारा किया गया अपने देश का विध्वंस देखा, तब काशीराज से (इस प्रकार) निवेदन किया—

राजन्नागन्तुकः कश्चित् कोशलाख्यमहीपतिः ।
राज्यं वाराणसेयं नः संजिघृक्षुरुपाद्रवत् ॥ ७३ ॥

७३. राजन् ! बाहर से आकर कोशलनरेश ने हमारे वाराणसी राज्य को अपने अधिकार में लेने के लिए आक्रमण कर दिया है।

सीमानस्तेन विध्वस्ता मध्या जनपदा अपि ।
आततायिनमायान्तं किं न हन्याम तं वयम् ॥ ७४ ॥

७४. उसने सीमावर्ती क्षेत्रों का विनाश किया है और मध्यवर्ती जनपदों का भी। क्या हम उस बढ़ते हुए आततायी का विनाश न करें?

साम्प्रतं दीयतामाज्ञा नात्र किञ्चिदसाम्प्रतम्।
वयं गत्वा निगृह्णीमो राज्यसीमाविलङ्घिनम् ॥ ७५ ॥

७५. आप हमें [प्रत्याक्रमण की] आज्ञा दीजिए। इसमें कुछ भी अनुचित नहीं है। हम राज्य की सीमा का उल्लंघन करने वाले [शत्रु] को अभी जाकर पकड़ते हैं।

जीवग्राहं गृहीतोऽद्य श्वनाशं स तु नङ्क्ष्यति।
शठे शाठ्यविधानेन नैव दोषः प्रसङ्क्ष्यति ॥ ७६ ॥

७६. वह आज ही जीवित पकड़ा जाएगा और कुत्ते के समान विनाश को प्राप्त होगा। शठ के साथ शठता करने में कोई दोष नहीं।

स्वभटानामिदं श्रुत्वा युक्तियुक्तं वचो नृपः।
शीलवान् स दयाशीलो निर्वैरं प्रत्यभाषत ॥ ७७ ॥

७७. अपने (वीर) योद्धाओं के इन युक्तिपूर्ण वचनों को सुन कर दयालु राजा शीलवान् ने वैर भावना का परिहार करते हुए उत्तर दिया।

प्रियाः मत्कारणात् कश्चिन्नैव कष्टमवाप्नुयात्।
योऽपि राज्यं जिघृक्षुः स्याद् गृह्णीयात्स इहागतः ॥ ७८ ॥

७८. प्रिय वीरो! [मेरी यह कामना है कि] मेरे कारण किसी को कष्ट न पहुँचे। जो कोई भी मेरे राज्य को लेना चाहता है, यहाँ आकर ले ले।

युष्माभिर्न विरोद्धव्यो दातव्याश्चार्थसम्पदः।
न सार्धं कोशलेशेन लेशेनापीष्यतां भिदा ॥ ७९ ॥

७९. आपको उसका प्रतिरोध नहीं करना है, [प्रत्युत] उसे धन सम्पत्ति देनी है। कोशलपति के साथ आप को तनिक भी विरोध नहीं करना चाहिए।

हिंसैव वर्धते बह्वी हिंसकं प्रति हिंसया।
सुखमात्यन्तिकं लब्धुमहिंसैव गरीयसी ॥ ८० ॥

८०. [क्योंकि] हिंसक के प्रति हिंसा का व्यवहार करने से हिंसा की भावना ही बढ़ती है। परम (शाश्वत) सुख की उपलब्धि के लिए अहिंसा का मार्ग ही श्रेष्ठ है।

शान्त्या प्रशमयेत् क्रोधं सलिलेनेव पावकम्।
चित्तं प्रसादयेद् धीमान् सर्वभूतानुकम्पया ॥ ८१ ॥

८१. जिस प्रकार पानी से अग्नि को शांत किया जाता है उसी प्रकार शांति का आश्रय लेकर क्रोध को निरस्त करना चाहिए और जीवों पर दया

दिखा कर बुद्धिमान् को चाहिए, मन को निर्मल करे।

इत्याद्यन्वशिषद् राजा दयालुः शीलवान् भटान्।
अहिंसकः कथं कुर्याद् हिंसावृत्ति विगर्हिताम् ॥ ८२ ॥

८२. दयालु राजा शीलवान् ने उन वीरों को उपर्युक्त उपदेश दिया। अहिंसक व्यक्ति कैसे निन्दनीय हिंसावृत्ति का आश्रय ले ?

अथोल्लङ्घितसीमान्तः स्वयं कोशलभूपतिः।
मध्येजनपदं चक्रे प्रवेशमकुतोभयः ॥ ८३ ॥

८३. तब सीमा प्रदेश पार करके स्वयं कोशलनरेश ने निर्भय होकर जनपद के मध्य प्रवेश किया।

तद्वृत्तं काश्यधीशस्य सचिवैः पुनरौच्यत।
किन्तु राजा यथापूर्वं क्षमामेवान्वमन्यत ॥ ८४ ॥

८४. मन्त्रियों ने राजा को [शत्रु के जनपद प्रवेश की] घटना बताई किंतु काशीराज ने पहले के समान ही क्षमा को ही श्रेयस्कर माना।

न चुक्रोध निशम्यामुं क्रुध्यन्तमपि शात्रवम्।
श्लाघ्यमक्रोधनस्येह क्षमा वीरस्य भूषणम् ॥ ८५ ॥

८५. कुपित अर्थात् आक्रान्ता शत्रु के विषय में सुन कर भी उसने क्रोध नहीं किया, [क्योंकि] क्षमा क्रोध-शून्य वीर का प्रशंसनीय आभूषण है।

तदानीं कोशलाधीशः पुरद्वारमुपाश्रितः।
सन्देशं प्राहिणोत् काशीमहाराजस्य संनिधौ ॥ ८६ ॥

८६. तब कोशलपति ने नगर द्वार पर पहुँच कर काशी के महाराज के पास संदेश भिजवाया।

राज्यं प्रदीयतां स्वीयं युध्यतां वा मया सह।
द्वयोरेकतरः पक्षः सत्वरं प्रतिपद्यताम् ॥ ८७ ॥

८७. या तो अपना राज्य [मुझे] दे दीजिये या मेरे साथ युद्ध कीजिए। दोनों में से एक बात को तुरन्त स्वीकार कीजिए।

अहं राज्यं जिघृक्षामि दीयतां तत् त्वयाञ्जसा।
अथ बुद्धौ विरुद्धायां युद्धमद्धा विधीयताम् ॥ ८८ ॥

८८. मैं तुम्हारा राज्य लेना चाहता हूँ, उसे शीघ्र मुझे दे दो। यदि यह स्वीकार्य नहीं है तो निश्चित रूप से [मेरे साथ] युद्ध करो।

ततः काशीमहीपालो युक्तं प्रत्युत्तरं ददौ।
युद्धमावश्यकं नास्ति कदाचित्ते मया सह ॥ ८९ ॥

८९. तब काशीश्वर ने उचित उत्तर दिया कि मेरे साथ तुम्हारा युद्ध सर्वथा आवश्यक नहीं है।

नाहं युद्धमभीप्सामि न च मे प्रत्यनीकता।
त्वं वृथैवाभ्यमित्रीयो बहुधाभीलमन्वभूः ।। ९० ।।

९०. मैं युद्ध करना नहीं चाहता। मेरा तुम से वैर नहीं है। तुम ने व्यर्थ ही शत्रुता की है और अनेक प्रकार का कष्ट अनुभव किया है।

राज्यं मदीयमादत्स्व भोगान् भुक्त्वा च निर्वृणु।
रोगशोकभयस्थानं युद्धोद्योगं तु संवृणु ।। ९१ ।।

९१. तुम मेरा राज्य ले लो। भोगों का उपभोग करते हुए सुखी होओ और रोग, शोक तथा भय के कारण रूप युद्ध की तैयारी को त्याग दो।

इतस्त्वावेदितोऽमात्यैः काशीराजः पुनः पुनः।
देव ! कोशलभूपालः पुरान्निःसार्यतां बहिः ।। ९२ ।।

९२. और इधर मन्त्रियों ने काशीराज से बार-बार निवेदन किया, देव ! कोशलराज को नगर से बाहर निकाल दीजिये।

दण्डताडं प्रताड्यासौ चौरघातं विघात्यताम्।
कुटिलः सरलानस्मान् प्रतार्यानिव मन्यते ।। ९३ ।।

९३. उसे दण्डप्रहारों से पीट कर, चोर के समान मरवा दीजिये। वह कुटिल राजा हम सरल हृदय लोगों को ठगना सुगम समझता है।

भृशं मन्त्रिभिरुक्तोऽपि शीलवान् काश्यधीश्वरः।
अभियोक्तुं समर्थोऽपि तितिक्षां प्रत्यपद्यत ।। ९४ ।।

९४. मन्त्रियों के बहुत आग्रह करने पर भी काशीपति शीलवान् ने [शत्रु के] प्रतिरोध में समर्थ होते हुए भी क्षमाशीलता का अवलम्ब ग्रहण किया।

स्वैरं वैरायमाणानामपि वैरं परित्यजन्।
निग्रहापेक्षया मेने साधीयांसमनुग्रहम् ।। ९५ ।।

९५. निष्कारण वैर करने वालों के प्रति वैर भाव का त्याग करते हुए उसने दण्ड की अपेक्षा अनुग्रह को श्रेयस्कर माना।

अमन्दचन्दनस्पन्दशीतलः शीलवानिनः।
भावयामास भव्योऽसावमित्रेष्वपि मित्रताम् ।। ९६ ।।

९६. चन्दन के घन-शीतल-स्पर्श के समान सौम्य प्रकृति राजा शीलवान् ने रिपुओं के प्रति भी मैत्रीभाव अपनाया।

मनसा कर्मणा वाचा योऽनुगृह्णाति जन्तुषु।
प्रतीपेष्वपि सद्बुद्धिरसौ केनोपमीयताम् ।। ९७ ।।

९७. जो मनुष्य अपने प्रतिकूल (विरोधी) जीवों के प्रति भी मन, कर्म तथा वचन से अनुग्रह दिखाता है, ऐसे सद्विचारों वाले व्यक्ति की उपमा किस से दी जाय !

न्यषेधीत् प्रत्यवस्कन्दमनिन्द्यगुणवन्दितः ।
शीलवानुत्तमप्रज्ञः सानुक्रोशो नराधिपः ॥ ९८ ॥

९८. अनिन्द्य (श्लाघ्य) गुणों के कारण वन्दित, बुद्धिमान् तथा दयालु राजा शीलवान् ने [शत्रु पर] प्रत्याक्रमण का निषेध किया ।

सचिवाः शक्तिमन्तोऽपि राज्ञः शीलवतः स्फुटम् ।
आदेशमनुरुध्यन्तः प्रतिरोधं न चक्रिरे ॥ ९९ ॥

९९. मन्त्रियों ने सामर्थ्यवान् होने पर भी शीलवान् के आदेश का पालन करते हुए [उस का] खुल कर विरोध नहीं किया ।

अत्रान्तरे स दुर्वृत्तः कोशलेशः समुत्पतन् ।
अपावृत्य पुरद्वाराण्यध्यतिष्ठन्नृपासनम् ॥ १०० ॥

१००. इतने में दुष्ट कोशलेशने नगर द्वार खोल कर तथा वेग से वहाँ पहुँच कर राजसिंहासन पर अधिकार कर लिया ।

वाराणसीं प्रविष्टेन ससैन्येनापि सर्वतः ।
कोशलाधीश्वरेणैक्षि प्रतिरोधी न कश्चन ॥ १०१ ॥

१०१. सेना के साथ वाराणसी में प्रवेश करके भी कोशलपति ने चारों ओर कोई भी प्रतिरोध करने वाला नहीं देखा ।

अहिंसाया इवादर्शं दर्शं दर्शमनुत्तमम् ।
हिंसाप्रतिकृतिः साक्षात् कोशलेशो विसिष्मिये ॥ १०२ ॥

१०२. अहिंसा का यह श्रेष्ठ आदर्श देख कर हिंसा का साक्षात् प्रतिरूप कोशलराज विस्मित हो गया ।

सेनानीनां सहस्रेण काशीशः परिवेष्टितः ।
शशी तारागणेनेव रेजे सम्पूर्णमण्डलः ॥ १०३ ॥

१०३. एक सहस्र सेनानियों से घिरे हुए काशीराज इस प्रकार शोभा पा रहे थे, जिस प्रकार नक्षत्रों से परिवृत सम्पूर्णमण्डल चन्द्रमा शोभित होता है ।

वीतशोकभयक्रोधः स्थिरधीर्मुनिराडिव ।
तटस्थः सन्नवैक्षिष्ट कोशलेश्वरचेष्टितम् ॥ १०४ ॥

१०४. शोक, भय तथा क्रोध से रहित स्थिर चित्त राजा ने मुनिराज के समान तटस्थ भाव से कोशलेश्वर की यह दुश्चेष्टा देखी ।

पुरीं काशिराजस्य संमर्द्य बाढं
तदीयांश्च लोकान् भृशं दण्डयित्वा ।
जयोन्मादयुक्तः शठः कोसलेशो
निजान् सेवकानादिशत्क्रूरमित्थम् ।। १०५ ।।

काशीराज की नगरी को पूर्णरूपेण ध्वस्त कर और उसकी प्रजा को बहुत दण्ड देकर विजयोन्माद से युक्त दुष्ट कोशल-नरेश ने अपने सेवकों को यह क्रूर आदेश दिया—

चतुर्थः सर्गः

गम्यतां काश्यधीशोऽयं सामात्यो विनिगृह्यताम् ।
हस्तबन्धं निबध्याथ श्मशानं प्रति नीयताम् ॥ १ ॥

१. जाओ, काशीराज को मन्त्रियों सहित पकड़ लो और उसके हाथ बांध कर श्मशान में ले जाओ ।

सैकते तत्र नीत्वाशु तथा साधु निखायताम् ।
हस्तं चालयितुं शक्तो न स्याद् येनैकमप्ययम् ॥ २ ॥

२. वहां ले जाकर [इस को] सिकता (वालू) में इस प्रकार अच्छी तरह गाड़ दो, जिस से यह एक हाथ भी हिलाने में समर्थ न हो सके ।

रजन्यामेनमाक्रम्य भक्षयिष्यन्ति जम्बुकाः ।
करिष्यन्ति च तत्सर्वं यदन्यत् तैश्चिकीर्षितम् ॥ ३ ॥

३. रात में गीदड़ आक्रमण कर इसे खा लेंगे और भी वे जो कुछ [इस की दुर्गति] करना चाहेंगे, करेंगे ।

कोशलेशभुजिष्यास्तु काशीशं लब्धमन्त्रणाः ।
समन्त्रिणं क्षमाशीलं ययुराबध्य हस्तयोः ॥ ४ ॥

४. कोशलेश के सेवक यह मन्त्रणा (आदेश) पाकर मन्त्रियों सहित क्षमावान् काशीपति को उसके दोनों हाथ बांध कर ले गये ।

तदानीं स महाराजः शीलवान् विगतस्मयः ।
न स्तोकं मनसाऽप्यद्वेड् दृष्ट्वा प्रद्विषतोऽपि तान् ॥ ५ ॥

५. इस पर भी महाराज शीलवान् ने अहंकारविमुख होकर उन द्वेष करने वालों (शत्रुओं) के प्रति मन से भी तनिक द्वेष नहीं किया ।

प्रतीकाराभिलाषोऽस्य नैव चेतस्यजागरीत् ॥
निर्वैरा मन्त्रिणश्चासन् यथा राजा तथा प्रजाः ॥ ६ ॥

६. उस के मन में प्रतिकार की भावना का उदय नहीं हुआ । मन्त्रियों में भी वैरभाव नहीं था, [क्योंकि] जैसा राजा हो वैसी प्रजा होती है [अर्थात् प्रजा राजा के शील-चारित्र्य का ही अनुकरण करती है] ।

सामर्थ्ये सत्यपि प्राप्ता बन्धनं मन्त्रिणः समे ।
प्रतिकूलं वचो नोचू राज्ञ आज्ञानुकारिणः ॥ ७ ॥

७. सामर्थ्य होने पर भी सभी मन्त्री बन्धन में पड़ गये और उन्होंने राजा की आज्ञा का पालन करते हुए कोई प्रतिकूल वचन नहीं कहा ।

जिष्णुः प्रियकरा धीरा गम्भीराम्बुनिधिर्यथा ।
अविगीता विनीताऽऽसीत् परिषत् तस्य भूपतेः ॥ ८ ॥

८. महाराज शीलवान् की परिषत् विजयिनी, प्रिय कार्य करने वाली, धीर, सागर के समान गंभीर, अनिन्दित एवं विनयपूर्ण थी ।

नोदियाय मतिस्तेषां सचिवानां विरोधिनी ।
राज्ञः शीलवतः शीलमेकान्तेनावबोधिनी ॥ ९ ॥

९. उन सचिवों के मन में विरोधी विचारों का उदय नहीं हुआ । उनका मन सम्यक् रूप से शीलवान् के शील को जानता था ।

श्मशानं प्रापिपन् भृत्याः सामात्यं काश्यधीश्वरम् ।
तस्योपकण्ठे चाकण्ठं बृहद्गर्तमखानिषुः ॥ १० ॥

१०. [कोशलपति के] सेवकों ने मन्त्रियों सहित काशीनरेश को श्मशान पहुँचा दिया और उसके पास कण्ठ परिमाण तक एक बड़ा गढ़ा खोदा ।

मध्येगर्तं महाराजं यथावदवखाय ते ।
तमेव परितः शेषानमात्यान् न्यखनन् पुनः ॥ ११ ॥

११. उस गढ़े के भीतर काशीराज को अच्छी तरह गाड़ कर उसके चारों ओर शेष सभी मन्त्रियों को गाड़ दिया ।

बहिरन्तः समन्ताच्च तस्य गर्तस्य भूयसीः ।
सिकताः संप्रपूर्यायोघनेनाहसताधिकम् ॥ १२ ॥

१२. सेवकों ने उस गढ़े के बाहर, भीतर तथा चारों ओर बहुत सी बालू भर दी और हथौड़े से भूमि पर खूब प्रहार किया (भूमि को खूब कूटा) ।

एवं गतेऽपि काशीशः शीलवान् संशितव्रतः ।
अभ्यधत्त निजामात्यानिदं कल्याणकृद् वचः ॥ १३ ॥

१३. इस विषम स्थिति में भी अपने व्रत में दृढ़ निश्चयी काशीराज शीलवान् ने अपने मन्त्रियों को इस प्रकार कल्याण-साधक वचन कहे :

भद्राः सौम्याः प्रियामात्याः आदृत्याहं ब्रवीमि वः ।
भवद्भिः सत्त्वसम्पन्नैः स्थेयमव्याकुलेन्द्रियैः ॥ १४ ॥

१४. हे भद्र, सौम्य तथा प्रिय मन्त्रिगण ! मैं आप का सम्मान करते हुए यह निवेदन करता हूँ कि आप लोग [इस स्थिति में भी] धैर्य रखें और अपनी इन्द्रियों में व्याकुलता न आने दें (अर्थात् अशान्त न हों) ।

गत्वरैरसुभिः कार्यं न प्राणव्यपरोपणम् ।

सत्वरं सृत्वरैर्भाव्यं प्रतिहिंसाविजित्वरैः ॥ १५ ॥

१५. हमारे ये भंगुर प्राण [दूसरों की] प्राणहानि न करें। प्रतिहिंसा की भावना को जीत कर हमें तुरन्त गतिशील होना चाहिये।

न चोरङ्कारमाक्रोश्यः प्रत्यर्थी कोशलाधिपः।
कदाचिन्नाप्यमित्रीयाऽसूयेर्ष्या वाऽनुचिन्त्यताम् ॥ १६ ॥

१६. शत्रु कोशलराज को चोर की तरह नहीं धिक्कारना चाहिये। हमें कदापि [उस के विषय में] शत्रुता, निन्दा अथवा ईर्ष्या की भावना नहीं रखनी चाहिये।

मैत्र्येव भावनीयेष्टा सदा चित्तप्रसादनी।
न योद्धव्यं विरोद्धव्यं क्रोद्धव्यं वा कृतात्मभिः ॥ १७ ॥

१७. मन को सदा प्रमुदित करने वाली मैत्री भावना का ही अनुचिन्तन हितकर है। आप लोग विवेकशील हैं अतः न तो [शत्रु से] युद्ध करना चाहिए और न ही विरोध अथवा क्रोध।

एक आत्मैव सर्वत्र मन्तव्यः सततातः।
द्रष्टव्यः श्रवणीयश्च विज्ञेय इति मे मतम् ॥ १८ ॥

१८. एक ही आत्मतत्त्व को सर्वत्र निरन्तर समझना चाहिए। उसे ही देखना, सुनना तथा जानना चाहिए—ऐसा मेरा विचार है।

सच्चिदानन्दरूपत्वादस्य शत्रुर्न विद्यते।
एक एवायमस्मासु देहोद्भेदस्तु भिद्यते ॥ १९ ॥

१९. यह आत्मा सत्, चित् तथा आनन्द स्वरूप है, अतः इस का कोई शत्रु नहीं। हम सब में एक ही आत्मा है। केवल शरीर भिन्न हैं।

संभिन्नमात्मनात्मानं मत्वा तस्मादनारतम्।
उदासीनवदासीनैः कार्यं कार्यं विचक्षणैः ॥ २० ॥

२०. जीवात्मा को अपने से अभिन्न मान कर विवेकशील पुरुषों को सदा तटस्थ भाव से कार्य करना चाहिए।

इत्यादिशत एवास्य मध्यरात्रे समागते।
शृगालाः समुपाजग्मुर्मनुष्यामिषजग्धये ॥ २१ ॥

२१. इस प्रकार [मन्त्रियों को] आदेश देते हुए मध्य रात्रि का समय हो गया। तब वहां मनुष्य मांस का भक्षण करने के लिये शृगाल (गीदड़) आ गये।

तान् विलोक्यागतान् राजा सचिवैः सह तत्क्षणम्।
उच्चैः स्वरेण रोरूयांचक्रे कृतविभीषिकः ॥ २२ ॥

२२. उन्हें आया देख राजा ने मंत्रियों के साथ तत्क्षण उन शृगालों को भयभीत करते हुए ऊंचे स्वर से कोलाहल किया।

हस्तपादप्रतिस्तब्धाः प्रतिरोद्धुं न तेऽशकन् ।
केवलं शब्दमात्रेण तान् शृगालानबीभयन् ॥ २३ ॥

२३. बन्धन के कारण हाथ-पैरों के निश्चल होने से वे उन शृगालों का प्रतिरोध नहीं कर सके। केवल कोलाहल द्वारा उनको भयभीत करने लगे।

फेरवस्तु रवं श्रुत्वा पूर्वं प्राद्रुवन् भयात् ।
पुनर्निवर्त्य चोपेयुरदृष्ट्वा पृष्ठतःसरम् ॥ २४ ॥

२४. गीदड़ पहले तो कोलाहल सुन, भयसंत्रस्त होकर भाग खड़े हुए किंतु अपने पीछे किसी को न आते देख लौटकर फिर वहाँ पहुँच गये।

वीक्ष्य तान् पुनरप्युच्चैरशब्दायन्त तेऽखिलाः ।
क्रोष्टारोऽपि भयत्रस्ताश्चक्रिरे त्रिर्गतागतम् ॥ २५ ॥

२५. उनको आया हुआ देख कर फिर सबने बड़ा शोर मचाया। गीदड़ भी भयातुर होकर वहां तीन बार आये और गये।

अदृष्टपृष्ठानुसरा ह्यन्ततस्ते समन्ततः ।
शृगाला निर्भयाः सन्तो न पलायिषतामुतः ॥ २६ ॥

२६. अन्त में जब उन्होंने देखा कि कोई हमारा पीछा नहीं करता, तब वे शृगाल निडर हो गये और वहां से नहीं भागे।

इत्थं चाचकलन् नैभिः पुम्भिः किञ्चित्करिष्यते ।
दण्ड्यत्वादत्र निक्षिप्तैरिति कृत्वाऽवतस्थिरे ॥ २७ ॥

२७. और उन्होंने समझ लिया कि ये लोग हमारा कुछ नहीं बिगाड सकते। दण्डनीय होने से इन्हें यहां रखा गया है। यह सोचकर वे वहाँ ठहर गये।

अथ गोमायुषु स्वामी काश्यधीश्वरमभ्ययात् ।
अन्ये गोमायवश्चेयुरमात्यान् मांसगृध्नवः ॥ २८ ॥

२८. उन गीदड़ों का मुखिया काशी-अधिपति के पास पहुँचा तथा दूसरे गीदड़ मांस खाने की लालसा से मन्त्रियों के पास पहुँचे।

जम्बुकाधिपमायान्तं दृष्ट्वा भूपस्तु नीतिमान् ।
ग्रीवां तथा चकारोर्ध्वां यथासौ भक्षयेदिति ॥ २९ ॥

२९. नीतिकुशल राजा ने गीदड़ों के स्वामी को [अपनी ओर] आता हुआ देखकर अपनी ग्रीवा इस प्रकार ऊंची कर ली जिससे वह [सुगमता से] खा सके।

क्रोष्टाऽप्यवसरं लब्ध्वा तद्ग्रीवामत्तुमुद्यतः ।
बलान्निजगृहे राज्ञा स्वहन्वाकृष्य यन्त्रवत् ।। ३० ।।

३०. गीदड़ भी अवसर पाकर उसकी ग्रीवा को खाने के लिये उद्यत हुआ, किन्तु राजा ने यन्त्र के समान [वेग से] अपनी ठोड़ी नीचे खींच कर बलपूर्वक उसे दवोच लिया ।

हस्तिवर्चससम्पन्नः पार्थिवो हनुयन्त्रितम् ।
बलवत्पीडयामास क्रोष्टारं श्लथविक्रमम् ।। ३१ ।।

३१. गज-सदृश वल से सम्पन्न राजा ने उस ठोड़ी में फंसे हुए गीदड़ को इस प्रकार ज़ोर से दवाया कि उसका पराक्रम शिथिल पड़ गया ।

अभून्मोचयितुं फेरुः प्रभोरात्मानमप्रभुः ।
त्रस्तो मृत्युभयादुच्चैराचक्रन्द विनिन्दितम् ।। ३२ ।।

३२. तव वह गीदड़ काशीराज से अपने को छुड़ाने में अक्षम हो गया और मृत्यु के भय से त्रस्त होकर वुरी तरह ज़ोर से क्रन्दन करने लगा ।

आर्तमाक्रन्दनं श्रुत्वा तस्य क्रोष्टुशिरोमणेः ।
शृगालाः सकला अन्ये पलायन्त भयाकुलाः ।। ३३ ।।

३३. शृगालराज का यह करुण क्रन्दन सुनकर अन्य सभी शृगाल भयातुर होकर भाग खड़े हुए।

क्ष्माभृद्यन्त्रितगोमायुकृतभूमिविघर्षणात् ।
शिथिलाः समपद्यन्त सिकता गर्तसंश्रिताः ।। ३४ ।।

३४. राजा द्वारा पकड़े हुए और [अपनी मुक्ति के लिये] गीदड़ द्वारा किये गये भूमि घर्षण के फलस्वरूप गढ़े में भरी वालू ढीली हो गई ।

राज्ञा विज्ञेन तज्ज्ञात्वा शैथिल्यं सिकतोद्भवम् ।
शृगालः स परित्यक्तोऽचाल्येतां च करावुभौ ।। ३५ ।।

३५. विवेकशील राजा ने वालू की शिथिल स्थिति जानकर गीदड़ को छोड़ दिया और अपने दोनों हाथ हिलाये ।

इतस्ततस्तदान्दोल्य स्वहस्तयुगलं नृपः ।
कृतयत्नो बहिर्गर्तादव्यथ्यो हि निरक्रमीत् ।। ३६ ।।

३६. राजा ने इधर उधर अपने हाथों को हिलाया और यत्न करके विना किसी कष्ट के गर्त से वाहर निकल आया ।

गर्तस्योपर्यवष्टभ्य हस्तयुग्मं महाबलः ।
नचिरात्पवनध्वस्तमेघाच्चन्द्र इवोदितः ।। ३७ ।।

३७. महाशक्तिशाली काशीराज गढ़े के ऊपर हाथों को वलपूर्वक टिका

कर तत्क्षण इस प्रकार बाहर निकल आये, जैसे पवन द्वारा मेघ के विलीन किये जाने पर चन्द्र का उदय होता है।

निष्क्रान्तः स स्वयं गर्तात् सुधीः श्रान्तो महीपतिः।
सिकता अपसार्यान्यान् सचिवानप्यजीजिवत् ॥ ३८ ॥

३८. थके हुए बुद्धिमान् राजा स्वयं गढ़े से बाहर निकल आये। तत्पश्चात् बालू हटाकर उन्होंने अन्य सभी मन्त्रियों को भी जीवित किया अर्थात् गढ़े से निकाल कर प्राणसंकट से मुक्त किया।

उद्धृत्य मन्त्रिणः सर्वान् गर्तात् पितृवनस्थितात्।
समवेतः समस्तैस्तैः स क्षोणीभृदवास्थित ॥ ३९ ॥

३९. श्मशान भूमि में स्थित उस गर्त से सब मन्त्रियों को निकाल कर काशीराज उनके साथ वहीं ठहर गये।

अत्रान्तरे जनाः केचिन्मृतमानीय मानवम्।
सीमामध्ये परित्यज्यायासिषुर्यक्षयोर्द्वयोः ॥ ४० ॥

४०. इतने में कुछ लोग एक मृतक मनुष्य को वहां लाकर दो यक्षों की सीमास्थली के मध्य में छोड़ कर चले गये।

तौ यक्षौ तं गतप्राणं पुरुषं खादितुं मिथः।
नाभूतां संविभज्यालमुभौ तुल्यपराक्रमौ ॥ ४१ ॥

४१. वे दोनों समान पराक्रमी यक्ष उस मृतक पुरुष को समान रूप में परस्पर बांटकर खाने में समर्थ नहीं हुए।

ताभ्यामचिन्ति नैवावां स्वो विभक्तुमलं स्वयम्।
विगतासुममुं मर्त्यमत्तुं वा निरवग्रहम् ॥ ४२ ॥

४२. उन दोनों ने सोचा, हम इस मृतक पुरुष को स्वयं विभक्त करने में अथवा इसे विना कष्ट खाने में बिल्कुल समर्थ नहीं हैं।

एषोऽस्ति शीलवान् राजा न्यायकारीति विश्रुतः।
तत्र गत्वानुयोक्तव्यं साध्वेनं स विभक्ष्यति ॥ ४३ ॥

४३. यहाँ पर राजा शीलवान् विद्यमान है, जो न्यायकारी के रूप में अर्थात् यथोचित निर्णय देने में विख्यात है। उसके पास जाकर पूछना चाहिये। वह ठीक-ठीक विभाजन कर देगा।

एवं विचिन्त्य तौ यक्षौ मृतमादाय पादयोः ॥
विकर्षन्तावयासिष्टां राज्ञः शीलवतोऽन्तिकम् ॥ ४४ ॥

४४. यह सोचकर वे दोनों यक्ष पैरों से खींचते हुए मृतक पुरुष को लेकर राजा शीलवान् के पास गये।

अब्रूतां च महाराज ! धार्मिकस्त्वं मतोऽसि नौ ।
विभज्यायं यथान्यायमावाभ्यां सम्प्रदीयताम् ।। ४५ ।।

४५. उन्होंने निवेदन किया, महाराज ! आप हमारी दृष्टि में धार्मिक (न्यायकारी) पुरुष हैं । कृपया इस मृतक पुरुष को उचित रीति से (समान रूप से) बांटकर हमें दे दीजिये ।

शीलवांस्त्वगदद् दक्षस्तदा क्षोदक्षमं वचः ।
संविभक्ष्यामि वां भक्ष्यमिमं न्यायेन मानवम् ।। ४६ ।।

४६. तब नीतिकुशल शीलवान् ने उन्हें यह युक्ति-सङ्गत बात कही कि मैं तुम्हारे इस मानव का जिसे तुम्हें खाना है, ठीक-ठीक विभाजन कर दूंगा ।

किन्तु दूषितगात्रोऽहं सिकतारेणुरूषितः ।
निर्मलं जलमिच्छामि स्नातुमात्मविशुद्धये ।। ४७ ।।

४७. किन्तु मेरा शरीर वालूकणों से मलिन होने के कारण दूषित हो गया है । मैं आत्मशुद्धि के लिये स्नानार्थ निर्मल जल चाहता हूँ ।

अवदातवपुर्भूत्वा सत्यं गृह्णीत मे वचः ।।
विभज्याहं प्रदातास्मि युवाभ्याममुकं मृतम् ।। ४८ ।।

४८. मेरा वचन सच जानो । मैं [स्नान द्वारा] शरीर को पवित्र बनाकर उस मृतक पुरुष का यथावत् विभाग करके आपको दे दूंगा ।

अत आनीयतां तोयं मम स्नानाय निर्मलम् ।
शुचीभूय करिष्यामि युवयोः कार्यमादरात् ।। ४९ ।।

४९. अतः आप मेरे स्नान के लिए निर्मल जल ले आइये । पवित्र होकर मैं आप का काम मनोयोगपूर्वक करूँगा ।

कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नमसाऽऽकर्ण्य वर्णितम् ।
राज्ञः कार्यार्थिनौ यक्षौ बद्धकक्षौ बभूवतुः ।। ५० ।।

५०. राजा के वचन सुनकर उसका कार्य करने के लिये वे दोनों यक्ष उसी समय उद्यत हो गये ।

कोशलाधीश्वरावासं शीघ्रमीयतुरन्तिकम् ।
सुगन्धि सलिलं हृद्यं तत्रैक्षेतां च निर्मलम् ।। ५१ ।।

५१. वे कोशलराज के निवास पर तुरन्त पहुँच गये और वहाँ उन्होंने सुगन्धित मनोहारी एवं स्वच्छ जल [रखा हुआ] देखा ।

तिष्ठति स्म समाक्रम्य काशीं कोशलभूपतिः ।
यद्राजः शीलवांस्तेन बहिरुत्सारितो बलात् ।। ५२ ।।

५२. कोशलराज काशी पर आक्रमण कर वहाँ रह रहा था, तथा उसके

राजा शीलवान् को उसने बलपूर्वक बाहर निकाल दिया था।

तत्र गत्वा पुरे यक्षौ निजमायाबलेन तौ।
कोशलाधीशसंसेव्यं जलमाजह्रतुर्नतौ ॥ ५३ ॥

५३. वे दोनों विनीत यक्ष अपनी माया की शक्ति से उस नगरी में जाकर कोशलराज के उपयोग के लिए रखा हुआ पानी ले आये।

तदानीतेन शीतेन सलिलेन सुगन्धिना।
स्नातो निर्णिक्तगात्रोऽभूद् भूपतिः शीलवांस्ततः ॥ ५४ ॥

५४. उनके द्वारा लाये हुए शीतल एवं सुगन्धित जल से स्नान कर भूपति शीलवान् का शरीर स्वच्छ हो गया।

तस्यैव कोशलेशस्य भवनादाहृतान्यथ।
अददातां महार्हाणि राज्ञे वासांसि तावुभौ ॥ ५५ ॥

५५. उसी कोशलपति के भवन से उन दोनों ने बहुमूल्य वस्त्र लाकर राजा शीलवान् को दिये।

निर्वर्तिताभिषेकाय धारितोज्ज्वलवाससे।
सुगन्धद्रव्यमञ्जूषामाहृषातां च मञ्जुलाम् ॥ ५६ ॥

५६. स्नान के उपरान्त शीलवान् ने उजले वस्त्र धारण किये। तब वे दोनों राजा के लिये सुगन्धित द्रव्यों की सुन्दर मंजूषा ले आये।

चन्दनागुरुकस्तूरीकुङ्कुमादिसमुद्भवः।
गन्धश्चतुर्विधो यत्र स्फुरति स्म निरन्तरम् ॥ ५७ ॥

५७. वहाँ चन्दन, अगुरु, कस्तूरी, कुंकुम आदि से उत्पन्न चार प्रकार की सुगन्धि निरन्तर फैल रही थी।

पुनः स्नातानुलिप्ताय स्थितानि मणिभाजने।
सुरभीणि प्रसूनानां गुच्छान्यच्छान्ययच्छताम् ॥ ५८ ॥

५८. फिर स्नान तथा [चन्दनादि के] अनुलेप के बाद उन्होंने पुष्पों के सुगन्धित एवं सुन्दर स्तवक मणिपात्र में रखकर राजा को अर्पित किये।

सर्वमेतदनुष्ठाय शीलवन्तमपृच्छताम्।
आवां किमधुना कुर्वः श्रीमतोदीर्यतामिति ॥ ५९ ॥

५९. यह सब कार्य करने के पश्चात् उन्होंने शीलवान् से पूछा—अब हम आपकी क्या सेवा करें, आज्ञा दीजिये।

राजोवाच ममेदानीमशनाया प्रवर्तते।
भोक्तुमिच्छाम्यहं किञ्चिद् भोज्यमानीयतामिति ॥ ६० ॥

६०. राजा ने कहा, अब मुझे क्षुधा की प्रतीति हो रही है, अब मैं कुछ

खाना चाहता हूँ, मेरे लिये भोजन ले आइये ।

तावत्येव गतौ यक्षौ कोशलेश्वरसंश्रयम् ।
तत्र चापश्यतां भोज्यं प्राज्यव्यञ्जनसंधितम् ॥ ६१ ॥

६१. वे यक्ष तुरन्त कोशलाधीश के भवन में पहुँच गये, वहाँ उन्होंने प्रचुर व्यंजनों से सज्जित भोज्य पदार्थ देखे ।

साधितं कोशलार्थं यत्तदन्नं सुपरिष्कृतम् ।
षड्रसं रुच्यमास्वाद्यं नृपायाहरतामुभौ ॥ ६२ ॥

६२. षड्-रसों से पूर्ण, रुचिकर, स्वादु एवं सुसंस्कृत जो अन्न (भोज्य) कोशलपति के निमित्त तैयार किया गया था, उसे वे यक्ष राजा शीलवान् के लिये ले आये ।

स्नात्वा शुद्धोऽनुलिप्ताङ्गः शुभवासाः स्वलङ्कृतः ।
प्रसन्नहृदयो राजाऽभुङ्क्त भोज्यमुपस्कृतम् ॥ ६३ ॥

६३. स्नान द्वारा पवित्र होकर, चन्दनादि का अनुलेपन कर, सुन्दर वस्त्राभूषणों से विभूषित होकर प्रसन्न मन वाले राजा ने स्वादु भोजन ग्रहण किया ।

क्षोदीयसो नृशंसस्य यक्षौ कोशलभूभृतः ।
हिंसावृत्तेरवस्कन्तुः पुनर्वेश्मनि जग्मतुः ॥ ६४ ॥

६४. तब वे यक्ष उस क्षुद्र, क्रूर, हिंसापरायण तथा आक्रमणकारी कोशलपति के निवास पर पहुँचे ।

राज्ञे शीलवते स्वादु सुगन्धि विमलं जलम् ।
उदकुम्भीं च सौवर्णीं शरावांश्चोपनिन्यतुः ॥ ६५ ॥

६५. और राजा शीलवान् के लिये स्वादु, सुगन्धित एवं निर्मल जल तथा सुवर्ण कलश और जलपान के पात्र ले आये ।

पीतं स्फीतं जलं राज्ञा क्षालितं च मुखादिकम् ।
अथोपाहारि यक्षाभ्यां ताम्बूलं सौरभान्वितम् ॥ ६६ ॥

६६. राजा ने तृप्तिदायी जल का सेवन किया और मुखादि का प्रक्षालन किया । तब यक्षों ने सुगन्धित ताम्बूल उसकी सेवा में प्रस्तुत किया ।

सुगन्धः पञ्चधा यस्मिन्नुल्ललासातिसुन्दरः ।
यथेष्टं रसयित्वा तत् प्रकामं पिप्रिये नृपः ॥ ६७ ॥

६७. ताम्बूल में पांच प्रकार की अति सुन्दर सुगन्ध थी । उसका पर्याप्त आस्वाद लेकर राजा अतीव प्रसन्न हुआ ।

स्वस्थे राजनि संवृत्ते यक्षौ पप्रच्छतुः पुनः ।
सेवामावां विदध्याव कामन्यामित्युदीर्यताम् ॥ ६८ ॥

६८. राजा के सन्तुष्ट होने पर यक्षों ने पुनः उन से पूछा हम आपकी और क्या सेवा करें, कहिये ।

नृपः प्राह मदीयायां राजधान्यां प्रयायताम् ।
खड्गो माङ्गलिकस्तस्माद् द्रुतमानीयतां पुरात् ॥ ६९ ॥

६९. राजा ने कहा—मेरी राजधानी में जाइये और उस नगरी (काशी) से मांगलिक खड्ग शीघ्र ले आइये ।

असिना तेन कर्ताहि शवस्यास्य विभाजनम् ।
भक्षयित्वाऽऽमिषं येन युवामामोदमाप्स्यथः ॥ ७० ॥

७०. मैं उस खगड् से इस शव का विभाजन करूँगा जिससे इसका मांस खाकर तुम दोनों प्रसन्न होओगे ।

क्षिप्रमानिन्यतुः खड्गं तौ महीपतिचोदितौ ।
को विलम्बः समर्थानां नियोज्यानां क्रियावताम् ॥ ७१ ॥

७१. राजा से आज्ञा पाकर वे दोनों तुरन्त खड्ग ले आये । शक्तिशाली और कार्यपटु सेवकों के लिये विलम्व कैसा ?

खड्गमादाय हस्तेन राज्ञा शीलवता ततः ।
मृतकस्यावदानाय सत्वरं समनह्यत ॥ ७२ ॥

७२. तब मृतक शरीर को काटने के लिये हाथ में खड्ग लेकर राजा शील-वान् शीघ्र उद्यत हो गये ।

शवः स ऊर्ध्वमुत्थाप्य संमुखीनो व्यधीयत ।
अवादीयत खड्गेन पुनर्मस्तकमध्यतः ॥ ७३ ॥

७३. उन्होंने शव को ऊपर उठाकर अपने सामने रख लिया और खड्ग द्वारा मस्तक के मध्य भाग से उसे काट दिया ।

समं खण्डद्वयं कृत्वा यक्षाभ्यां संव्यभज्यत ।
शस्त्रं तद्रक्तसंश्लिष्टं सलिलेनोदमृज्यत ॥ ७४ ॥

७४. उसके दो समान भाग करके यक्षों को वांट दिया और उसके रक्त स सने शस्त्र को जल से धो दिया ।

यथोचितविभागेन तौ यक्षौ गतमत्सरौ ।
प्राश्य मांसं मनुष्यस्य नितान्तं मोदमापतुः ॥ ७५ ॥

७५. इस यथोचित विभाग से उन यक्षों का परस्पर ईर्ष्याभाव (कलह) दूर हो गया और वे मनुष्य का मांस खाकर अतीव प्रसन्न हुए ।

प्रहृष्टावन्वयुङ्क्तां शीलवन्तं क्षमाभृतम् ।
परिचर्यास्मदर्हाऽन्या महाराजोच्यतां त्वया ॥ ७६ ॥

७६. प्रसन्न होकर उन्होंने फिर भूपति शीलवान् से पूछा कि हमारे योग्य और कोई सेवा कार्य आप बतावें ।

श्रीमता साधितं तावदस्मत्कार्यमभीप्सितम् ।
आवाभ्यामपि तेऽभीष्टं किञ्चित्कार्यं विधीयताम् ॥

७७. आपने हमारा अभीष्ट कार्य सिद्ध किया है । अतः हमें भी आपका अभीष्ट कार्य (मनोरथ) सम्पादित करना चाहिए ।

उवाच शीलवान् यक्षौ युवां स्थः शक्तिशालिनौ ।
निजशौर्यप्रतापेन नयतं मां मदाश्रयम् ॥ ७८ ॥

७८. शीलवान् ने कहा, हे यक्षो ! तुम दोनों शक्ति-सम्पन्न हो । अपने शौर्य-पराक्रम से मुझे मेरे निवासभवन में पहुँचा दो ।

साम्प्रतं कोशलाधीशस्तदाक्रम्यावतिष्ठते ।
तदीयशयनागारे युवां प्रापयतं हि माम् ॥ ७९ ॥

७९. इस समय वहां कोशलाधीश ने अपना अधिकार किया हुआ है । तुम दोनों मुझे उसके शयनागार में पहुँचा दो ।

इमे च सचिवाः सर्वे प्राप्याः स्वं स्वं गृहं प्रति ।
इत्येवास्त्यभिलाषो मे युवाभ्यामेष पूर्यताम् ॥ ८० ॥

८०. और इन सभी मंत्रियों को अपने अपने घर पहुँचा दो । मेरी यही अभिलाषा है, इसे आप दोनों पूर्ण कर दें ।

प्रतिपद्य तथैवेति यक्षावुक्तं वितेनतुः ।
राजानं शयनागारे तदानीमेव निन्यतुः ॥ ८१ ॥

८१. राजा की बात स्वीकार कर यक्षों ने वैसे ही किया । वे उसी क्षण राजा को शयनागार में ले गये ।

तत्रादर्शि नृपेणोत्वा यामिन्यां कोशलेश्वरः ॥
शयितोऽसंशयं शय्यामधिशय्य दुराशयः ॥ ८२ ॥

८२. राजा ने रात्रि के समय वहां जाकर निःशंक, शय्या पर सोये हुए दुरात्मा कोशलराज को देखा ।

वपुः शीलवताऽस्पर्शि स्वपतोऽस्यासिकोटिना ।
शय्योत्थायमसौ भीतोऽभवत्सम्भ्रान्तलोचनः ॥ ८३ ॥

८३. शीलवान् ने अपने खड्ग की नोक से, सोते हुए [उस] राजा के शरीर

का स्पर्श किया। वह शय्या छोड़कर उठा और भयभीत हो गया, उसकी आंखें व्याकुल हो गईं।

प्रदीपस्य प्रकाशेन शीलवन्तं विलोक्य सः।
संजातप्रत्ययोऽकस्मादेतमेतमवोचत ॥ ८४ ॥

८४. दीपक के प्रकाश में शीलवान् को देख कर उसका विश्वास [धीरज] बंधा और उसने वहां अतर्कित रूप में शीलवान् को आया हुआ देख कर कहा :

अगारे पिहितद्वारे निरुद्धे द्वाररक्षकैः।
उद्यतासिः कथं रात्रावत्र शत्रुवदाक्रमीः ॥ ८५ ॥

८५. द्वारपालों द्वारा रक्षित, वन्द द्वार वाले भवन में प्रवेश कर तुमने खड्ग-हस्त होकर किस प्रकार शत्रु के समान आक्रमण किया ?

असूचयित्वा मां पूर्वमनापृच्छ्य च यामिकान्।
कथंकारमिहार्येण भवतागमनं कृतम् ॥ ८६ ॥

८६. मुझे पूर्व सूचना न देकर तथा प्रहरियों से प्रवेशाज्ञा न पाकर किस प्रकार आप यहां आये हैं ?

इति कोशलभूपस्य श्रुत्वा वाक्यं सविस्तरम्।
शीलवानप्यतिक्रान्तं स्ववृत्तान्तमवर्णयत् ॥ ८७ ॥

८७. कोशलेश्वर के इस प्रकार के वचन सुनकर शीलवान् ने आप बीती घटना सविस्तार वर्णित कर दी।

त्वयाऽहं सरुषाऽऽक्रान्तः प्रत्युक्तः परुषाक्षरम्।
सामात्यस्त्याजितः काशीं श्मशानं चैव लम्भितः ॥ ८८ ॥

८८. तुमने क्रुद्ध होकर मुझ पर आक्रमण किया, कठोर वचन कहे, मन्त्रियों सहित काशी से निकाल दिया और श्मशान में पहुँचा दिया।

साधीयसी न हिंसा ते यया कार्यमकार्यथाः।
तितिक्षामवलम्ब्याहं विपदस्ता विसोढवान् ॥ ८९ ॥

८९. तुम्हारे लिये हिंसा का आश्रय लेना श्रेयस्कर नहीं है। तुमने क्रूर कृत्य मेरे प्रति करवाये। मैंने क्षमारूपी नौका पर आरोहण कर उन विपत्तियों को सहन कर लिया (पार कर लिया)।

न तितिक्षासमं किञ्चिदस्ति साधनमुत्तमम्।
तितिक्षानावमारुह्य तीर्यास्त्वं विपदापगाः ॥ ९० ॥

९०. सहिष्णुता के समान [विपत्तियों के निरास का] कोई अन्य उत्तम उपाय नहीं है। क्षमा रूपी नाव पर चढ़कर तुम [भी] विपत्ति रूपी सरिताओं को पार करो।

इति काशीश्वरस्यादो निपीय वचनामृतम् ।
अमन्दानन्दपाथोधौ न्यमाङ्क्षीत् कोशलेश्वरः ।। ६१ ।।

६१. काशीश्वर के इस वचनामृत का पान कर कोशलाधिपति आनन्द के गहन सागर में निमग्न हो गया।

भूयः पुलकितो भूत्वा शीलवन्तं जगाद सः ।
नाहं वेद महत्त्वं ते भवानतिमहान् मतः ।। ६२ ।।

६२. उसने तव अत्यधिक पुलकित होकर शीलवान् से कहा। आप अति महान् हैं, मैंने [अज्ञानवश] आप का महत्त्व नहीं समझा था।

भवन्नपि मनुष्योऽहं नाविदं तव सद्गुणान् ।
मांसाशिनौ पुनर्यक्षाववित्तां साधु यान् नृप ।। ६३ ।।

६३. हे राजन्, मैंने मनुष्य होकर भी आपके सद्गुणों को नहीं पहचाना जवकि मांस भक्षी यक्षों ने उनको वहुत अच्छी तरह जान लिया।

बालिशत्वादहं तावदेतावन्तमनेहसम् ।
तुभ्यमद्रुह्यमक्रुध्यं तदागो मम मृष्यताम् ।। ६४ ।।

६४. मैंने मूर्खतावश इतने समय तक आप के प्रति द्रोह किया और क्रोध प्रदर्शित किया। कृपया आप मेरे उस अपराध को क्षमा कीजिये।

नातः परतरं श्रीमन् ! त्वामभिद्रोहिताऽस्म्यहम् ।
प्रत्यहं भावयिष्यामि गुणानेव तवाद्भुतान् ।। ६५ ।।

६५. श्रीमन् ! मैं इसके वाद कभी आपसे द्रोह नहीं करूँगा [भेद-भाव नहीं रखूँगा] और सदा आप के अद्भुत गुणों का ही अनुचिन्तन करता रहूँगा।

श्रीमान् धीमान् मया ज्ञातो वस्तुतः शीलवान् भवान् ।
अहं नराधमो नूनं मन्ये त्वां पुरुषोत्तमम् ।। ६६ ।।

६६. मैंनें जान लिया है कि आप बुद्धिमान् एवं यथार्थ में शीलवान् (शील सम्पन्न) हैं। मैं निस्सन्देह नराधम हूँ। मैं आपको पुरुषोत्तम मानता हुँ।

इत्याद्युक्त्वाऽनुतप्तात्मा तं प्रीत्याऽऽशयतासुकः ।
क्षमयित्वा च राजानं शय्यायां तमसूषुपत् ।। ६७ ।।

६७. इस प्रकार की बातें कहकर (अपने कुकृत्य पर) पश्चात्ताप करते हुए उसने शीलवान् को प्रेमपूर्वक भोजन कराया और उससे क्षमा माँगकर उसे शय्या पर सुलाया।

स्वयञ्च खट्विकां लघ्वीमधिशय्याशयिष्ट सः ।
नम्रता कम्रतां लेभे हिंस्रस्याहिंसकं प्रति ।। ६८ ।।

६८. स्वयं वह छोटी शय्या पर सोया। [इस प्रकार] हिंसक की अहिंसक

के प्रति नम्रता कमनीय हो गई ।

प्रत्यूषे कोशलाधीशस्त्यक्तविद्वेषभावनः ।
लब्धकाशीशसौहार्दो जजागारात्मपावनः ॥ ९९ ॥

९९. प्रभात होने पर, द्वेष की भावना का त्याग कर, तथा काशी-पति की मित्रता प्राप्त कर, अपने को पवित्र बनाने वाले कोशलनरेश जागे ।

सैनिकान् सचिवान् विप्रान् सर्वांश्च गृहमेधिनः ।
एकीकृत्य समज्यायां विज्ञानित्थमजिज्ञपत् ॥ १०० ॥

१००. उन्होंने सैनिकों, सचिवों, ब्राह्मणों, गृहस्थों एवं विद्वानों को सभा में एकत्रित कर इस प्रकार निवेदन किया ।

श्रूयतां पारिषद्या भोः ! शीलवानेष पुण्यवान् ।
सद्गुणाभरणः श्रीमान् ! काशीराजो विराजते ॥ १०१ ॥

१०१. हे सभासदो ! सुनिये, यह पुण्यात्मा, सद्गुणों से विभूषित श्रीमान् काशीराज शीलवान् विराजित हैं ।

मया कोशलभूपेन प्रजा अस्य विनिघ्नता ।
अत्यर्थं क्लेशितो राजा काशीमाक्रामता सता ॥ १०२ ॥

१०२. मैंने अर्थात् कोशलपति ने काशी पर आक्रमण कर तथा इस की प्रजा का विनाश कर राजा शीलवान् को अत्यन्त कष्ट पहुँचाया है ।

अहिंसावृत्तिनानेन नाहं हिंस्रोऽपि हिंसितः ।
दयावताऽवता लोकान् मदिच्छाऽपूरि सूरिणा ॥ १०३ ॥

१०३. अहिंसाव्रती [शीलवान्] ने मुझ हिंसापरायण की भी हिंसा नहीं की । दयालु तथा बुद्धिमान् शीलवान् ने प्रजा की रक्षा कर मेरी इच्छा पूर्ण की ।

अहमस्य गुणान् वक्तुं नैव शक्नोमि मन्दधीः ।
अनेन साधुशीलेन घातुकोऽहं पराजितः ॥ १०४ ॥

१०४. अल्पज्ञ होने के कारण मैं इसके गुणों का वर्णन करने में समर्थ नहीं हूँ । इस साधु प्रकृति काशीराज ने मुझ हिंसक को पराजित कर दिया ।

एनमर्भ्यहितं याचे दोषो मे क्षम्यतामिति ।
स्वञ्च वाराणसीराज्यं कृपया गृह्यतामिति ॥ १०५ ॥

१०५. मैं आदरणीय शीलवान् से प्रार्थना करता हूँ कि मेरा अपराध क्षमा कर दें और अपने वाराणसी राज्य को ग्रहण कर अनुगृहीत करें ।

न कदापि करिष्येऽहं दुश्चेष्टां पुनरीदृशीम् ।
परद्रव्यापहारो हि मरणं प्राणिनां ध्रुवम् ॥ १०६ ॥

१०६. मैं फिर कभी इस प्रकार का दुष्कृत्य नहीं करूँगा । परायी सम्पत्ति

का अपहरण करना निश्चय ही प्राणियों का मरण है (गर्हित होने से मरण-तुल्य है)।

इत्यावेद्य तदैवासौ कोशलेशः कृताञ्जलिः।
काशीराज्यं समर्प्यैनं विनयावनतोऽब्रवीत् ॥ १०७ ॥

१०७. इस प्रकार निवेदन कर उसी समय कोशलेश ने अञ्जलि बांधकर उन्हें काशीराज्य समर्पित कर दिया और विनीत भाव से कहा :

अद्यप्रभृति हे राजन् ! भवद्राज्यस्य सेवकः।
अहमेव भविष्यामि तस्कराणां निरीक्षकः ॥ १०८ ॥

१०८. हे राजन् ! आज से मैं आप के राज्य का सेवक हूँ। अब मैं स्वयं आक्रान्ता दस्युओं का निरीक्षण (प्रतिरोध) करूँगा।

अहं दौवारिको भूत्वा सेविष्ये त्वामहर्दिवम्।
राजीभूय भवान् भूयः पृथिवीमनुशास्त्विमाम् ॥ १०९ ॥

१०९. मैं द्वाररक्षक बनकर आपकी दिन-रात सेवा करूँगा। आप पुनः राजा बनकर इस पृथ्वी (राज्य) पर शासन करें।

विमलकीर्तिरुदारमतिर्भवान्
अनुचितं क्षमतां मम दुष्कृतम्।
क्षितिपतेस्तव सेवकतामितः
सुहृदहं हृदहंकृतिवर्जितः ॥ ११० ॥

११० उदार एवं निर्मल कीर्ति वाले आप मेरे इस अनुचित दुष्कृत्य को क्षमा करें। आप राजा हैं मैं आपका सेवक तथा हृदय की अहंकार भावना से शून्य सुहृद् हूँ।

एवं निर्वर्त्य सत्कार्यं सत्कार्य च महीपतिम्।
अभिवाद्य निवृत्तोऽसौ ससैन्यः कोशलेश्वरः ॥ १११ ॥

१११. इस प्रकार [राज्य प्रत्यावर्तनरूप] शुभ कार्य कर और काशी-अधिराज का सत्कार कर सेना सहित कोशलेश्वर [अपने राज्य को] वापस चला गया।

तदनन्तरमेव शठः सचिवो
नृपयोरुभयोरपि हानिकरः।
समदण्ड्यत कोशलभूपतिना
न सुखेन हि तिष्ठति दुष्टजनः ॥ ११२ ॥

११२. तत्पश्चात् दोनों राजाओं को हानि पहुँचाने वाले दुष्ट मंत्री को कोशल भूपति ने दण्डित किया। दुष्ट लोग सुख से नहीं रह सकते।

पञ्चमः सर्गः

पुरे प्राचि वाराणसीनाम्न्युदात्ते
भुवं शासति श्रीमति ब्रह्मदत्ते ।
मनुष्यास्त्रयो जङ्गले लाङ्गलेन
कृषन्ति स्म भूमीमकृष्टामदुष्टाः ।। १ ।।

१. पूर्व दिशा में स्थित वाराणसी नामक रमणीय नगरी में श्रीमान् ब्रह्मदत्त राज्य करते थे । वहाँ तीन सज्जन हल द्वारा जंगल में विना जुती भूमि को जोता करते थे ।

कदाचित् मुषित्वा जनान् राजभीता
धनं तद्वनं दस्यवः सम्प्रविष्टाः ।
प्रयत्ने कृतेऽप्यप्रतीता गृहीता
न ते राजकीयैर्नृभिः प्रद्रवन्तः ।। २ ।।

२. एक वार लोगों का धन लूट कर दस्यु लोग राजभय से उस घने जंगल में घुस गये । यत्न करने पर भी राज-पुरुषों (सिपाहियों) को उन का पता न चला और वे भागने वाले पकड़े नहीं गये ।

उपेत्याटवीं तां ततो राजलोका
महीं कर्षतो नॄन् विलोक्येदमूचुः ।
अरे दस्यवो यूयमस्मान् प्रतार्य
कृषन्तोऽवनिं कर्षकाः सम्प्रति स्थ ।। ३ ।।

३. तब राजपुरुषों ने उस वन में पहुँच कर भूमि जोतते हुए [उन तीन] व्यक्तियों को देख कर कहा अरे तुम लोग डाकू हो, हमें धोखा देकर अब किसान बन गये हो और भूमि जोतने में लगे हो ।

तदाऽतस्करत्वेऽपि तेषां त्रयाणा-
मभूद् दस्युसन्देह एवाविशेषात् ।
समाने वने हन्त काले समाने
भवेत्संशयो राजनॄणामवश्यम् ।। ४ ।।

४. चोरी न करने पर भी उन तीनों पर सामान्यतः दस्यु होने का सन्देह हो गया । क्योंकि स्थान (वन) और समय के समान होने से [उन्हें वहाँ देख कर] राजपुरुष उन पर अवश्य सन्देह करेंगे ।

सदोषोऽस्त्ययं दोषहीनोऽथवेति
स्थिते संशये नैव शक्यं प्रवक्तुम् ।
यतो वस्तुतस्तस्करास्तु प्रनष्टाः
स्थितास्ते त्रयस्तत्र दुष्टाः प्रदिष्टाः ॥ ५ ॥

५. सन्देह होने पर अमुक दोषी है अथवा निर्दोष यह कहा नहीं जा सकता । क्योंकि वास्तव में चोर तो भाग चुके थे, अतः वहाँ जंगल में ठहरे हुए उन तीनों को दोषी ठहराया गया ।

विनैवापराधं त्रयस्ते मनुष्या
गृहीतास्तथा सन्दिताः श्रृङ्खलायाम् ।
अनीयन्त पाटच्चरा अप्यसन्त-
स्तदा ब्रह्मदत्तान्तिकं राजलोकैः ॥ ६ ॥

६. अपराध न होने पर भी उन तीनों मनुष्यों को पकड़ लिया गया और बेड़ियों में जकड़ दिया गया । डाकू न होने पर भी उन को राज-पुरुष राजा ब्रह्मदत्त के पास ले गये ।

इयत्यन्तरे काचिदागत्य योषा
ममाच्छादनं दीयतामित्यवोचत् ।
भृशं रोदनं कुर्वती साऽतिदुःखात्
परिक्रामति स्माभितो भूपवेश्म ॥ ७ ॥

७. इतने में कोई स्त्री आकर कहने लगी 'मेरा आच्छादन मुझे दीजिये ।' वह बड़े दुःख से करुण रुदन करती हुई राजभवन के चारों ओर चक्कर काट रही थी ।

निशम्यादसीयं तमाक्रोशमुच्चै-
र्महीपस्तदा ब्रह्मदत्तोऽभ्यधत्त ।
इयं कामिनी याचते यत् तदच्छं
मुदाऽऽच्छादनं वस्त्रमस्यै प्रदत्त ॥ ८ ॥

८. उस स्त्री का यह उच्च स्वर से क्रन्दन सुन कर राजा ब्रह्मदत्त ने कहा (आदेश दिया), यह स्त्री जैसा आच्छादन मांग रही है, वैसा सुन्दर आच्छादन वस्त्र प्रसन्नतापूर्वक इसे दे दो ।

तदानीं सभोपस्थितः कश्चिदूचे
नहीयं प्रभो ! वस्त्रमिच्छुर्ब्रवीति ।
इयं कामुका केवलं स्वस्य पत्यु-
र्न चेच्छास्ति कुत्रापि वस्त्रान्तरेऽस्याः ॥ ९ ॥

९. तब सभा में उपस्थित किसी व्यक्ति ने कहा, स्वामिन् ! यह वस्त्र पाने

के लिए ऐसा नहीं कह रही है। यह केवल अपने [कैद में पड़े] पति को प्राप्त करना चाहती है। इस को किसी दूसरे वस्त्र की इच्छा नहीं है।

अथ ब्रह्मदत्तेन पृष्टा पुनः सा
पतिं वाञ्छसि त्वं किमाच्छादनं स्वम् ।
अवादीदसावेवमेवं हि देव !
स्वमाच्छादनं कामयेऽहं पतिं भोः ! ॥ १० ॥

१०. तब ब्रह्मदत्त ने उससे फिर पूछा 'क्या तुम अपने आच्छादन-स्वरूप पति को पाना चाहती हो ? उसने उत्तर दिया, देव, यही बात है। मैं आच्छादन के रूप में पति को पाना चाहती हूँ।

ततः पृष्टवान् भूपतिर्ब्रह्मदत्त-
स्तदर्थं यथार्थं परीचिक्षिषुस्ताम् ।
इमे शृङ्खलाबन्धनं लम्भिता ये
मनुष्यास्त्रयः सन्ति के ते त्वदीयाः ॥ ११ ॥

११. तब भूपति ब्रह्मदत्त ने उसकी बात का अर्थ ठीक-ठीक जांचने के उद्देश्य से उस स्त्री से प्रश्न किया : 'ये जो तीन मनुष्य बेड़ियों में जकड़े हुए हैं, ये तुम्हारे कौन होते हैं ?

त्वया वर्तते कोऽभिसम्बन्ध एषां
विजानासि कञ्चिन्न वा त्रिष्वमीषु ।
इति स्पष्टमाख्येयमार्ये ! निवार्ये
विचार्ये च कार्ये भवेन्नैव दोषः ॥ १२ ॥

१२. आर्ये ! तुमसे इनका क्या सम्बन्ध है ? इन तीनों में से किसी को जानती भी हो या नहीं ? सब बात स्पष्ट कह दो, क्योंकि निषिद्ध तथा विचारणीय (संदिग्ध) कार्य में दोष (त्रुटि) नहीं रहनी चाहिये।

तदाकर्ण्य कामिन्यसावाबभाषे
पतिभ्रातृपुत्रास्त्रयोऽमी भवन्ति ।
अमीषां ममैको मतो भ्रातृभूतो-
ऽपरो भर्तृभूतोऽपरः पुत्रभूतः ॥ १३ ॥

१३. यह सुनकर उस रमणी ने उत्तर दिया 'ये तीन व्यक्ति मेरे पति, भ्राता तथा पुत्र हैं। इनमें एक मेरा भाई है, दूसरा पति है तथा अन्य (तीसरा व्यक्ति) पुत्र है।

मदीयोऽभिसम्बन्ध एषोऽत्र राजन् !
अमीभिः सहास्तीति सत्यं ब्रवीमि ।

अतः कारणादागताच्छादनेच्छुः
प्रदातुं भवानर्हतीत्याशयाऽहम् ॥ १४ ॥

१४. राजन् ! मैं सत्य कहती हूँ, मेरा इन तीनों से यही सम्बन्ध है। इसी कारण आच्छादन पाने की इच्छा से मैं यहाँ आई हूँ। आप मुझे इसे [मेरा आच्छादन] दे सकते हैं इसकी मुझे आशा है।

सहर्षं ततो भूपतिर्वाक्यमाख्यत्
प्रसीदामि ते वाचमाचम्य देवि !
त्वया सत्यमुक्तं यथेच्छं त्वमेकं
गृहाणैषु तुभ्यं प्रयच्छामि तुष्टः ॥ १५ ॥

१५. तब राजा ने प्रमुदित होकर कहा—देवि ! तुम्हारी बात सुनकर मैं प्रसन्न हूँ। तुम ने सत्य कहा है। तुम अपनी इच्छानुसार इन [तीनों] में से एक को ले लो। मैं [उसे] प्रसन्नतापूर्वक तुम्हें प्रदान करता हूँ।

प्रदेया न सर्वे मयैते भवन्ति
गृहाणैकमेषु प्रसन्ने मयि त्वम्।
इदं भूपवाक्यं निशम्यातिपट्वी
तदा साङ्गनेमां गिरं व्याजहार ॥ १६ ॥

१६. मैं इन सब को तो तुम्हें नहीं दूँगा। मैं [तुम्हारे सत्य भाषण से] प्रसन्न हूँ, अतः इन तीनों में से एक को ग्रहण कर लो। राजा के ये वचन सुन कर अतीव चतुर उस रमणी ने कहा :—

त्रयोऽमी प्रदातुं त्वया चेन्न शक्या-
स्ततः किं प्रकुर्यामहं मन्दभाग्या।
यदि त्वं प्रसन्नोऽसि हे भूपते ! तन्
मदीयं प्रियं भ्रातरं सम्प्रयच्छ ॥ १७ ॥

१७. यदि आप इन तीनों को नहीं दे सकते (छोड़ सकते) तो मैं अभागिन इसमें क्या कर सकती हूँ। हे राजन् यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो मुझे मेरा प्यारा भाई दे दीजिए।

न वाञ्छाम्यहं कान्तमेकान्तकान्तं
न वा पुत्रमिच्छामि मत्स्नेहपात्रम्।
प्रियं भ्रातरं सोदरं प्राप्य राजन्
सुखं प्राप्नुयां भ्रातृमत्येव भूयः ॥ १८ ॥

१८. मैं नितान्त कमनीय पति को नहीं [पाना] चाहती और न ही मेरे वात्सल्य का आश्रय पुत्र मुझे अभीष्ट है। हे राजन् मैं अपने सगे और प्यारे भाई को पाकर, भ्रातृमती बनकर बहुत सुख का अनुभव करूँगी।

महीपस्तु योषिद्वचस्तन्निपीय
प्रहृष्टस्तथा विस्मितः सन् न्यगादीत् ।
कथं भर्तृपुत्रौ विहाय त्वमेकं
प्रियं भ्रातरं केवलं वाञ्छसीति ॥ १९ ॥

१९. राजा ने उस स्त्री के वचन ध्यान से सुन कर, प्रसन्न होकर तथा विस्मय-परवश होकर उसे कहा (उससे पूछा) कि क्या कारण है, तुम अपने पति और पुत्र को छोड़कर (न मांग कर) केवल प्यारे भाई को [पाना] चाहती हो ।

स्त्रियोक्तं पुनर्भर्तृपुत्राः प्रकामं
सुखेनाप्तुमर्हा भवन्तीह लोके ।
परं भ्रातरः सर्वथा दुर्लभाः स्यु-
रतः प्राप्तुमिच्छाम्यहं सोदरं स्वम् ॥ २० ॥

२०. स्त्री ने उत्तर दिया, संसार में पति और पुत्र प्राप्त करना नितान्त सरल होता है, परन्तु भाई सर्वथा दुर्लभ होते हैं, इसीलिये मैं अपने सहोदर भ्राता को [प्राप्त करना] चाहती हूँ ।

न मे भर्तृकाम्या न वा पुत्रकाम्या
तथाऽस्ति प्रकृष्टा यथा भ्रातृकाम्या ।
अतो भ्रातृकाम्याम्यहं भूप सत्यं
भगिन्याः कृते भ्रातृतुल्यो न कश्चित् ॥ २१ ॥

२१. पति और पुत्र को प्राप्त करने की मेरी कामना उतनी बलवती नहीं है जितनी भाई को पाने की । इसलिए राजन् मैं अपने भाई को [पाना] चाहती हूँ । सच बात तो यह है कि बहिन के लिए भाई के बराबर और कोई नहीं हो सकता ।

पतिर्वा न पुत्रो न वा बन्धुवर्गो
हिरण्यं न वा नापि गावो न वाऽश्वाः ।
तथा मत्कृते स्युर्यथा सोदरो मे
प्रयच्छ प्रियं सोदरं भूप तन्मे ॥ २२ ॥

२२. मेरे लिए पति, पुत्र, बन्धुजन, स्वार्थ (सम्पत्ति) गाय, घोड़े इन सब का उतना महत्त्व नहीं है जितना कि भाई का । अतः हे राजन् ! मुझे मेरा भाई दे दो ।

क्व लभ्यस्त्रिलोक्यामपि भ्रातृरूपः
स्फुटं पुत्रदारेषु सत्स्वप्यमीषु ।
इमामुद्गिरन्तीं गिरं वीक्ष्य योषां
प्रहर्षप्रकर्षं ववर्षाशु भूपः ॥ २३ ॥

२३. यह सर्वविदित है कि पुत्र, पत्नी आदि के होने पर भी तीनों लोकों में भाई जैसा कहां मिलता है? इस प्रकार कहती हुई स्त्री को देख कर राजा ने बहुत प्रसन्नता व्यक्त की।

प्रशंसन् मुहुस्तामथोवाच वाचं
त्वया सर्वथा सत्यमेवेदमुक्तम्।
न लभ्यः क्वचिद् भ्रातृतुल्योऽपि लोके
प्रियं भ्रातृरूपं तु नाहं विलोके ॥ २४ ॥

२४. [राजा ने] उसकी बार बार प्रशंसा करते हुए कहा, तुमने यह सर्वथा सत्य कहा है। संसार में भाई के समान प्यारा बन्धु नहीं दीखता।

अतो युक्तरूपाऽस्ति ते भ्रातृकाम्या
निकामं त्वदीया मनीषाऽपि रम्या।
ध्रुवं वस्तुतत्त्वं समुद्बोधितोऽहं
प्रसन्नाननस्त्वत्प्रियं कर्तुमीहे ॥ २५ ॥

२५. भाई के लिये तुम्हारी इच्छा उचित ही है और तुम्हारी बुद्धि भी प्रशंसनीय है। तुमने मुझे यथार्थ का निश्चय ही ज्ञान करा दिया है। मैं प्रसन्न होकर तुम्हारा मनोरथ पूर्ण करना चाहता हूँ।

सुतभ्रातृभर्तॄनतस्त्रीनपि त्वं
स्वसम्बन्धिनोऽमून् प्रसन्ना गृहाण।
इति प्रोच्य कारागृहात् तान् मनुष्यांस्
तदोन्मुच्य तामार्पिपद् भूमिपालः ॥ २६ ॥

२६. अतः तुम पुत्र-भ्राता-पति—अपने सभी सम्बन्धियों को प्रसन्न होकर ग्रहण करो (ले जाओ)। यह कहकर राजा ने उन तीनों मनुष्यों को कारागार से मुक्ति दिला कर उसे सौंप दिया।

प्रहृष्टा सुतभ्रातृभर्तॄन् गृहीत्वा
स्वकीयं ययौ धाम सीमन्तिनी सा।
प्रसादं महीपस्य लब्ध्वा विशिष्टं
प्रकृष्टं सुखं प्रापदापद्विमुक्ता ॥ २७ ॥

२७. वह सौभाग्यवती नारी प्रसन्न होकर अपने पुत्र, भाई और पति को लेकर अपने स्थान को चली गई। राजा का विशेष प्रसाद पा विपत्ति-मुक्त हो उसने बहुत सुख प्राप्त किया।

अहो भ्रातुरत्रास्ति कीदृङ् महत्त्वं
प्रमोदास्पदत्वं तथा दुर्लभत्वम्।

स्त्रियो वाऽऽत्मजा वा प्रियाः सन्तु कामं
परं भ्रातरः क्वानुजा वाग्रजा वा ॥ २८ ॥

२८. अहा ! इस संसार में भाई का कितना महत्त्व है। संसार में भाई की प्राप्ति दुर्लभ होती है, वह हृदय को आनन्द-संभृत कर देता है। स्त्रियां और पुत्र भी अभीष्ट होते हैं, परन्तु भाई, अनुज या ज्येष्ठ, की कहीं तुलना नहीं।

अमुष्या रमण्या निशम्य प्रवृत्तिं
मुदाऽऽकृष्यत ब्रह्मदत्तोऽपि भूपः।
कृता येन सर्वेऽपि ते भ्रातृहेतोः
सपद्येव कारागृहान्मुक्तबन्धाः ॥ २९ ॥

२९. उस रमणी की [भ्रातृ प्रेम विषयक] बातें सुनकर राजा ब्रह्मदत्त आकृष्ट एवं प्रसन्न हुआ। जिस के फलस्वरूप एक भाई की अपेक्षा से वे सभी तुरन्त कारागृह से मुक्त कर दिये गये।

इयं स्त्री यथैतर्हि जन्मन्यमीषा-
मभूद् बन्धदुःखाय हन्त्री समेषाम्।
तथा भ्रातुरेषान्तरेण प्रियस्य
स्वतोऽमूमुचद् दुःखतो नृन् पुराऽपि ॥ ३० ॥

३०. जिस प्रकार इस स्त्री ने इस जन्म में अपने प्यारे भाई के लिये सभी (तीनों) के बन्धन-कष्टों का विघात किया है, इसी तरह पहले भी (पूर्वजन्मों में भी) इसने भाई के कारण स्वतः एवं अन्य मनुष्यों को दुःख से मुक्त किया था।

अतः साधु मन्यामहे निर्विवादं
स्थिरं भ्रातुरुच्चैः प्रशस्तिप्रवादम्।
नहि भ्रातरः सन्ति लभ्याः सुखेन
सदा बोध्यमेतत्कथाया मुखेन ॥ ३१ ॥

३१. अतः भ्राता के विषय में जो इतना प्रशस्तिगान किया गया है, वह निर्विवाद रूप से ठीक है यह हमारा मत है। (संसार में) भाई आसानी से नहीं मिलते, यह बात इस कथा द्वारा सदा समझनी चाहिए।

कथैषातिलघ्वी मनो मोदयन्ती
विशिष्टामभीष्टाञ्च शिक्षां ददाति।
प्रसिद्धः स बुद्धो महात्मा जगत्या-
मिदं वस्तु शास्तेत्यभिख्यः प्रशास्ति ॥ ३२ ॥

३२. यह अतिलघु कथा मन को प्रमुदित करने वाली है और विशिष्ट

तथा रमणीय शिक्षा देने वाली है। यह बात संसार में शास्ता (धर्माचार्य) के रूप में प्रसिद्ध महात्मा बुद्ध ने कही है।

अरे मानवाः ! यूयमत्रावधत्त
स्वकीयं चरित्रं पवित्रं विधत्त।
सह भ्रातृभिर्मा स्म विगृह्लतालं
यतो दुर्लभा भ्रातरः सर्वकालम् ॥ ३३ ॥

३३. मनुष्यो ! आप इस बात पर ध्यान दें और अपने चरित्र को पवित्र बनावें। अपने भाइयों के साथ कभी विवाद न करें, क्योंकि भाई सदा दुर्लभ होते हैं।

दृढं मेघनादस्य शक्तिं प्रतिघ्नन्
यदा लक्ष्मणो मूर्च्छितोऽभूच्चिराय।
तदा तद्वियोगाद् भृशं दुःखतप्तः
किमाह स्म रामः स्मृतभ्रातृधर्मा ॥ ३४ ॥

३४. जब मेघनाद की शक्ति का प्रबल प्रतिरोध करता हुआ लक्ष्मण चिर-काल तक मूर्छित रहा, तब उसके वियोग में अतीव दुःखी होकर भ्रातृधर्म को स्मरण करते हुए राम ने क्या कहा था।

गृहस्त्रीसुतश्रीशरीरादि सर्वं
पुनश्चापि लभ्यं भवेद् द्रागखर्वम्।
न लभ्यः कदाचिद् ध्रुवं भ्रातृरूप
इदं सूचयत्येव रामायणं नः ॥ ३५ ॥

३५. रामायण इस तथ्य का उद्घाटन करती है कि संसार में घर, स्त्री, पुत्र, सम्पत्ति शरीर आदि सब कुछ शीघ्र विपुलता से मिल सकता है किन्तु श्रेष्ठ स्नेही भ्राता का मिलना निश्चय ही दुर्लभ है।

इयान् दुर्लभो भ्रातृलाभो यदेषा
निजं भ्रातरं कामयामास योषा।
अतो भ्रातृमद्भिः सदा पुण्यवद्भि-
र्भवद्भिश्च सद्भिः सुखं लम्भनीयम् ॥ ३६ ॥

३६. भाई की प्राप्ति इतनी दुर्लभ होती है कि इस स्त्री ने अपने भाई को पाने की इच्छा की। इसलिये आप पुण्यात्मा सज्जन लोग भ्रातृमान् होकर सदा सुखोपभोग करें।

अतिशयरमणीयं गौरवं भ्रातृतायाः
कथितमिह कथायां दुर्लभत्वं च भूयः।

सति महति कुटुम्बेऽप्येषणीयाः स्वकीयाः
सततमसुलभास्ते भ्रातरो वन्दनीयाः ॥ ३७ ॥

३७. भ्रातृभाव का गौरव अत्यन्त रमणीय है। इस कथा में इसका [गौरव का] एवञ्च भाई की दुर्लभता का वर्णन किया गया है। परिवार बड़ा होने पर भी अपने वन्दनीय तथा बहुत दुर्लभ भाइयों को चाहना चाहिये [उनसे स्नेह होना चाहिये]।

षष्ठः सर्गः

विशुद्धबुद्धिर्भगवान् महात्मा
बुद्धः प्रसिद्धो जगतीतलेऽभूत् ।
धर्मं प्रशासद् विधिवच्चकासद्
भिक्षूनशेषान् निजशासनस्थान् ।। ।।

१. संसार में प्रसिद्ध, पवित्र विचारों वाले भगवान् महात्मा बुद्ध (वोधि-सत्त्व) अपने सभी अधीनस्थ भिक्षुओं को विधिपूर्वक धर्मोपदेश करते हुए सुशोभित हो रहे थे ।

तत्रैकदा कश्चन भिक्षुसङ्घे
युवा विपश्चिद् विनयोपपन्नः ।
भिक्षुः सुभिक्षार्थमटाट्यमानः
श्रावस्त्यभिख्यां नगरीं प्रयातः ।। २ ।।

२. एक वार उस भिक्षु संघ में रहने वाला, एक विद्वान्, विनीत युवक भिक्षु प्रचुर एवं सम्पन्न भिक्षा पाने के लिये विचरण करता हुआ श्रावस्ती नामक नगरी में पहुँचा ।

तस्यां कुमारश्रमणः स पुर्यां
भिक्षामुपादाय निवर्तमानः ।
अलङ्कृतां रूपवतीं तदेका-
मेकान्तरम्यां युवतिं ददर्श ।। ३ ।।

३. उस नगरी में कुमार (युवक) भिक्षु ने भिक्षा लेकर लौटते हुए, आभूषणों से अलंकृत, अत्यन्त सुन्दरी, रूप सम्पन्न किसी युवती को देखा ।

विलोक्य तां लोचनलोभनीयां
मनोज्ञरूपां तरुणीमकस्मात् ।
गृहीतशिक्षोऽपि परं स भिक्षु-
र्नालं मनःसंयमने बभूव ।। ४ ।।

४. नेत्रों को विमुग्ध करने वाली, रमणीय अंग-सौन्दर्य से सम्पन्न उस तरुणी को अकस्मात् देख कर [सदाचार की] शिक्षा से संस्कृत होकर भी वह भिक्षु अपने मन को संयत करने में सफल नहीं हुआ ।

विक्षिप्तचेताः स्वनिकेतनस्थः
कामातुरोऽसौ बुबुधे न किञ्चित् ।
प्रमुग्धगीतध्वनिलुब्धशल्य-
प्रविद्धसारङ्ग इवावतस्थे ॥ ५ ॥

५. अपने स्थान में रहते हुए उस कामपीड़ित एवं विक्षिप्त चित्त वाले भिक्षु को कुछ नहीं सूझता था। उस की दशा [व्याध के] गीत की ध्वनि-श्रवण में मग्न एवं मुग्धमति, वाण से विंधे, मृग के समान हो गई।

निरन्तरं चिन्तयतोऽस्य योषां
सुभूषिताङ्गीं नवयौवनस्थाम् ।
अह्वाय नष्टद्युति पीतवर्णं
वक्त्रं वपुश्चैदतिदुर्बलत्वम् ॥ ६ ॥

६. अलंकारों से विभूषित उस नवयौवना रमणी के ध्यान में सदा मग्न उस भिक्षु के मुख की कान्ति शीघ्र ही नष्ट हो गई और वर्ण पीला पड़ गया, उस का शरीर भी क्षीण हो गया।

म्लानं मनोऽभून्मलिना मनीषा
तेजोऽखिलं चाजरदिन्द्रियाणाम् ।
रागातिरेकेण तदेकवृत्ते-
र्ध्वस्ता समस्ताऽऽत्मपवित्रताऽपि ॥ ७ ॥

७. उस रमणी के चिन्तन में ही सतत निरत भिक्षु का मन अतिशय राग के कारण उदास हो गया, बुद्धि कलुषित हो गई, इन्द्रियों का समस्त तेज क्षीण हो गया तथा आत्मा की समग्र पवित्रता भी विनष्ट हो गई।

धर्मोपदेशोऽप्यरुचन्न चारुः
सर्वात्मना स्त्रीप्रसितस्य तस्य ।
नितान्ततान्तस्य मनःसमाधिः
कुतस्तु कामोपहतस्य सिध्येत् ॥ ८ ॥

८. भिक्षु को अब सुन्दर धर्मोपदेश भी रुचिकर नहीं लगता था। काम-ज्वर से पीड़ित तथा अत्यन्त व्याकुल मनुष्य के लिए मन की एकाग्रता कहां सम्भव है ?

सविस्मयं मस्करिणस्तमन्ये
पप्रच्छुरेवं परिवृत्तरूपम् ।
कस्माद् वपुर्दुर्बलतामितं ते
मुने ! मनश्चाप्यवसीदतीति ॥ ९ ॥

९. [क्षीणता आदि के कारण] उस भिक्षु का परिवर्तित रूप देखकर दूसरे

संन्यासियों ने विस्मित होकर उससे प्रश्न किया, हे मुने ! किस कारण आपका शरीर दुर्बल हो गया है तथा मन अवसादपूर्ण है ?

न सास्ति शान्तिर्मुदिता न कान्तिः,
क्लान्तिस्तु वक्त्रे परिलक्ष्यते ते ।
किं कारणं ब्रूहि विहाय लज्जां
येन त्वमेवं परिबाध्यसे भोः ! ॥ १० ॥

१०. हे मुने ! अब वह [पहले जैसी] शान्ति, प्रसन्नता एवं कान्ति नहीं रही, अपितु आपके मुख पर स्पष्ट ही खिन्नता दिखाई दे रही है । आप संकोच त्याग कर इसका कारण कहिये, जिससे आप इतने पीड़ित हो रहे हैं ।

तदाऽवदद्भिक्षुरये वयस्याः !
युष्मासु गोप्यं नहि किञ्चिदस्ति ।
निशम्यतां तत्सकलं रहस्यं
यतोऽतिमात्रं व्यथितोऽहमस्मि ॥ ११ ॥

११. तब भिक्षु ने कहा, मित्रो ! आप से कुछ भी गोपनीय नहीं है । वह सारा रहस्य सुनिये, जिससे मैं इतना अधिक व्यथित हूँ [यन्त्रणा का अनुभव कर रहा हूँ] ।

मयाऽभिदृष्टा रमणी प्रकृष्टा
विशिष्टलावण्यवती प्रहृष्टा ।
अविप्रकृष्टेऽत्र पुरे निविष्टा
सैवास्त्यभीष्टा हृदि मे प्रविष्टा ॥ १२ ॥

१२. मैंने समीपस्थ नगर में रहने वाली अनुपम लावण्यवती, प्रसन्नवदना अनिन्द्य सुन्दरी को देखा है । वही प्रिया मेरे हृदय में प्रवेश कर गई है ।

निभाल्य सौन्दर्यमयीमनिन्द्यां
शुचिस्मितां तामनवद्यरूपाम् ।
उद्विग्नचित्तोऽस्मि लभे न शान्तिं
स्खलद्गतिः सम्प्रति सम्प्रजातः ॥ १३ ॥

१३. उस अनिन्दित एवं निर्दोष अंगसौन्दर्य से संवलित निश्छल हास्य वाली सुन्दरी को देखकर मेरा मन उद्विग्न हो गया है, शान्ति नहीं मिलती । अब चलते हुए पैर लड़खड़ाते हैं ।

शिरोमणिं तां पुरसुन्दरीणां
चिराय रामां स्वमनोऽभिरामाम् ।
गाढं परिष्वज्य रमेय भूय-
स्तदङ्गसंस्पर्शसुखं लभेय ॥ १४ ॥

१४. नगर की सुन्दरियों में ललामभूता, मेरे मन को आकर्षित करने वाली उस रमणी के साथ देर तक गाढ़ आलिंगन करके रमण करूँ और उस के अङ्गस्पर्श-जनित सुख का अनुभव करूँ—

इतीयमिच्छाद्य वरीवृतीति
दुःखासिकां चेतसि तन्तनीति ।
अतो विवर्णं वदनं ममेदं
यूनोऽपि दूना च कृशाङ्गयष्टिः ॥ १५ ॥

१५. केवल यही इच्छा मन में व्याप्त है, यही मेरे मन में दुःख को स्थान दे रही है। इसी कारण मेरा मुख विवर्ण (कान्ति शून्य, फीका) हो गया है। युवक होते हुए भी मेरा शरीर दुर्बल एवं संतापपीड़ित है।

न जायते तद्विषयैषिणो मे
स्वधर्मशास्त्रश्रवणे प्रवृत्तिः ।
जानामि कामं फलसिद्धिवामं
तथापि तस्मान्न च मे निवृत्तिः ॥ १६ ॥

१६. अतः विषयों की भोगेच्छा के कारण धर्म-शास्त्रों के श्रवण में मेरी प्रवृत्ति नहीं है। मैं जानता हूँ कि कामेच्छा फल सिद्धि में बाधक है, फिर भी उससे मेरी [आसक्ति] दूर नहीं होती।

निरस्तधैर्योऽहमुदीर्णरागः
स्मरामि तामेव पुरः स्फुरन्तीम् ।
कामी स्वतां पश्यति सत्यमुक्तं
कामातुराणां न भयं न लज्जा ॥ १७ ॥

१७. [विषयों में] मेरा राग बढ़ गया है, मैं अधीर होकर उसी [रमणी] का चिन्तन करता हूँ जो [मुझे] सदा सामने दीखती है। कामी पुरुष सर्वत्र अपनी ही अभीष्ट वस्तु देखता है। सत्य कहा है कि कामार्त पुरुषों को न भय होता है और न लज्जा।

चिन्तेयमन्धङ्करणी निकामं
प्रतिक्षणं मां विकलीकरोति ।
तस्मादनीशोऽस्मि मनोनिरोधे
कथं प्रवर्तेय च धर्मबोधे ॥ १८ ॥

१८. अन्धा बना देने वाली यह चिन्ता मुझे प्रतिक्षण व्याकुल कर रही है। इस कारण मैं मन को संयत करने में असमर्थ हूँ। [इस दशा में] धर्म के बोध में मेरी प्रवृत्ति किस प्रकार संभव है ?

इत्यात्मनो वृत्तमुदीरयन्तं
कर्मन्दिनो मन्दमसुं व्यनिन्दन् ।
आत्यन्तिकं तद्धितमिच्छवस्तु
प्राबोधयन्मित्रमुदात्तचित्ताः ॥ १९ ॥

१९. इस प्रकार अपनी [चरित्र भ्रष्टता की] घटना का विवरण प्रस्तुत करने वाले भिक्षु की अन्य बौद्ध भिक्षुओं ने निन्दा की। उसका सर्वथा हित चाहने वाले उदारचेता लोगों ने अपने मित्र को [इस प्रकार] समझाया :

अरे ! समाधेहि मनः स्वकीयं
सखे ! सखेदं त्यज बुद्धिभेदम् ।
साधीयसीयं न मतिस्त्वदीया
पथश्च्युतो मा स्म भवः कदाचित् ॥ २० ॥

२०. हे मित्र ! अपने मन को स्थिर करो। [अपने दुष्कृत पर] खेद करते हुए विचारों की चंचलता का त्याग करो। ये तुम्हारे विचार हितकर नहीं हैं। कभी भी अपने पथ [धर्मपथ] का त्याग मत करो।

धर्मं शुभं शीलय वीतरागः
श्रीबुद्धदेवोदितमात्मनीनम् ।
सन्त्यज्य योषिद्विषयानुरागं
दृढं भजस्वोच्चतमं विरागम् ॥ २१ ॥

२१. वीतराग होकर, भगवान् बुद्धदेव द्वारा उपदिष्ट आत्महितसाधक शुभधर्म को धारण करो। नारी के प्रति विषयाभिलाषा का त्याग कर उच्च-तम वैराग्य का दृढ़ता से पालन करो।

दुश्चिन्तयैवं परिबाध्यमानो
वैराग्यमेवाभयमाश्रयस्व ।
शान्तिं सुखं तृप्तिमवाप्तुकामो
मुदा रमस्वाऽऽत्मविचारणायाम् ॥ २२ ॥

२२. तुम [विषय-भोगेच्छा-सम्बन्धी] दुश्चिन्ताओं से सन्त्रस्त हो। अतः अभय प्रदान करने वाले वैराग्य का आश्रय ग्रहण करो। शान्ति, सुख तथा परितृप्ति पाने के लिए प्रसन्नतापूर्वक आत्मचिन्तन में तत्पर हो जाओ।

दुःखेऽत्र लोके विषयानुषक्ते
बुद्धस्य जन्माऽपि सुदुर्लभं हि ।
यस्योपदेशश्रवणान्मनुष्यो
निरत्ययं सौख्यमनन्तमेति ॥ २३ ॥

२३. विषयों के आसंग में ग्रस्त इस दुःखमय संसार में श्रीबुद्ध (बोधिसत्त्व)

का जन्म होना दुष्कर है, जिनके उपदेशों के श्रवण से मनुष्य निर्बाध होकर अनन्त सुखों को प्राप्त करता है।

पुण्यैरवाप्येह मनुष्ययोनिं
स्वं भिक्षुधर्मं न विलोपय त्वम्।
शास्त्रोक्तधर्माचरणान् महात्मन्!
जन्मोज्ज्वलं निर्मलमातनुष्व ॥ २४ ॥

२४. पुण्यों के शुभ परिणाम स्वरूप मानव की श्रेष्ठ योनि में आकर तुम भिक्षुधर्म का लोप मत करो। हे महात्मन्! शास्त्र द्वारा प्रतिपादित धर्म पर आचरण करते हुए अपने इस जन्म को उज्ज्वल एवं शुभ्र बनाओ।

क्लेशप्रहाणाय विहाय सर्वान्
सम्बन्धिनोऽत्राङ्ग! समागतोऽसि।
कथं पुनः कामविकारदोषै-
र्वशीकृतो भिक्षुविरुद्धमेवम्? ॥ २५ ॥

२५. हे मुने! [तीनों प्रकार के] क्लेशों को दूर करने के लिए सभी सम्बन्धियों को त्याग कर तुम यहाँ आए हो। फिर किस कारण भिक्षु धर्म के विपरीत इन काम बिकार आदि दोषों में ग्रस्त हो गए हो?

कीटात् प्रभृत्यापुरुषं समेषां
साधारणः कामविकार एषः।
ये त्वस्य वश्यत्वमुपाश्रयन्ते,
भ्रश्यन्ति दुःख्यन्त्यनिशं भृशं ते २६ ॥

२६. कीट से लेकर मनुष्य योनि तक सभी में यह काम विकार समान रूप से व्याप्त है। किन्तु जो प्राणी इसके अधीन हो जाते हैं, वे [अपने मार्ग से] भ्रष्ट हो जाते हैं और सदा के लिए अत्यन्त दुःख भोगते हैं।

आपातरम्या विषयाः स्फुरन्तः
समन्ततोऽन्ते परितापयन्ति।
न बुद्धिमांस्तेष्वधिकं रमेत
सुदुस्त्यजांस्तान् न च रोचयेत ॥ २७ ॥

२७. सब ओर से [इन्द्रियों को] आकृष्ट करने वाले ये भौतिक विषय ऊपर से ही रमणीय प्रतीत होते हैं, अन्त में ये चारों ओर से संताप देने वाले हैं। बुद्धिमान् पुरुष को चाहिए, वह इनमें अधिक न रमे और न ही इनमें रुचि रखे क्योंकि फिर इनका छोड़ना दुष्कर होता है।

विभान्त्यमी मांसलपेशलाश्च
कङ्कालवत् कीकसनीरसाश्च।

विभीषणाः सर्पफणोपमाश्च
प्रभ्रष्टशाखोटफलोपमाश्च ॥ २८ ॥

२८. ये सांसारिक विषय मांसल और कोमल अर्थात् आस्वाद्य एवं सरस प्रतीत होते हैं किन्तु ये वस्तुतः कंकाल के समान कठोर और नीरस हैं। ये सर्प के फण के समान भयप्रद तथा गिरे हुए शाखोट के फल के समान [व्यर्थ] हैं।

ज्वलत्स्फुलिङ्गाः प्रदहन्ति कामं
तृणोल्मुका यान्त्यचिरादपायम् ।
स्वप्नोपमाः सन्ति घनान्धकाराः
कामादयोऽनिष्टकरा विकाराः ॥ २९ ॥

२९. काम-क्रोधादि के विकार अनिष्ट करने वाले हैं। ये कभी तो तीव्र चिनगारियों के समान जलाने लगते हैं और कभी तिनकों की आग के समान शीघ्र शान्त हो जाते हैं। ये विकार स्वप्न के समान हैं एवञ्च घने अन्धकार से आवृत हैं।

सुपुष्पिताः कण्टकिनः सदैते
विमोहयन्ति व्यथयन्ति लोकम् ।
आपामरं सर्वगता विसिन्व-
न्त्यथर्थाः स्वनर्था जनयन्ति शोकम् ॥ ३० ॥

३०. ये फूलों से लदे और कांटों से घिरे विकार लोगों को आकृष्ट भी करते हैं और पीड़ा भी पहुँचाते हैं। ये विषय [बुद्धिमान् से लेकर] मूर्ख तक सभी जीवों को परस्पर [एक सूत्र में] बांध देते है। किन्तु [अत्यासेवित होकर] ये विषय अनर्थ रूप में शोक देने वाले हैं।

नित्यप्रबुद्धस्य विशुद्धबुद्धे-
र्बुद्धस्य शिष्योऽपि भवंस्तपस्वी ।
स्त्रियाममुष्यां प्रसजन्नशस्यां
क्षणं त्वमेतां विकृतिं गतोऽभूः ॥ ३१ ॥

३१. सदा जागरूक, विशुद्धमति वाले बुद्ध (श्रीबोधिसत्त्व) के शिष्य हो कर भी तपोनिरत तुम उस स्त्री में आसक्ति रख कर कुछ समय के लिये इस निन्दनीय विकार में ग्रस्त हो गये हो।

तस्मादकस्मादुदितादमुष्मात्
पापात्समस्माद् विरमाशु भिक्षो !
न शोभते ते विषयाभिलाषो
भिक्ष्वाश्रमे तस्य कुतोऽवकाशः ॥ ३२ ॥

३२. हे भिक्षु ! अब तुम इस अनायास प्रकटित समस्त पाप से निवृत्त हो

जाओ। विषयों के प्रति अभिलाषा तुम्हें शोभा नहीं देती। भिक्षु-आश्रम में उसका क्या स्थान ?

इत्येवमुक्तः स मुहुः सुहृद्भि-
स्तद् युक्तियुक्तं वचनं न मेने।
आसीदशान्तस्तदवस्थ एव
जहौ न योषाभिरतिं च मुग्धः ॥ ३३ ॥

३३. बार-बार मित्रों के कहने पर भी उसने उनके युक्तिपूर्ण वचनों का पालन नहीं किया। वह उसी दशा में अशान्त बना रहा और उस मुग्धमति ने नारी के प्रति अनुरक्ति का त्याग न किया।

तदोत्पथस्थं तमनैषुरन्ते
श्रीबुद्धदेवान्तिकमप्रबुद्धम्।
असौ तु शास्ता समुपागतांस्तान्
दृष्ट्वेङ्गितज्ञः स्वयमेवमाख्यत् ॥ ३४ ॥

३४. तब उस पथभ्रष्ट अज्ञानी को संन्यासी लोग श्री बुद्धदेव (बोधिसत्त्व) के पास ले गये। उन्हें आया देख कर धर्माचार्य बोधिसत्त्व ने आकार आदि से सब कुछ जान लिया और स्वयं (बिना कुछ पूछे) इस प्रकार कहा :—

अशान्तचित्तं ननु भिक्षुमेनं
यूयं समानीय समागताः स्थ।
कामप्रवृत्त्योज्झितनित्यकृत्यः
पात्रं दयाया न रुषोऽयमस्ति ॥ ३५ ॥

३५. आप लोग इस अशान्तचित्त भिक्षु को लेकर मेरे पास आये हैं। कामोपभोग में प्रवृत्ति होने के कारण इसने नैत्यिक कर्तव्यों का अनुष्ठान छोड़ दिया है। यह दया का पात्र है, रोष का नहीं।

ओमित्यवोचन्नथ भिक्षवोऽये
स्वामिन्नयं स्त्रीविषयाभिलाषी।
उद्भ्रान्तचेता विपरीतबुद्धि-
र्न शासने तिष्ठति बोधितोऽपि ॥ ३६ ॥

३६. तब भिक्षुओं ने उनसे प्रार्थना की "स्वामिन्! इसकी स्त्रीविषयक अभिलाषा है। इसका मन विक्षिप्त है और बुद्धि विपरीत (विवेक रहित) है। समझाने पर भी यह उपदेश ग्रहण नहीं करता"।

विवृद्धरागस्य गतोऽतिभूमिं
कामोत्थितो ह्यस्य मनोविकारः।

दत्त्वोपदेशं भवताऽनुकम्पा
सम्पादनीयाऽत्र विशिष्य शिष्ये ॥ ३७ ॥

३७. "राग विषयक प्रवृत्ति प्रवल हो जाने से इसका कामजनित मनोविकार वहुत अधिक बढ़ गया है। आप उपदेश देकर इस शिष्य पर विशिष्ट अनुग्रह कीजिये।"

आकर्ण्य तच्छ्रीभगवान् स बुद्धः
शुद्धामिमां वाचमवोचदुच्चाम्।
शोच्यस्तु यद्यप्ययमस्ति भिक्षु-
स्तथापि निःश्रेयसमस्य वक्ष्ये ॥ ३८ ॥

३८. भगवान् बुद्ध ने यह सुनकर पवित्र और उदात्त वचन कहे: यद्यपि इस भिक्षु की दशा शोचनीय है, तथापि मैं इसके कल्याण की वात कहता हूं।

विचार्यतामार्य ! पुराऽपि काले।
जितेन्द्रियाः सत्पुरुषा बभूवुः।
ये नीचकामादिकवासनाना-
मधीनतां नैव कदाऽप्युपायुः ॥ ३९ ॥

३९. आर्य ! विचार कीजिये, प्राचीन समय में भी जितेन्द्रिय सत्पुरुष हो चुके हैं। वे कभी क्षुद्र कामवासना आदि के अधीन नहीं हुए।

निसर्गतश्चेतसि संस्थितानां
पदे पदे चानुभवं गतानाम्।
शक्यं न विज्ञैरपि वासनानां
समूलमुन्मूलनमत्र कर्तुम् ॥ ४० ॥

४०. वासनाएँ स्वाभाविक रूप से मन में निवास करती हैं और पग-पग पर उन का अनुभव होता रहता है। विज्ञजन भी इन वासनाओं का समूल विनाश करने में समर्थ नहीं हैं।

महर्षयः शास्त्रविदस्तु पूर्वे
विशुद्धसत्त्वाः शुभकर्मनिष्ठाः।
विवेकतः संयमतश्च नित्यं
दुर्वासनानां व्यदधुर्निरोधम् ॥ ४१ ॥

४१. पर शास्त्रों के मर्म को जानने वाले, पवित्र अन्तःकरण से युक्त तथा शुभ कार्यों में संलग्न महर्षियों ने विवेक तथा संयम का आश्रय लेकर इन दुर्वासनाओं पर विजय पाई है।

अतो मनश्चञ्चलमस्थिरं सद्
यदापि यस्मिन् विषयेऽपि यायात्।

तदा ततस्तत् प्रसभं निरुध्य
समादधीताऽऽत्मनि सर्वदैव ॥ ४२ ॥

४२. अतः जब मन चंचल और अधीर होकर जिस विषय में प्रवृत्त होवे तब वहाँ से बलपूर्वक उसे रोक कर आत्मतत्त्व में सदा नियोजित करे।

त्वं चापि चित्तं विषये प्रसक्तं
निरुन्धि धीरो भव साधुशीलः।
विकारहेतौ न विकुर्वते ये
धन्यास्त एवात्र समुल्लसन्ति ॥ ४३ ॥

४३. तुम भी रागादिविषयों में आसक्त चित्त का निरोध करो, साधु प्रकृति हो कर धैर्यवान् बनो। विकार का कारण विद्यमान होने पर भी जिन का मन विचलित नहीं होता, वे धन्य लोग ही यहाँ [इस लोक में] शोभा पाते हैं।

कामस्य वेगं बलवन्निगृह्य
त्वं नित्यसत्त्वस्थ इहाश्रमे स्याः।
वशीकृते चेतसि सर्वकालं
शान्तः स्वयं मोक्ष्यसि मोहजालम् ॥ ४४ ॥

४४. काम के वेग को बलपूर्वक रोक कर तथा अपने स्वरूप में स्थित होकर यहाँ आश्रम में रहो। चित्त के वश में हो जाने पर तुम सदा शान्ति का अनुभव करोगे और स्वयं मोहजाल को छोड़ दोगे।

शुभकर्मपराः प्रयता विबुधा
बहुशः सुनिपीतसुनीतिसुधाः।
न पुरा पतिता भुवि कामवशे
शिबिराजकथानकमत्र शृणु ॥ ४५ ॥

४५. शुभ कर्मों में तत्पर, जितेन्द्रिय विद्वान् प्राचीन समय में सुनीति रूपी सुधा का अनेकशः पान कर इस लोक में काम के अधीन नहीं हुए इस विषय में शिबिराज की कहानी सुनिये।

सप्तमः सर्गः

पुरा पुरेऽरिष्टपुरे प्रशस्ते
शिविर्नृपोऽभूच्छिबिराज्यसंस्थे ।
सम्यक् प्रजानां शिवमादधानः
स्वं नाम योऽर्थान्वितमाततान ।। १ ।।

१. प्राचीन काल में शिबिराज्य के अन्तर्गत एक सुन्दर अरिष्टपुर [नामक] नगर में शिवि नामक राजा हुआ, उचित प्रकार से प्रजाओं का हित साधन करते हुए जिसने अपना शिवि नाम सार्थक कर दिया ।

श्रीबोधिसत्त्वः किल तन्महिष्यां
लेभे स्वयं जन्म विधेर्नियोगात् ।
शिबेः कुमारप्रतिमः कुमारः
स मुख्ययाऽऽख्यायि तदाख्ययैव ।। २ ।।

२. दैवयोग से स्वयं श्री बोधिसत्त्व ने उसकी रानी से जन्म ग्रहण किया। कुमार कार्तिकेय के समान पराक्रमी कुमार इसी मुख्य (कुमार) नाम से प्रसिद्ध हुए ।

सेनापतिर्यस्तु बभूव राज्ञो
वशंवदः शूरवरो मनीषी ।
तस्याऽपि दारेष्वजनिष्ट दिष्टात्
सूनुस्तदानीमहिपारकाख्यः ।। ३ ।।

३. राजा का सेनापति आज्ञाकारी, शूरवीर तथा बुद्धिमान् था । तभी भाग्यवश उसकी पत्नी ने भी अहिपारक नामक पुत्र को जन्म दिया ।

तद्दारकोऽसावहिपारकश्च
शिबेर्महीपस्य कुमारकश्च ।
परस्परप्रीतिसमन्वितौ तौ
शिशू सहैवावृधतां क्रमेण ।। ४ ।।

४. उसका पुत्र अहिपारक तथा राजा शिबि का पुत्र कुमार—दोनों शिशु परस्पर प्रीतिभाव से रहते हुए साथ-साथ बढ़ने लगे ।

जातौ यदा षोडशहायनौ तौ
तदा पुरीं तक्षशिलामुपेतौ ।

शिल्पानि शास्त्राणि च शिक्षमाणौ
बभूवतुः सर्वकलाप्रवीणौ ॥ ५ ॥

५. जब वे दोनों सोलह वर्ष के हुए, तब तक्षशिला नगरी में चले गये। शिल्प तथा शास्त्रों की शिक्षा ग्रहण करते हुए दोनों सभी कलाओं में पारङ्गत हो गये।

शिक्षामुपादाय ततो निवृत्ता-
वुपेयतुः स्वां प्रति राजधानीम् ।
लब्धाधिकारौ विधिवद् युवानौ
स्वकं पदं पित्र्यमधिष्ठितौ च ॥ ६ ॥

६. शिक्षा प्राप्त कर वे वहाँ से लौटे और अपनी राजधानी में पहुँच गये। विधिपूर्वक अधिकार प्राप्त करके दोनों युवक अपने अपने पिता के पदों पर प्रतिष्ठित हो गये।

शिबेरपत्यं नृपतिः कुमारः
सिंहासनस्थो वसुधां शशास ।
युवा वपुष्मानहिपारकोऽपि
सेनापतित्वेऽधिकृतो ललास ॥ ७ ॥

७. शिवि का पुत्र कुमार नृपति बन कर और राजसिंहासन पर अधिष्ठित होकर पृथिवी का शासन करने लगा। तरुण, सुगठित शरीर वाला अहिपारक भी सेनापति के पद पर सुशोभित हुआ।

ख्यातिं गतस्तत्र पुरे धनाढ्य-
स्तिरीटवत्सेत्यभिधोऽप्युवास ।
प्रमाणभूतो व्यवहारशुद्धौ
योऽशीतिकोटीश उदीर्यते स्म ॥ ८ ॥

८. उस नगर में तिरीटवत्स नामक एक प्रसिद्ध धनी व्यक्ति भी रहता था। व्यवहार (लेन देन) की शुद्धि में उसे प्रमाण माना जाता था। उसे अस्सी करोड़ मुद्राओं का स्वामी कहा जाता था।

इभ्यस्य सभ्यस्य मतस्य तस्य
गेहेऽजनि श्रीरिव कन्यकैका ।
समुल्लसन्निर्मलदेहकान्ति-
र्याऽनिन्द्यबालेन्दुकलेव रेजे ॥ ९ ॥

९. उस प्रतिष्ठित धनाढ्य के घर में लक्ष्मी के समान रूपसी एक कन्या ने जन्म लिया। उसके शरीर की निर्मल सौन्दर्य-आभा [क्रमशः] विकसित होती हुई अनिन्दित बालचन्द्रमा की कला के समान शोभा पाने लगी।

सौन्दर्यमाधुर्यकिरा चकोरी
स्फुरच्छरच्चन्द्रमुखी किशोरी।
सौभाग्यवत्युत्पलकोमलाङ्गी
विलक्षणा सोत्तमलक्षणाऽभूत् ॥ १० ॥

१०. चकोरी के समान वह किशोरी सौन्दर्य की मधुरिमा को बिखेरती हुई, कान्तिमत् शरत्कालीन चन्द्रमा की ज्योत्स्ना के समान मुख वाली थी। कमल-सदृश कोमल अंगों वाली वह सौभाग्यवती विलक्षण बाला उत्तम लक्षणों से युक्त थी।

भान्ती स्वरूपातिशयेन बाला
सोन्मादयत्येव पुरेति मत्वा।
तिरीटवत्सस्य सुतोन्मदन्ती-
त्यभिख्ययाऽऽख्यायत पुर्यमुष्याम् ॥ ११ ॥

११. 'अपने विलक्षण सौन्दर्य से विभूपित वह तिरीटवत्स की कन्या लोगों को उन्मत्त बना देगी'—पहले से ही यह मान कर वह उस नगरी में 'उन्मदन्ती' नाम से प्रसिद्ध हो गई।

प्रवर्धमाना सुतरां सुशीला
सा षोडशीराप्य समाः कुमारी।
स्वं मानुषं वर्णमुदस्य दैवा-
ज्जाताऽप्सरस्तुल्यमनोज्ञरूपा ॥ १२ ॥

१२. क्रमशः सोलह वर्ष की वय प्राप्त करने पर उस अत्यन्त सुशील कुमारी ने विधिवशात् अपना मानवी सौन्दर्य छोड़कर अप्सरा के समान कमनीय रूप प्राप्त कर लिया।

तदोन्मदन्ती कलिकाग्रदन्ती
रतिं हसन्ती हृदयं हरन्ती।
सर्वाञ्जनान् कामवशं नयन्ती
देवाङ्गनेवाऽऽस्त विमोहयन्ती ॥ १३ ॥

१३. उस युवावस्था में उन्मदन्ती के दांत कुसुम कलिका के समान नुकीले थे। वह [अपनी रूप सम्पदा से] रति का उपहास करती थी। समस्त जनों के हृदय का हरण करती हुई वह उन्हें कामाधीन बनाकर मुग्ध करने वाली देव-ललना के समान शोभा पा रही थी।

तामुज्ज्वलां वञ्जुलमञ्जुलाङ्गीं
समुच्छलद्यौवनचञ्चलाक्षीम्।

आलोकमालोकमलं विमुग्धाः
सर्वेऽपि कामोपहता बभूवुः ॥ १४ ॥

१४. उस गौरवर्णा के अशोक लतिका के समान कोमल अंग, उभरते यौवन से चपल नयन देख देख कर सभी लोग सर्वात्मना मोहित एवं कामपीड़ित हो गये।

तदङ्गलावण्यमवेक्ष्य लोका
मैरेयपीता इव मोहमापुः ।
भृशं प्रमत्ता बत नष्टचित्ताः
कामोपसृष्टा न किमप्यवापुः ॥ १५ ॥

१५. उसके अंगों का लावण्य देख कर लोग मानो सुरापान कर मदविह्वल हो गये। वे मद के आवेश में अपना विवेक खो बैठे। परन्तु उन कामातुरों को कुछ भी प्राप्त न हुआ।

दृष्ट्वाऽभिजातां कनकावदाता-
मेकान्तकान्तां युवतिं सुतां ताम् ।
नृपं मुदोपेत्य तिरीटवत्सः
प्रियं वचः प्राह विनीतवत्सः ॥ १६ ॥

१६. स्वर्ण के समान निर्मल प्रभा से उद्भासित, अत्यन्त रूपवती अपनी कुलीन कन्या को युवती जान कर उस विनीत कन्या के पिता तिरीटवत्स ने प्रसन्नतापूर्वक राजा के पास जाकर विनयपूर्वक ये प्रिय वचन कहे :

राजन् ! गृहे मे दुहितोदपादि
प्रियैः शुभैरुच्चगुणैरुपेता ।
स्त्रीरत्नमेतन्नृपयोग्यमेवे-
त्यतो भवानर्हति तां ग्रहीतुम् ॥ १७ ॥

१७. राजन् ! मेरे घर में प्रिय, शुभ एवं उदार गुणों से विभूषित कन्या ने जन्म ग्रहण किया है। वह रमणियों में रत्न स्वरूप है, वह राजा के ही योग्य है। आप उसे ग्रहण कीजिये।

सम्प्रेष्य विप्राञ्छुभलक्षणज्ञान्
परीक्षणीयाऽस्ति विशेषतः सा ।
परीष्टिमिष्टां च विधाय सम्यग्
रोचेत यत् तद् भवता विधेयम् ॥ १८ ॥

१८. शुभलक्षणों के ज्ञाता ब्राह्मणों को भेज कर आप सविशेष रूप से उसके लक्षणों की परीक्षा करायें। अभीष्ट परीक्षा के अनन्तर आप को जैसे रुचिकर हो, वैसे कीजिए।

इत्येतदाकर्ण्य वचोऽदसीयं
　　नृपस्तथास्त्वित्यभिधाय सद्यः ।
　　　　विप्रान् विधिज्ञान् प्रजिघाय तस्याः
　　　　　　परीक्षणायाऽऽहितलक्षणायाः ॥ १९ ॥

१९. इस प्रकार उसके वचन सुनकर राजा ने 'तथास्तु' कहा, और उस शुभलक्षणा की परीक्षा के लिये विशिष्ट ज्ञान सम्पन्न ब्राह्मणों को तुरन्त [उस के घर] प्रेषित कर दिया ।

विप्रास्ततः श्रेष्ठिगृहे प्रयाता
　　भुक्ताश्च पीताश्च समाहृताश्च ।
　　　　अनन्तरं तावदुपागताऽसा-
　　　　　　वलङ्कृतालङ्करणैः कुमारी ॥ २० ॥

२०. तब वे ब्राह्मण उस श्रेष्ठी के घर पहुँचे । भोजन-पान आदि द्वारा उन्हें सत्कृत किया गया । तत्पश्चात् आभूषणों से अलंकृत कुमारी वहां उपस्थित हुई ।

रूपप्रकर्षेण समुज्ज्वलन्तीं
　　सुवासिनीं चारुविलासिनीं ताम् ।
　　　　अलोकसामान्यगुणाभिरामां
　　　　　　क्षणं निरीक्ष्यैव समे व्यमुह्यन् ॥ २१ ॥

२१. अतिशय रूप सम्पदा से उद्भासित, मनोज्ञ गन्ध सम्पन्न, सुन्दर हाव-भावों से समन्वित, असाधारण गुणों से कमनीय उस कन्या को देखते ही सभी मोहित हो गये ।

नष्टो विवेकः सकलोऽपि तेषां
　　द्विजन्मनां कामवशं गतानाम् ।
　　　　उन्मादयत्येव विवेकिनोऽपि
　　　　　　कष्टो विकारः खलु कामजन्यः ॥ २२ ॥

२२. काम की [असहनीय] दशा को प्राप्त उन ब्राह्मणों की समग्र विवेक शक्ति नष्ट हो गई । यह विषम काम विकार विवेकशील पुरुषों को भी उन्मत्त (कर्तव्य विमूढ़) बना देता है ।

कामान्ध्यमाना हतबुद्धयस्ते
　　तदेकचित्ताः प्रतिपत्तिमूढाः ।
　　　　परीक्षणं कर्तुमिताः कुमार्याः
　　　　　　परीक्षणीयाः स्वयमेव जाताः ॥ २३ ॥

२३. उस सुन्दरी के [रूप दर्शन में] खोये हुए, कामान्ध, नष्टबुद्धि तथा विवेक शून्य वे ब्राह्मण कुमारी के लक्षणों की परीक्षा करने आये थे किंतु अब

स्वयं उनकी दशा देखने योग्य थी।

तदाऽतिमात्रं विकृतिं गतांस्तान्
द्विजान् निशाम्याभिदधे कुमार्या।
समागताः सन्ति कुतः क एते
मल्लक्षणं साधु परीक्षमाणाः ॥ २४ ॥

२४. तब विकार की विषम दशा को प्राप्त उन ब्राह्मणों को देख कर कुमारी ने कहा, मेरे लक्षणों की सम्यक् परीक्षा करने वाले ये कौन हैं और कहाँ से आये हैं ?

सर्वेऽप्यमी कामविकारदुष्टाः
परीक्षणं कर्तुमलं न सन्ति।
दुष्टः स्वयं योऽस्ति कथं परेषां
स दोषमुद्घोषयितुं प्रभुः स्यात् ॥ २५ ॥

२५. ये सभी काम विकार से ग्रस्त हैं, अतः लक्षण परीक्षा के अयोग्य हैं। जो स्वयं दोषवान् है, वह किस प्रकार दूसरों के दोष बताने में समर्थ हो सकता है ?

तस्मात् समस्ता अपि शीघ्रमेते
दत्त्वाऽर्धचन्द्रं बहिरेव कार्याः।
एतादृशाः कामविकारजुष्टाः
परीक्षणे मे सुतरामनर्हाः ॥ २६ ॥

२६. इसलिये इन सभी को अर्धचन्द्र दे कर (गले से पकड़ कर) तुरन्त बाहर निकाल दीजिये। इस प्रकार के कामविकारवान् मेरे परीक्षण में सुतरां अयोग्य हैं।

तदुन्मदन्तीवचनं निशम्य
बहिष्कृताः स्वामिगृहाद् द्विजास्ते।
यतां विकारं त्यजतां विचारं
धिक्कार एवास्तु, कुतोऽधिकारः ॥ २७ ॥

२७. उन्मदन्ती के ये वचन सुन कर उन ब्राह्मणों को श्रेष्ठी के घर से बाहर निकाल दिया गया। क्योंकि विवेक खोकर विकारों के वश में पड़े लोगों को धिक्कार ही मिलता है, अधिकार नहीं।

निष्कासिताः श्रेष्ठिगृहात् तदानीं
ललज्जिरे बह्वपमानितास्ते।
कुमारभूपस्य समीपमित्वा
क्रोधोपरुद्धा वचनं मृषोचुः ॥ २८ ॥

२८. श्रेष्ठी के घर से निकाले जाने पर तथा बहुत अपमानित किये जाने पर वे ब्राह्मण लज्जित हुए (ग्लानि को प्राप्त हुए)। भूपति कुमार के पास जाकर उन कुपित ब्राह्मणों ने ये असत्य वचन कहे :

देवैक्षि कन्या कटुभाषिणी सा
गुणैर्विहीना शुभलक्षणैश्च ।
दुर्लक्षणत्वाद् भवतोऽनुरूपा
नैवास्त्यतो द्राक् परिवर्जनीया ।। २९ ।।

२९. देव ! हमने कन्या को देखा है, वह कटुभाषिणी, गुण तथा शुभलक्षणों से रहित है। कुलक्षणों के कारण वह सर्वथा आपके अयोग्य है, अतः उसे [उस का विचार] तुरन्त छोड़ दीजिये।

राजा तु विप्रोदितमेव सत्यं
मत्वा सुतां नाऽऽदृत विप्रलब्धः ।
हृदा तदङ्गीकरणाभिलाषं
जहौ परप्रत्ययनेयबुद्धिः ।। ३० ।।

३०. दूसरों द्वारा संचालित बुद्धि वाले एवं वंचना को प्राप्त राजा ने ब्राह्मणों के वचनों को सत्य मानकर कन्या का आदर नहीं किया (तद्विषयक धारणा बदल दी)। और उसको स्वीकार करने की अभिलाषा हृदय से निकाल दी।

अलक्षणत्वात् परिभाविता हि
राज्ञेति वार्तामवगम्य खिन्ना ।
तिरीटवत्सस्य सुतोन्मदन्ती
विचारयामास मनस्यथैवम् ।। ३१ ।।

३१. तिरीटवत्स की कन्या उन्मदन्ती ने जब यह सुना कि राजा ने प्रशस्त लक्षणों के अभाव के कारण उसका तिरस्कार किया है, तो वह खिन्न होकर मन में इस प्रकार सोचने लगी :

नाहं विमूढा न च दुर्विरूढा
दुर्लक्षणा नापि च संभवामि ।
कथं स भूपोऽविदितस्वरूपो
मामन्यथाकारमिह ब्रवीति ।। ३२ ।।

३२. न तो मैं मूढ़ (मूर्ख) अथवा फूहड़ हूँ और न ही मैं कुलक्षणा हूँ। फिर किस प्रकार मेरे स्वरूप (गुण आदि) को जाने बिना राजा मुझे एतद्विपरीत बताता है।

स्वस्थाऽस्मि शुद्धाऽस्मि सुशिक्षिताऽस्मि
भक्ताऽस्मि पित्रोर्वशवर्तिनी च।
तथाऽपि यद्यस्म्यपलक्षणाऽहं
तदा भवेदाहितलक्षणा का ? ॥ ३३ ॥

३३. मैं स्वस्थ, पवित्र तथा सुशिक्षित हूँ। माता पिता के प्रति भक्तिमती तथा उनकी आज्ञा का पालन करने वाली हूँ। फिर भी यदि मैं लक्षणहीन हूँ तो शुभलक्षणा कैसी होती है ?

द्रक्ष्यामि काले नृपतिं कदाचित्
कथं स मामाख्यत दुर्निमित्ताम्।
विचिन्तयन्तीति तदोन्मदन्ती
राज्ञाऽमुना वैरमिव न्यबध्नात् ॥ ३४ ॥

३४. मैं किसी समय राजा से मिलूंगी। उसने कैसे मुझे दुर्लक्षणा कह दिया। इस प्रकार की बातें सोचते हुए उन्मदन्ती ने राजा के प्रति वैर-सा ठान लिया।

तिरीटवत्सस्तु सुतां स्वमत्या
राज्ञा तदस्वीकरणादगत्या।
यूने गुणज्ञाय विचारकाय
मुदा तदादादहिपारकाय ॥ ३५ ॥

३५. राजा द्वारा कन्या के अस्वीकार किये जाने पर विवश होकर तिरीट-वत्स ने अपनी बुद्धि से विचार करके प्रसन्नतापूर्वक कन्या का विवाह तरुण, गुणज्ञ एवं विचारवान् अहिपारक के साथ कर दिया।

साऽभूत् प्रिया तस्य गुणप्रियस्य
सेनापतित्वेऽधिकृतस्य भूयः।
लब्ध्वा सुशीलां वरवर्णिनीं ता-
मवर्णनीयं सुखमाप सोऽपि ॥ ३६ ॥

३६. वह कन्या, सेनापति पद पर अधिकृत उस गुणज्ञ अहिपारक की बहुत अधिक प्रिया बन गई। अहिपारक ने भी सुशील तथा अनुपम सुन्दरी को पाकर अवर्णनीय सुख का अनुभव किया।

कर्मणा सुरुचिरेण कृतेन
येन रूपमभवद्रमणीयम्।
लोकहारि चरितं च रमण्याः
श्रूयतामनुपदं कथया तत् ॥ ३७ ॥

३७. जिस सुन्दर काम के किये जाने से [उसका] वह सुन्दर रूप एवं लोकाकर्षक चरित्र हुआ उसे इसके तुरन्त बाद की कथा के माध्यम से सुनिये।

अष्टमः सर्गः

वाराणसेये हतभागधेये
पुरा दरिद्रेऽभिजनेऽजनीयम् ।
महोत्सवे क्वाऽपि सुभूषिताः स्त्रीः
कौसुम्भवस्त्राभरणा ददर्श ॥ १ ॥

१. पहले इसका जन्म वनारस में एक भाग्यहीन दरिद्र वंश में हुआ था। इसने किसी महोत्सव में आभूषणों से अलंकृत तथा रक्त वर्ण के वस्त्रों से विभूषित स्त्रियों को देखा।

क्रीडारता भूषणभूषिताङ्गीः
कुसुम्भरागाञ्चितवाससस्ताः ।
विलोकयन्त्याढ्यकुलीनयोषा
रोषाकुलाऽभून्निजभाग्यदोषात् ॥ २ ॥

२. क्रीड़ा में निरत, भूषणों से विभूषित अंगों वाली, कुसुम्भवर्ण (अरुण वर्ण) से रंजित वसन धारण करने वाली, धनी एवं कुलीन स्त्रियों को देख कर अपने दुर्भाग्य पर इसे क्रोध आया।

दरिद्रितत्वात् कथमिभ्यलभ्या-
न्याभूषणान्याशु समश्नुवीत ।
तथाऽपि साढ्यङ्करणं विशेषात्
कौसुम्भवासः परिधानमैच्छत् ॥ ३ ॥

३. दरिद्र होने के कारण किस प्रकार वह घनियों के लिये सुलभ आभूषण प्राप्त कर सकती थी ? फिर भी उसने घनी वनाने वाला अर्थात् धन-सम्पत्ति का बाह्य प्रदर्शन मात्र करने वाला वह अरुण वस्त्र ही विशेष रूप से पहनना चाहा।

इच्छामवोचत् पितरौ प्रति स्वां
स्फुटं निशम्याऽवदतां च तौ ताम् ।
वयं दरिद्राः प्रियपुत्रि ! वासो
महार्घमीदृक् कथमाप्नुयाम ॥ ४ ॥

४. उसने अपनी इच्छा स्पष्ट रूप में माता पिता को बताई। उन्होंने यह सुन कर कहा—प्रिय पुत्रि ! हम दरिद्र हैं। इतना बहुमूल्य वस्त्र किस प्रकार

प्राप्त कर सकते हैं ।

आदिश्यतां र्तीह भृतिं विधातुं
कुत्राऽपि गत्वाऽऽढ्यकुलीनगेहे ।
यां जीविकाकृत्य परिश्रमेण
महार्घमेतद् वसनं लभेय ।। ५ ।।

५. तब आप मुझे किसी सम्पन्न तथा कुलीन घर में सेवा करने की आज्ञा दीजिये । [ताकि] अपने परिश्रम से मैं उस सेवा को जीवकोपार्जन का साधन बना कर इस बहुमूल्य वस्त्र को प्राप्त कर सकूँ ।

इत्यूचुषीं तां भृतयेऽवदातां
प्रीतावनुज्ञां पितरावदाताम् ।
लब्धाभ्यनुज्ञा च भृतिं चिकीर्षुः
कस्याऽपि सेभ्यस्य कुले जगाम ।। ६ ।।

६. उसके ऐसा कहने पर माता पिता ने प्रसन्न होकर अपनी सच्चरित्र पुत्री को सेवा करने की आज्ञा दे दी । आज्ञा पाकर वह सेवा की अभिलाषा से किसी धनाढ्य के परिवार में गई ।

गत्वाऽब्रवीदित्थमये महेच्छाः !
कार्याथिनीं मामवगच्छतैताम् ।
रक्तस्य वस्त्रस्य कृते स्वदेहे
भृत्यां चिकीर्षाम्यहमत्र गेहे ।। ७ ।।

७. वहाँ जाकर उसने कहा, महाशय ! मैं यहाँ पर कोई सेवा कार्य पाने के लिए आई हूँ । मैं अपने शरीर पर कुसुम्भ वर्ण के वस्त्र धारण करना चाहती हूँ, अतः [उसकी प्राप्ति के लिये] इस घर में सेवा करना चाहती हूँ ।

वित्तैषिणीं मां न च वित्त यूयं
कौसुम्भवासो ह्यहमीप्सुरस्मि ।
यद्यस्ति किंचिन्मम योग्यमत्र
श्रीमद्गृहे कार्यमुदीर्यतां तत् ।। ८ ।।

८. मुझे धन की अभिलाषा नहीं है । मैं तो मात्र अरुण वस्त्र प्राप्त करना चाहती हूँ । यदि आप के घर में मेरे योग्य कोई सेवा-कार्य है, तो कहिये ।

ततोऽभ्यधादिभ्यकुलाधिपस्तां
कार्यं तु बह्वस्ति परं शृणु त्वम् ।
वर्षत्रयानन्तरमेव भद्रे !
त्वद्योग्यतां वीक्ष्य भृतिं प्रदाता ।। ९ ।।

९. तब उस धनाढ्य गृहस्वामी ने कहा, घर में कार्य तो बहुत है, परन्तु

तुम सुनो। हे भद्रे! मैं तीन वर्ष बीतने के बाद ही तुम्हारी योग्यता देख कर वेतन दूंगा।

एतद् यदि स्वीकुरुषे तदेहि
कार्यं विधेह्यत्र च दत्तचित्ता।
तदोररीकृत्य मुदात्मभृत्या-
कृत्येऽभवत्सापि हृदा प्रवृत्ता ॥ १० ॥

१०. यदि यह शर्त तुम्हें स्वीकार है तो आओ, और दत्तचित्त होकर काम करो। उसने यह सहर्ष स्वीकार कर लिया और मनोयोगपूर्वक सेवा-कार्य में प्रवृत्त हो गई।

कार्यं स्वचित्तानुगुणं गुणज्ञो
दृष्ट्वा तदीयं धनिकः प्रसन्नः।
प्रागेव वर्षत्रितयादयच्छद्
रक्तं तदन्यच्च सहैव वासः ॥ ११ ॥

११. गुणप्रिय धनी अपने मन के अनुकूल उस का कार्य देख कर प्रसन्न हुआ। उसने तीन वर्ष की अवधि से पूर्व ही कुसुम्भ (अरुण) वस्त्र के साथ-साथ अन्य वस्त्र भी प्रदान किये।

वाणीमभाणीच्च गृहाण चैलं
कुसुम्भवर्णं स्वमनोनुकूलम्।
स्वाभिः सखीभिः सह वेश्म गत्वा
स्नात्वा पवित्वा परिधत्स्व चैनत् ॥ १२ ॥

१२. और कहा, तुम अपने अभीष्ट अरुण वस्त्र को ग्रहण करो और अपनी सखियों के साथ घर जाकर स्नान विशुद्ध होकर इसे धारण करो।

सोपात्तचैला गृहमेत्य साकं
स्नातुं गता स्वीयसखीभिरेकम्।
तपस्विनं काश्यपबुद्धशिष्यं
यदृच्छयोपागतमालुलोके ॥ १३ ॥

१३. उसने वस्त्र ग्रहण किये तथा अपनी सखियों के साथ घर जाकर स्नान करने के लिये चली गई। वहाँ उसने अकस्मात् आये हुए कश्यपगोत्रीय महात्मा बुद्ध के एक तपस्वी शिष्य के दर्शन किये।

विलोक्य तं चीवरवर्जितं सा
वृक्षत्वगाच्छादितगात्रयष्टिम्।
प्रकुर्वती स्नानमहीनकालं
व्यचीचरच्चारु तदैवमुच्चैः ॥ १४ ॥

उसने वस्त्रहीन एवं वृक्ष-वल्कल से आच्छादित शरीर वाले तपस्वी को देख कर स्नान करते हुए, समय न खो कर, इस प्रकार मन में सुन्दर तथा उदात्त विचार किया :

अयं प्रबुद्धो यतिरात्मलीनः
पुरः स्थितश्चीवरवस्त्रहीनः ।
दद्यामहं लोहितकं पटञ्चे-
दस्मै तदा पुण्यवती भवेयम् ।। १५ ।।

१५. ये मेरे सम्मुख तत्त्वज्ञानी आत्मलीन यति विराजमान हैं, इनके पास कोई चीवरपट नहीं है । यदि मैं इन्हें अपना यह अरुण वस्त्र दे दूँ, तो मुझे पुण्यलाभ होगा ।

मया पुराऽकारि न दानमस्मात्
सुदुर्लभा मे वसनोपलब्धिः ।
पटस्य खण्डद्वयमस्य कृत्वा
ददेऽहमार्याय सुभिक्षवेऽस्मै ।। १६ ।।

१६. मैंने पूर्वजन्म में कोई दान नहीं किया, इसीलिये मुझे वस्त्र की प्राप्ति भी दुर्लभ है । मैं इस वस्त्र के दो खण्ड कर एक इन शोभन आर्य भिक्षु को दे देती हूँ ।

इत्याकलय्येत्य पुरः पटं स्वं
सा स्नाननिर्णिक्ततनुर्विपाट्य ।
अर्धं स्वयं पर्यदधादथार्धं
प्रणम्य तस्मै यतये मुदाऽदात् ।। १७ ।।

१७. ऐसा सोचकर उसने स्नान से शरीर को शुद्ध करने के पश्चात् वस्त्र को फाड़ा । आधा वस्त्र स्वयं धारण किया और आगे बैठ कर, मुनि को प्रणाम करके प्रसन्नतापूर्वक शेष वस्त्र खण्ड उन्हें समर्पित कर दिया ।

तद्दत्तवस्त्रं स यतिर्गृहीत्वा
गत्वा रहस्तत्र विमुच्य वल्कम् ।
वासो नवीनं परिधाय चाऽऽशु
ततः समागत्य पुरोऽवतस्थे ।। १८ ।।

१८. उसके दिये वस्त्र को लेकर यति एकान्त स्थान में चले गये, वहाँ जाकर वल्कल का त्याग कर दिया और नवीन वस्त्र धारण करके शीघ्र वहाँ लौट कर उसके सम्मुख स्थित हो गये ।

तद्वस्त्ररोचिर्निचयेन भिक्षो-
र्वपुर्ज्वलत्सूर्य इवोद्दिदीपे ।

यदद्भुतं प्रेक्ष्य विचारशीला
चित्रीयमाणा व्यचिचिन्तदेषा ॥ १९ ॥

१९. उस वस्त्र के [अरुणिम] प्रभा-पुञ्ज से भिक्षु का शरीर प्रचण्ड सूर्य के समान दीप्त हो उठा। यह चमत्कार देख कर विस्मित होती हुई वह विवेकवती इस प्रकार विचार करने लगी।

न रक्तवासःप्रतिमोचनात् प्राग्
ईदृक्प्रकाशो यतिरेष आसीत्।
आमुच्य तल्लोहितकं पटं तु
विभाति बालार्क इवोल्लसद्भाः ॥ २० ॥

२०. इस अरुण वस्त्र के धारण से पूर्व यति का तेज ऐसा नहीं था। इसे धारण करके तो इसकी प्रभा बालसूर्य के समान शोभा पा रही है।

देदीप्यतेऽयं प्रतिमुक्तवासा
यतो विशेषेण विभूषितोऽतः।
द्वितीयमप्यर्धमहं पटस्य
दद्याममुष्मै यतये कथं न ? ॥ २१ ॥

२१. वस्त्र पहन कर यह यति विशेष रूप से विभूषित एवं देदीप्यमान हो उठता है, तो मैं इस वस्त्र का शेष दूसरा खण्ड भी इस यति को क्यों न दे दूँ ?

विचिन्तयन्त्येवमसौ पटस्या-
वशिष्टमप्यर्धमदाद् विनम्रा।
पुरः स्थितं साञ्जलिबन्धमित्थं
सम्प्रार्थयामास च तं भदन्तम् ॥ २२ ॥

२२. यह सोच कर उसने विनीत भाव से वस्त्र का अवशिष्ट अर्ध खण्ड भी दे दिया, और सामने स्थित उस भदन्त (बौद्ध भिक्षु) से अंजलि बाँध कर इस प्रकार प्रार्थना की।

अये महात्मन् शुभवृत्त ! मत्तो
गृहाण वासोऽनुगृहाण मां च।
अकिञ्चनां, काञ्चनकान्तकान्तिः
कल्याणिनी स्यां त्वदनुग्रहेण ॥ २३ ॥

२३. हे सदाचारी महात्मन् ! आप यह वस्त्र खण्ड [भी] मुझ से ग्रहण कीजिये और मुझ अकिञ्चन को अनुगृहीत कीजिये। मैं आप की कृपा से स्वर्ण के समान सुन्दर कान्ति वाली तथा कल्याणमयी बन जाऊँ।

गृहीतजन्मा भुवनेऽद्वितीया
तथोत्तमा रूपवती भवेयम्।

यथा क्वचिन्मामतिशय्य धन्या
न सुन्दरी स्यादिह काचिदन्या ॥ २४ ॥

२४. मैं [फिर] जन्म ग्रहण कर लोक में असाधारण तथा उत्तम रूप-वती बनूं। जिससे कहीं कोई मुझ से बढ़ कर धन्य सुन्दरी न हो।

आलोकमात्रेण मम स्वरूपं
विमोहितः स्यात् सकलोऽपि लोकः।
विलुप्तधैर्यो भृशमुन्मदिष्णु-
र्न चेतयेतैव सचेतनोऽपि ॥ २५ ॥

२५. मेरे स्वरूप के दर्शनमात्र से सभी लोग मुग्ध हो जायें तथा विवेकशील पुरुष का भी धैर्य लुप्त हो जाय और वह इतना उन्मत्त हो जाय कि सारी सुध बुध भूल जाय।

यतिस्तदाकर्ण्य तथाऽस्त्वितीमां
शुभाशिषं प्रोच्य ययौ यथेतम्।
साऽपि प्रतीता स्वगृहं निवृत्ता
काले पुनर्जन्म मृतोपलेभे ॥ २६ ॥

२६. यति ने यह सुन कर 'तथास्तु' कहा और शुभ आशीष देकर, जिधर से आया था, चला गया। वह भी सन्तुष्ट होकर घर लौटी। मृत्यु के पश्चात् समय आने पर उसने फिर जन्म ग्रहण किया।

जन्मान्तरं प्राप्य निकामरम्या
सुरेन्द्रलोके किल सञ्चरन्ती।
इहोदिताऽरिष्टपुरेऽभिनन्द्या
तिरीटवत्सस्य सुता बभूव ॥ २७ ॥

२७. देवलोक में विचरण करती हुई अनुपम सुन्दरी वह दूसरे जन्म में उपर्युक्त अरिष्टपुर में तिरीटवत्स की प्रशंसनीय कन्या हुई।

सेयं भदन्ताय समागताय
कुसुम्भरागोज्ज्वलवस्त्रदानात्।
पुण्यात् तदाशीर्विषयाच्च हेतो-
र्दधावसाधारणरूपशोभाम् ॥ २८ ॥

२८. आगन्तुक बौद्ध भिक्षु को कुसुम्भ (अरुण) वर्ण का उत्तम वस्त्र दान करने से उदित पुण्यफल तथा उसके आशीर्वचनों के परिणामस्वरूप उसने यह असाधारण रूप छटा प्राप्त की।

नाम्नोन्मदन्तीत्यभिधीयमाना
वपुःश्रियोन्मादकरीयमस्ति।

यां वीक्ष्य विप्रैर्विकृतिं गतैस्तै-
र्महीपतिर्विप्रकृतः कुमारः ।। २६ ।।

२६. नाम से उसे 'उन्मदन्ती' सम्बोधित किया जाता है। देह की उज्ज्वल कान्ति के कारण यह उन्मत्त बनाने वाली है। जिसे देखकर ब्राह्मण विकार को प्राप्त हुए और उन्होंने महीपति कुमार को [उन्मदन्ती के प्रति] प्रतिकूल कर दिया।

भाग्यादिदानीमहिपारकस्य
भार्येयमार्यैकपतिव्रताऽऽस्त।
गृहस्थधर्मं परिपालयन्ती
सुखेन पुण्यं समयं नयन्ती ।। ३० ।।

३०. भाग्यवश अब वह आर्या अहिपारक की पतिव्रता पत्नी थी। गृहस्थ-धर्म का पालन करती हुई सुख से पवित्रतापूर्ण समय बिता रही थी।

काले व्यतीतेऽथ कदाचिदिष्टः
स्वयं कुमारक्षितिभृत्प्रदिष्टः।
प्रचक्रमे कार्तिकपूर्णिमायां
महोत्सवोऽरिष्टपुरे विशिष्टः ।। ३१ ।।

३१. समय बीतने पर एक बार स्वयं महाराज कुमार के द्वारा आदिष्ट, अरिष्टपुर में कार्तिकपूर्णिमा के अवसर पर विशेष रूप से सुन्दर, महोत्सव प्रारम्भ हुआ।

प्रमार्जिता पल्लवपुष्पवाटी
परिष्कृता गन्धजलावसिक्ता।
प्रशस्तवस्तूपहिता समस्ता
सुशोभिता भूमिरभून्नगर्याः ।। ३२ ।।

३२. पल्लव-पुष्पों से आकीर्ण वाटिका को साफ कर सजाया गया और सुगन्धित जलों से सींचा गया। समस्त नगरी सुन्दर वस्तुओं से जगमगाने लगी।

तदा स्वभार्यामहिपारकोऽसौ
संबोध्य शुद्धान्तगतामवोचत्।
प्रियेऽद्य पुण्याहमहोत्सवेऽस्मि-
न्नलङ्कृतेयं नगरी समग्रा ।। ३३ ।।

३३. तब अहिपारक ने अन्तःपुर में स्थित अपनी पत्नी को संबोधित कर कहा, प्रिये ! आज महोत्सव के पुण्य दिवस पर समस्त नगरी जगमगा रही है।

राजाऽस्मदीयः स कुमारसंज्ञो
निरीक्षमाणः सुषमाममुष्याः।

प्रसिद्धमस्मद्गृहमेव पूर्वं
द्रष्टुं समेतेति विभावयामि ॥ ३४ ॥

३४. मेरा विचार है कि हमारा राजा कुमार नगरी की शोभा को देखते हुए हमारे सुप्रसिद्ध अथवा शोभापूर्ण भवन को ही पहले देखने आ सकता है (ऐसी सम्भावना है)।

भाव्यं त्वयान्तःस्थितयैव तस्मिन्
काले यतस्त्वां न विलोकयेत् सः।
दृष्टा क्षणं चेदमुना त्वमार्ये!
महाननर्थो भविता तदानीम् ॥ ३५ ॥

३५. उस समय तुम भीतर ही रहना, कहीं वह तुम्हें देख न ले। आर्ये! उसने यदि तुम्हें क्षण भर भी देख लिया, तो महान् अनर्थ हो जायगा।

त्वदीयसौन्दर्यमतीव हारि
सर्वस्य लोकस्य विकारकारि।
भूपः स मा पप्तदभिन्नरूपे
भूयोऽभिरूपे तव रूपकूपे ॥ ३६ ॥

३६. क्योंकि तुम्हारे सौन्दर्य में अतीव आकर्षण है, वह सभी लोगों के मन में विकार उत्पन्न कर देता है। कहीं वह भूप असाधारण सुन्दर तुम्हारे रूप के कूप में गिर न जाय।

इत्येतदुक्ता स्वपतौ यियासौ
प्रियोन्मदन्ती स्थिरधीरगादीत्।
द्रक्ष्यामि तावत्समयानुरूपं
यथा न दृश्येत मम स्वरूपम् ॥ ३७ ॥

३७ [कहीं] जाने के इच्छुक पति के ऐसा कहने पर उन्मदन्ती ने स्थिर भाव से कहा, मैं समय के अनुरूप ऐसा प्रवन्ध करूंगी, जिससे मेरा रूप उसे दिखाई न दे।

गते तु भर्तर्यहिपारके सा
दासीं समाहूय समादिदेश।
नृपे मम द्वारमुपागतेऽहं
द्रुतं त्वयाऽऽगत्य निवेदनीया ॥ ३८ ॥

३८. स्वामी अहिपारक के चले जाने पर उसने दासी को बुला कर आदेश दिया कि जब राजा मेरे भवन के द्वार पर पहुँचे, तुम मुझे शीघ्र आकर सूचित करना।

अस्तङ्गते भास्वति, चन्द्रबिम्बे
पूर्णे निशायामुदिते च पुर्याः ।
समन्ततो दीपकदीपितायाः
शोभां शुभां प्रेक्षितुमैन्महीपः ॥ ३९ ॥

३९. सूर्य के अस्त हो जाने पर, और रात्रि में पूर्ण चन्द्रमा के उदय होने पर राजा कुमार दीपकों के प्रकाश से चारों ओर प्रोज्ज्वल नगरी की मांगलिक शोभा को देखने के लिये [राजमार्ग पर] आया।

विभूषणैर्भूषितसर्वगात्रो
रथस्थितो मन्त्रिगणान्वितः सः ।
विलोकयन्नुत्सवकान्तिमेतः
पूर्वं गृहद्वार्यहिपारकस्य ॥ ४० ॥

४०. अलंकारों से शरीर को विभूषित कर राजा कुमार रथ पर बैठ कर मन्त्रियों के साथ उत्सव की छटा देखता हुआ पहले अहिपारक के गृहद्वार पर पहुँचा ।

सेनापतेस्तस्य विशेषरम्यः
प्रासाद आसीत् स मनःप्रसादः ।
अभ्रंलिहाट्टालकदर्शनीयो
मनःशिलाचारुविशालवप्रः ॥ ४१ ॥

४१. सेनापति का महल विशेष रूप से सुन्दर था और मन को प्रसन्नता देने वाला था। उसकी दर्शनीय अट्टालिकायें मेघों को स्पर्श करती थीं और विशाल प्राकार मैनसिल से रमणीय थी।

तत्राऽऽगतं वीक्ष्य कुमारभूपं
चेटी गृहद्वार्युपतिष्ठमाना ।
आर्ये ! महाराज उपागतोऽसा-
वित्युन्मदन्तीमसुसूचदित्वा ॥ ४२ ॥

४२. वहाँ भूपति कुमार को आया हुआ देख गृह-द्वार पर अवस्थित दासी ने जा कर सूचना दी, आर्ये ! महाराज आ गए हैं।

श्रुत्वैव सा हर्म्यशिरोगृहे स्वे
गवाक्षजालान्तरिता स्थिताऽभूत् ।
आदाय पुष्पाणि नृपस्य मूर्ध-
न्यवाकिरत् किन्नरलीलया च ॥ ४३ ॥

४३. यह सुनते ही वह अपने भवन के ऊपरी कक्ष में खिड़की की जाली के पीछे छिप कर ठहर गई। फिर उसने किन्नरों की भाँति, पुष्प लेकर राजा

के ऊपर बिखेर दिए ।

राज्ञः सपद्यूर्ध्वमुखस्य तस्या
मुखारविन्दे निपपात दृष्टिः ।
अभूच्च दृष्टेः समकालमेव
कामस्य चापादपि बाणवृष्टिः ॥ ४४ ॥

४४. ऊपर की ओर मुख किये हुए राजा की दृष्टि सहसा उसके मुखारविन्द पर पड़ी । दृष्टि पड़ने के साथ ही कामदेव के धनुष से बाणवृष्टि भी हो गई ।

दृष्ट्वोज्ज्वलां चञ्चललोचनां तां
सुवर्णवर्णां रमणीं महीपः ।
प्रपीडितः कामशरप्रहारैं-
र्मङ्क्षु न्यमाङ्क्षीद् गहनान्धकारे ॥ ४५ ॥

४५. उज्ज्वल रूप-सम्पदा से आलोकित, चंचल नेत्रों वाली, सुवर्णवर्णा उस रमणी को देख कर राजा कामदेव के शर प्रहार से पीड़ित होकर उसी समय [दुर्भाव के] गहन अन्धकार में निमग्न हो गया ।

तस्यां तरुण्यां प्रसितोऽतिमात्रं
दुर्वासनावासितमानसः सः ।
उन्मादयुक्तो विगलद्विवेकः
सद्माऽपि नावेदहिपारकस्य ॥ ४१ ॥

४६. दुर्वासना से दूषित अन्तःकरण वाला राजा उस तरुणी के जाल में बुरी तरह फंस गया । उन्मत्त एवं विवेक शून्य राजा को अहिपारक के घर का भी ध्यान न रहा ।

हृद्युन्मदन्तीमवधाय रम्यां
गम्यामगम्यामपि न व्यजानात् ।
कामाहतो हन्त विमूढचेताः
सद्यो विसस्मार निजस्वरूपम् ॥ ४७ ॥

४७. सुन्दरी उन्मदन्ती को हृदय में धारण करने वाले राजा को गम्या अथवा अगम्या का भी विवेक न रहा । वह मूढ़मति कामार्त्त होकर अपना स्वरूप भी एकदम भूल गया ।

अहो विधेः कीदृगियं विसृष्टि-
रिष्टाऽप्यनिष्टाऽजनि पुष्पवृष्टिः ।
दृष्ट्वोपरिष्टात् क्षणमेष कृष्टि-
र्भूपोऽप्यभूद् येन विनष्टदृष्टिः ॥ ४८ ॥

४८. अहो ! विधाता की यह कैसी लीला है ! सदुद्देश्य से की गई पुष्प-वृष्टि भी अनिष्ट (अनर्थकारिणी) हो गई। क्षण भर ऊपर की ओर देख कर विद्वान् राजा की विवेक दृष्टि भी प्रतिहत हो गई।

रथस्थितोऽसावथ सावहित्थं
पप्रच्छ मुग्धो निजसूतमित्थम् ।
एतद् गृहं कस्य चकास्ति रम्यं
संस्पर्ध्यसौभाग्यवताऽधिगम्यम् ॥ ४९ ॥

४९. रथ पर स्थित मूढ़ राजा ने अवज्ञा के साथ सूत से इस प्रकार पूछा यह सुन्दर भवन किस का है ? यह स्पर्शनीय सौभाग्य वाले लोगों के पहुँचने के योग्य है।

सौदामनीवाऽऽश्रितचन्द्रशाला
लावण्यवत्युत्पलिनीव बाला ।
प्रसन्नपूर्णेन्दुमतीव राका
समुज्ज्वलद्दीपशिखेव सा का ॥ ५० ॥

५०. ऊपर के भवन में स्थित विद्युत्-लता के समान [चंचल], लावण्यमयी कमलिनी के सदृश [मनोहर], पूर्णचन्द्र की प्रभा से द्योतित रजनी सी, तथा दीपक की प्रदीप्त शिखा सी वह बाला कौन है ?

एषाऽस्ति कस्यापि सुता स्नुषा वा
प्रियाऽथवा प्रेमरसप्रवीणा ।
विवाहिता वाऽप्यविवाहिता वे-
त्यसंशयं मामभिधेहि सूत ! ॥ ५१ ॥

५१. यह किसी की कन्या अथवा बहू है, प्रिया या प्रेमप्रवीण प्रेयसी है, विवाहित है या अविवाहित है ? हे सूत ! मुझे निश्चयपूर्वक बताओ।

सूतस्तु तं कामविमुग्धबुद्धिं
नृपं विदित्वा विशदं त्यगादीत् ।
अये महाराज ! कथं समक्षं
पश्यन्नपि त्वं नहि पश्यसीदम् ॥ ५२ ॥

५२. सारथि ने राजा को काम-मोहित-बुद्धि जान कर स्पष्ट रूप में कहा, महाराज ! क्या आप अपने सामने देखते हुए भी नहीं देख रहे हैं ?

अस्याः सुदत्याः शुभमन्ववायं
मातुः पितुश्चाहमवैमि सम्यक् ।
जानामि तं चापि जनं पुनस्त्वां
यः सेवते प्रत्यहमप्रमत्तः ॥ ५३ ॥

के ऊपर बिखेर दिए ।

राज्ञः सपद्यूर्ध्वमुखस्य तस्या
मुखारविन्दे निपपात दृष्टिः ।
अभूच्च दृष्टेः समकालमेव
कामस्य चापादपि बाणवृष्टिः ॥ ४४ ॥

४४. ऊपर की ओर मुख किये हुए राजा की दृष्टि सहसा उसके मुखारविन्द पर पड़ी । दृष्टि पड़ने के साथ ही कामदेव के धनुष से बाणवृष्टि भी हो गई ।

दृष्ट्वोज्ज्वलां चञ्चललोचनां तां
सुवर्णवर्णां रमणीं महीपः ।
प्रपीडितः कामशरप्रहारै-
र्मङ्क्षु न्यमाङ्क्षीद् गहनान्धकारे ॥ ४५ ॥

४५. उज्ज्वल रूप-सम्पदा से आलोकित, चंचल नेत्रों वाली, सुवर्णवर्णा उस रमणी को देख कर राजा कामदेव के शर प्रहार से पीड़ित होकर उसी समय [दुर्भाव के] गहन अन्धकार में निमग्न हो गया ।

तस्यां तरुण्यां प्रसितोऽतिमात्रं
दुर्वासनावासितमानसः सः ।
उन्मादयुक्तो विगलद्विवेकः
सद्माऽपि नावेदहिपारकस्य ॥ ४१ ॥

४६. दुर्वासना से दूषित अन्तःकरण वाला राजा उस तरुणी के जाल में बुरी तरह फंस गया । उन्मत्त एवं विवेक शून्य राजा को अहिपारक के घर का भी ध्यान न रहा ।

हृद्युन्मदन्तीमवधाय रम्यां
गम्यामगम्यामपि न व्यजानात् ।
कामाहतो हन्त विमूढचेताः
सद्यो विसस्मार निजस्वरूपम् ॥ ४७ ॥

४७. सुन्दरी उन्मदन्ती को हृदय में धारण करने वाले राजा को गम्या अथवा अगम्या का भी विवेक न रहा । वह मूढ़मति कामार्त्त होकर अपना स्वरूप भी एकदम भूल गया ।

अहो विधेः कीदृगियं विसृष्टि-
रिष्टाऽप्यनिष्टाऽजनि पुष्पवृष्टिः ।
दृष्ट्वोपरिष्टात् क्षणमेष कृष्टि-
र्भूपोऽप्यभूद् येन विनष्टदृष्टिः ॥ ४८ ॥

४८. अहो ! विधाता की यह कैसी लीला है ! सदुद्देश्य से की गई पुष्प-वृष्टि भी अनिष्ट (अनर्थकारिणी) हो गई। क्षण भर ऊपर की ओर देख कर विद्वान् राजा की विवेक दृष्टि भी प्रतिहत हो गई।

रथस्थितोऽसावथ सावहित्थं
पप्रच्छ मुग्धो निजसूतमित्थम्।
एतद् गृहं कस्य चकास्ति रम्यं
संस्पर्ध्यसौभाग्यवताऽधिगम्यम् ॥ ४९ ॥

४९. रथ पर स्थित मूढ़ राजा ने अवज्ञा के साथ सूत से इस प्रकार पूछा यह सुन्दर भवन किस का है ? यह स्पर्शनीय सौभाग्य वाले लोगों के पहुँचने के योग्य है।

सौदामनीवाऽऽश्रितचन्द्रशाला
लावण्यवत्युत्पलिनीव बाला।
प्रसन्नपूर्णेन्दुमतीव राका
समुज्ज्वलद्दीपशिखेव सा का ॥ ५० ॥

५०. ऊपर के भवन में स्थित विद्युत्-लता के समान [चंचल], लावण्यमयी कमलिनी के सदृश [मनोहर], पूर्णचन्द्र की प्रभा से द्योतित रजनी सी, तथा दीपक की प्रदीप्त शिखा सी वह बाला कौन है ?

एषाऽस्ति कस्यापि सुता स्नुषा वा
प्रियाऽथवा प्रेमरसप्रवीणा।
विवाहिता वाऽप्यविवाहिता वे-
त्यसंशयं मामभिधेहि सूत ! ॥ ५१ ॥

५१. यह किसी की कन्या अथवा वहू है, प्रिया या प्रेमप्रवीण प्रेयसी है, विवाहित है या अविवाहित है ? हे सूत ! मुझे निश्चयपूर्वक बताओ।

सूतस्तु तं कामविमुग्धबुद्धिं
नृपं विदित्वा विशदं न्यगादीत्।
अये महाराज ! कथं समक्षं
पश्यन्नपि त्वं नहि पश्यसीदम् ॥ ५२ ॥

५२. सारथि ने राजा को काम-मोहित-बुद्धि जान कर स्पष्ट रूप में कहा, महाराज ! क्या आप अपने सामने देखते हुए भी नहीं देख रहे हैं ?

अस्याः सुदत्याः शुभमन्ववायं
मातुः पितुश्चाहमवैमि सम्यक्।
जानामि तं चापि जनं पुनस्त्वां
यः सेवते प्रत्यहमप्रमत्तः ॥ ५३ ॥

५३. इस सुन्दर दन्तपंक्ति वाली सुन्दरी के माता-पिता का शुभ वंश मुझे अच्छी तरह विदित है और मैं उस पुरुष को भी अच्छी तरह जानता हूँ जो प्रतिदिन प्रमादशून्य होकर अर्थात् मनोयोग से आपकी सेवा करता है।

स बुद्धिमद्वैभवशालिमुख्यः
श्रीमानमात्योऽस्त्यहिपारकाख्यः ।
तस्यैव भार्येयमुदात्तकान्ति-
र्नाम्नोन्मदन्तीत्यभिधां भजन्ती ॥ ५४ ॥

५४. वह है बुद्धिमानों और वैभवशालियों में प्रमुख आप का मन्त्री अहिपारक। यह उसी की परम रूप शोभना भार्या है, जिसका नाम उन्मदन्ती है।

श्रुत्वाऽपि भूपस्तु तदोन्मदन्त्यां
रागानुबन्धाद् हतबुद्धिरासीत् ।
अतः समुत्सृज्य समस्तमन्यद्
वाचं तदा तद्विषयामगादीत् ॥ ५५ ॥

५५. यह सब सुन कर भी, उन्मदन्ती पर अत्यधिक अनुराग के कारण राजा का विवेक नष्ट हो गया। वह अन्य सभी कुछ छोड़ कर उसी के विषय में ही बात करने लगा।

अहो किमुच्येत विमोहनीयं
नामोन्मदन्तीत्युचितं हि धत्ते ।
उन्मादितोऽस्मि प्रसभं नताङ्ग्या
ययाऽनयाहं विनयान्वितोऽपि ॥ ५६ ॥

५६. अहा! 'उन्मदन्ती' नाम कितना यथार्थ और आकर्षक है। जिससे इस कमनीय अङ्गों वाली रमणी ने मुझ सुशिक्षित एवं आचारवान् पुरुष को भी बलपूर्वक उन्मत्त बना दिया है।

किमत्र कुर्वे प्रतिबद्धबुद्धि-
र्मनःसमाधौ प्रभवामि नाहम् ।
क्षणं निरीक्ष्यैव यतोऽहमेतां
कामातुरो मोहमुपागतोऽस्मि ॥ ५७ ॥

५७. इस स्थिति में मैं क्या करूँ? विवेकशक्ति कुण्ठित हो जाने से मैं मन को संयम में नहीं रख सकता। क्योंकि क्षण भर इसके दर्शन मात्र से ही मैं कामातुर होकर मोहपाश में बंध गया हूँ।

अथोन्मदन्त्यात्मनि वीक्ष्य बाढं
निबद्धरागं नृपतिं प्रगाढम् ।

गवाक्षजालादपसृत्य नीचै-
रन्तःपुरं स्वं प्रविवेश शीघ्रम् ॥ ५८ ॥

५८. इधर उन्मदन्ती राजा को अपने में अत्यन्त रागासक्त देख कर तुरन्त खिड़की से हट कर नीचे अपने अन्तःपुर में प्रविष्ट हो गई।

तामन्तरा व्याकुलितान्तरोऽसौ
भूपोऽभ्यनन्दन्न पुरस्य शोभाम्।
निरीक्षणं चापि महोत्सवस्य
तच्चिन्तयैव स्थगितं चकार ॥ ५९ ॥

५९. उन्मदन्ती के लिये अत्यन्त व्याकुल राजा को नगर की शोभा रुचिकर न लगी। उसी के ध्यान में [विषण्ण] राजा ने महोत्सव के निरीक्षण का कार्य-क्रम भी स्थगित कर दिया।

स्वसारथिं चाह विचारमूढः
पुरःस्फुरत्कामरथाधिरूढः।
निवर्तय स्यन्दनमङ्ग ! शूलो
महोत्सवोऽयं न ममानुकूलः ॥ ६० ॥

६०. सामने प्रकाशमान कामरूपी रथ पर आरूढ़ विवेकहीन राजा ने अपने सारथि से कहा, हे सूत ! रथ को वापस ले चलो ! यह महोत्सव मेरे लिये प्रीतिकर नहीं प्रत्युत शूल-सदृश है।

यस्योन्मदन्ती तरुणीगणानां
शिरोमणिः सा रमणी प्रियाऽऽस्ते।
श्लाघ्यस्य तस्याऽस्त्वहिपारकस्य
क्षणे क्षणेऽयं क्षण ईक्षणीयः ॥ ६१ ॥

६१. युवतियों में शिरोमणि, रमणी उन्मदन्ती जिसकी प्रिया पत्नी है, उस प्रशंसनीय अहिपारक के लिये यह उत्सव प्रतिक्षण प्रेक्षणीय हो सकता है।

तस्यैव सौभाग्यवतोऽनुकूलं
प्राज्यं च राज्यं रमणीयमस्तु।
मादृक् तु तादृग्रमणीविहीनो
भ्रमन्नगर्यां कथमादृतः स्यात् ॥ ६२ ॥

६१. यह विशाल राज्य उसी सौभाग्यवान् को ही अनुकूल एवं रमणीय लग सकता है [जिनकी ऐसी सुन्दर पत्नी है], अहिपारक की पत्नी जैसी रमणी से विहीन मेरे जैसा व्यक्ति नगरी में घूमता हुआ किस प्रकार प्रशंसापात्र बन सकता है ?

इत्यूचिवान् पुष्परथं निवर्त्य
नृपः स्वहर्म्यं च तदाऽभिगत्य ।
एकान्तशय्यामधिशय्य मोहा-
दनर्गलं सोत्कलिको व्यलापीत् ।। ६३ ।।

६३. यह कह कर पुष्पसज्जित रथ को वापस लौटा कर राजा अपने प्रासाद में पहुँचा । एकान्त में शय्या पर लेट कर वह मोहवश [वियोगजन्य] उत्कण्ठा (व्याकुलता) के साथ वृथा प्रलाप करने लगा ।

सुकोमलाङ्गीं मृगलोचनां तां
साक्षात् सुरस्त्रीमिव चन्द्रकान्ताम् ।
दृष्टाममुष्यां निशि पौर्णमास्यां
लब्ध्वाऽहमानन्दमितः कदा स्याम् ।। ६४ ।।

६४. इस पूर्णमासी की रात में देखी हुई अतीव कोमलाङ्गी, मृगनयनी, साक्षात् देवाङ्गना के सदृश तथा इन्द्र के समान कमनीय इस रमणी को पाकर मैं कब आनन्द का उपभोग करूँगा ।

कपोतपादारुणवस्त्रभासा
प्रकाशिताशा विकसद्विलासा ।
चन्द्रोदये चन्द्रमुखीं विलोक्य
चन्द्रावहो विस्मयमभ्युपेतः ।। ६५ ।।

६५. कपोत के चरणों के समान अरुण वस्त्रों की आभा से दिशाओं को प्रकाशित करने वाली, कमनीय हाव-भावों से सुभूषित उस चन्द्रमुखी को जब मैंने चन्द्रोदय के समय देखा, तब अहा ! दो चन्द्रमा हैं यह सोच मैं विस्मित हो उठा ।

अनङ्गरङ्गस्थलमन्तरङ्गं
तरङ्गयन्ती कुटिलैः कटाक्षैः ।
असौ विशालायतपक्ष्मलाक्षी
मनोऽहरन्मे वनकिन्नरीव ।। ६६ ।।

६६. कामदेव की लीला-स्थली अन्तरङ्ग (मन) को अपने कुटिल कटाक्षों से हिलोरें देती हुई उस सुन्दर पलकों से युक्त विशाल नयनों वाली उन्मदन्ती ने वन किन्नरी के समान, मेरा मन हर लिया है ।

मणिप्रभोद्भासितकुण्डलश्री-
र्हेमद्युतिर्विद्युदिवोल्लसन्ती ।
मुग्धा विदग्धोचितलीलया मां
व्यलोकयत् सा चकिता मृगीव ।। ६७ ।।

६७. उस के कुण्डलों की शोभा मणि प्रभा से आलोकित थी, वर्ण स्वर्ण समान था। विद्युत् के समान चमकती हुई उस मुग्धा ने चकित (भयभीत) हरिणी के समान निपुण हाव भावों से मुझे देखा।

सुबाहुरारक्तनखा सुकेशा
स्वच्छा सुवृत्ता सुमुखा सुवेशा।
स्पर्शक्षमा मस्तकमात्तहस्ता
सन्तोषयेन्मां नु कदा प्रशस्ता ? ॥ ६८ ॥

६८. सुन्दर बाहु वाली, किंचिद्रक्त नखों वाली, सुन्दर केश वाली, स्वच्छ कान्ति, सुचरित्र, सुन्दर मुख और परिधान वाली, योग्य वह सुन्दरी कब मेरे मस्तक पर हाथ रख कर मुझे सन्तोष (धैर्य) प्रदान करेगी ?

सुहासिनी सुन्दरभाषिणी सा
सुभूषणा कोमलबाहुपाशैः।
कदा परिष्वङ्क्ष्यति मां कृशाङ्गी
मुदा रसालं नवमल्लिकेव ॥ ६९ ॥

६९. जिस प्रकार नवमल्लिका आम्रवृक्ष का आलिंगन करती है उसी तरह चारुहासिनी, मधुरभाषिणी, आभूषणों से विभूषित वह कृशाङ्गी अपने कोमल बाहुपाश से प्रसन्नता-पूर्वक कब मेरा आलिंगन करेगी ?

गण्डच्छविन्यक्कृतपुण्डरीका
लाक्षोक्षिता चञ्चलचञ्चरीका।
लतेव सा कन्दलितोदबिन्दु-
स्तनी कदोपैष्यति निन्दितेन्दुः ॥ ७० ॥

७०. कपोलों की शोभा से कमल का तिरस्कार करने वाली, महावर लगाये, चंचल भौंरी [के समान] अपनी शोभा से इन्दु कान्ति को विनिन्दित करने वाली, कन्दलाकार को प्राप्त जल बिन्दु रूप स्तनों वाली, लता के समान वह उन्मदन्ती कब मुझे प्राप्त होगी ?

कदा प्रियां प्राणसमां मनोज्ञा-
मालिङ्ग्य दोर्भ्यां नवनीतमृद्वीम्।
कथाः प्रकुर्वन् रमणीयरूपा-
स्तृप्तो भविष्याम्यधरामृतेन ॥ ७१ ॥

७१. मैं कब नवनीत के समान कोमलाङ्गी, प्राण समान प्रिया, सुन्दर उन्मदन्ती का भुजाओं से आलिंगन कर रोचक बातचीत करता हुआ उसके अधरामृत से तृप्ति प्राप्त करूँगा ?

प्रियः सुरापो ह्यपरं सुरापं
प्रीत्या यथा दातुमुपैति पात्रम् ।
तथा कदा मां प्रणयप्रकर्षा-
दुपासितुं सैष्यति सोपहारा ।। ७२ ।।

७२. जिस प्रकार कोई प्रेमी सुरापायी दूसरे सुरापायी के पास पात्र देने के लिये आता है, उसी प्रकार अत्यन्त अनुराग के साथ उपहार लिये हुए वह कब मेरी सेवा के लिये उपस्थित होगी ।

यदा प्रभृत्येव मया व्यलोकि
सा चारुसर्वावयवोन्मदन्ती ।
मनस्तदारभ्य न शान्तिमेति
निवर्तते मे हृदयान्न साऽपि ।। ७३ ।।

७३. जबसे मैंने उस सर्वाङ्गसुन्दरी को देखा है, तब से मेरा मन अशान्त है और वह भी मेरे हृदय से दूर नहीं होती ।

निशामिता यत्र मया निशायां
समुज्ज्वलत्कुण्डलमण्डलाऽसौ ।
ततः प्रभृत्येव लभे न निद्रा-
महं सहस्रर्ण इवाक्षशौण्डः ।। ७४ ।।

७४. जब से मैंने दीप्यमान कुण्डल धारण किये हुए उस रमणी को रात्रि के समय देखा है, तभी से मुझे इस प्रकार नींद नहीं आती, जिस प्रकार हजारों रुपयों के ऋणी जुआरी को ।

दद्याद् यदीशो वरमीप्सितं मे
तदैतदेवामुमिहार्थयिष्ये ।
एकद्वरात्रानहमुन्मदन्तीं
निर्वेष्टुमिष्टामहिपारकः स्याम् ।। ७५ ।।

७५. यदि ईश्वर मुझे अभीष्ट वर प्रदान करे, तो उससे मैं यही प्रार्थना करूंगा कि एक दो दिनों के लिए प्रिया उन्मदन्ती से रमण करने के लिये मैं अहिपारक बन जाऊँ ।

इत्याद्यरुच्यं बहुधोच्चनीचं
मनोविचारं रचयन् क्षितीशः ।
संभूय भूयो मदनेषुविद्धः
पथश्च्युतो भ्रष्टविवेक आसीत् ।। ७६ ।।

७६. इस प्रकार मन में बहुत सी अशोभनीय एवं ऊँची नीची कल्पनाएँ करता हुआ राजा अत्यधिक कामशरों से बिंध गया और अपने पथ से भ्रष्ट तथा

विवेकहीन बन गया।

राज्ञस्तु तद् वृत्तममात्यवर्गा-
च्छ्रुत्वा प्रसङ्गादहिपारकोऽपि।
कार्यान्निवृत्तो भवनं स्वमित्वा
पप्रच्छ भार्यां स्वयमुन्मदन्तीम् ॥ ७७ ॥

७७. अहिपारक भी प्रसंगवश मन्त्रियों से राजा की दशा सुन कर तथा कार्य से निवृत्त होकर घर गया। वहाँ उसने स्वयं अपनी पत्नी उन्मदन्ती से प्रश्न किया :

प्रिये ! त्वया रूपमिदं स्वकीयं
कुमारभूपं प्रति दर्शितं किम् ?
यथार्थमाचक्ष्व यतो महीपः
स मा स्म भूत्त्वय्यधुना प्रतीपः ॥ ७८ ॥

७८. प्रिये ! क्या तुमने अपना रूप राजा कुमार को दिखाया था ? मुझे सब कुछ यथार्थ बता दो, जिससे कहीं वह राजा तुम्हारे प्रति (तुम्हें पाने के लिये) दुष्ट आचरण न कर बैठे।

तदोन्मदन्त्युक्तवती विनीता
स्वामिन् ! पुमानेक इहागतोऽभूत्।
यस्तुन्दिलः स्थूलतनुर्गरिष्ठो
रथस्थितोऽदृश्यत दन्तुरश्च ॥ ७९ ॥

७९. तब उन्मदन्ती ने विनीत होकर निवेदन किया, स्वामिन् ! एक पुरुष यहां आया था। उसके बड़े-बड़े दाँत थे और तोंद निकली हुई थी। भारी-भरकम वह रथ पर बैठा हुआ मुझे दिखाई दिया था।

राजा स आसीद् रजकोऽथवेति
स्पष्टाऽत्र मे न प्रतिपत्तिरस्ति।
आयाति राजाऽयमिति स्वकीया-
दाकर्णितं प्रेष्यमुखान्मयाऽपि ॥ ८० ॥

८०. [उसे देख कर] मुझे स्पष्ट प्रतीत नहीं हुआ कि वह राजा है या धोबी। मैंने तो बाद में अपने सेवक के मुख से सुना कि यह राजा चला आ रहा है।

भूत्वा गवाक्षान्तरिता तदाऽहं
तस्मिन्नवर्षं कुसुमानि हर्षात्।
स च क्षणादेव ततो निवृत्त-
स्तस्मात्परं वृत्तमहं न जाने ॥ ८१ ॥

८१. फिर मैंने हर्षित होकर गवाक्ष के पीछे छिप कर उस पर पुष्प वृष्टि

की। वह उसी क्षण वहाँ से वापस चला गया था, इसके पश्चात् क्या हुआ मुझे विदित नहीं है।

दुःखाकरं वृत्तमिदं निशम्य
प्रियां स्वभार्यामवदत् तदा सः।
अयि! त्वयाऽकारि महाननर्थः
कश्चिन्न यं वारयितुं समर्थः॥ ८२॥

८२. यह दुःखद घटना सुन कर अहिपारक ने अपनी प्रिया से कहा, "तुमने महान् अनर्थ किया है जिसे रोकने में अब कोई समर्थ नहीं है"।

मया निरुद्धाऽपि कथं विरुद्धा
जाताऽभिजाताऽपि मुधा वियाता।
त्वद्रूपसम्पत्तिरियं विपत्ति
मोत्पीपदत् प्रागुदितं मयेति॥ ८३॥

८३. मैंने तुम्हें रोका था, किन्तु तुमने विपरीत आचरण किया है। कुलीन होते हुए भी तुम व्यर्थ में ही ढीठ बन गईं। तुम्हारी यह रूप-सम्पत्ति कहीं विपत्ति उपस्थित न कर दे, यह मैंने पहले ही कह दिया था (सावधान कर दिया था)।

इत्येतदुक्त्वा त्वरितः परेद्युः
प्रातः स भूभृद्भवनं प्रयाय।
अन्तःपुरद्वार्यश‍ृणोदथेनं
तदोन्मदन्त्यै विलपन्तमेनम्॥ ८४॥

८४. यह कहकर अगले दिन सवेरे शीघ्र ही वह राजा के भवन में पहुँचा। अन्तःपुर के द्वार पर उसने उन्मदन्ती के लिये अपने स्वामी को विलाप करते हुए सुना।

व्यचीचरच्चापि यदुन्मदन्ती-
निमित्तमेष प्रलपत्यजस्रम्।
सा प्राप्यतां जीवितमिच्छुना द्रा-
गप्राप्य तामद्य मरिष्यतीति॥ ८५॥

८५. अहिपारक ने विचार किया कि राजा उन्मदन्ती को पाने के निमित्त ही सतत विलाप कर रहा है। जो उसका जीवन चाहता हो उसे उन्मदन्ती उस [राजा को] शीघ्र प्राप्त करा देनी चाहिये, उसे न पाकर आज वह मर जायगा।

मयाऽस्य राज्ञो यशसो निमित्ते
ऽतिसङ्कटेऽस्मिन्नसवोऽभिरक्ष्याः।

अतोऽभ्युपायेन हि येन केन
स्वस्वामिनस्त्राणमहं करिष्ये ॥ ८६ ॥

८६. इस विषम समय में राजा के यश के निमित्त [अपयश को बचाने के लिये] इसके प्राणों की रक्षा करनी चाहिये। अतः मैं किसी भी उपाय का अवलम्ब लेकर अपने स्वामी की रक्षा करूँगा।

निवृत्य भूभृद्भवनात् स्वगेहं
गत्वा स विश्वास्यमुवाच भृत्यम्।
कार्यं त्वयैकं मम कार्यमार्य!
प्रसन्नचित्तेन धिया विचार्य ॥ ८७ ॥

८७. राजा के भवन से लौट कर वह अपने घर गया तथा विश्वासपात्र सेवक से कहा, आर्य! तुम्हें बुद्धि से विचार कर, प्रसन्न भाव से मेरा एक काम सम्पन्न करना है।

त्वया मदुक्तं विधिवद् विधेयं
तदोज्ज्वलं स्यात् तव नामधेयम्।
स्वस्वामिनो ये प्रियमाचरन्ति
धन्यास्त एवानुचरा भवन्ति ॥ ८८ ॥

८८. तुम्हें मेरे कहे अनुसार विधिपूर्वक काम करना है। तभी तुम्हारा नाम उज्ज्वल होगा। जो अपने स्वामी का अभीष्ट कार्य सिद्ध करते हैं, वे सेवक ही धन्य होते हैं।

इतस्तु यस्तिष्ठति वृक्ष एष
जीर्णो महान् दीर्घतमः समक्षम्।
कस्याऽपि न स्याद् विदितं यथैवं
तत्कोटरं त्वं निविशस्व सायम् ॥ ८९ ॥

८९. यह जो सामने विशाल, सब से दीर्घ, जीर्ण (पुराना) वृक्ष खड़ा है, तुम सायंकाल इसके कोटर में इस प्रकार प्रविष्ट हो जाना, कि यह बात किसी को विदित न हो।

अहं तदानीं बलिकर्म कुर्वन्
तद्देवतां तत्र नमस्करिष्यन्।
समागमिष्यामि विनीतवेषः
सम्प्रार्थयिष्ये च यथावदेवम् ॥ ९० ॥

९०. मैं उस समय बलिकर्म (पूजा) के निमित्त वृक्ष देवता को नमस्कार करने के लिये विनीत (साधारण) वेश में वहाँ आऊँगा और इस प्रकार विधिपूर्वक प्रार्थना करूँगा।

भो वृक्षदेव ! त्वमुपासनीयो
मनोरथं नः सफलीकुरुष्व ।
नृपोऽस्मदीयो विलपन् मुमूर्षु-
र्भवत्यतस्तं लघु जीवयेति ।। ९१ ।।

९१. हे वृक्ष देवता ! आप मेरे उपास्य देव हैं, हमारा मनोरथ सफल करें। हमारा राजा विलाप कर रहा है तथा मरणासन्न दशा को प्राप्त है, आप उसे शीघ्र जीवन प्रदान करें।

चिन्तातुरोऽदृष्टपुरोत्सवोऽयं
दुःखान्निजान्तःपुरसंस्थितोऽस्ति ।
किं कारणं तत्र वयं न विद्म-
स्त्वं सर्वविद् ब्रूहि तदप्यदृष्टम् ।। ९२ ।।

९२. राजा चिन्तातुर होकर नगरी के उत्सव को बिना देखे, विषण्ण होकर अपने अन्तःपुर में अवस्थित है। उसके इस दुःख का कारण हम नहीं जानते। आप सर्वज्ञ हैं। कृपया हमें इसका अदृष्ट कारण [जिसे हम जानने में असमर्थ हैं] बतायें।

राजा प्रजारञ्जनकृन्न एष
प्रियङ्करः खल्वपि देवतानाम् ।
मुद्रासहस्रं व्ययत्युदारः
सदाऽनुतिष्ठन् बलिवैश्वदेवम् ।। ९३ ।।

९३. हमारा यह राजा प्रजारञ्जनकारी है तथा देवताओं को भी प्रसन्न करने वाला है। यह सदा बलि वैश्वदेव का अनुष्ठान करते हुए हजार मुद्रायें उदारतापूर्वक व्यय करता है।

ततस्त्वया कोटरसंस्थितेन
स्वरं स्वकीयं परिवर्त्य वाच्यम् ।
सेनापते ! त्वन्नृपतेर्न कश्चिद्
रोगः शरीरेऽस्त्युदितः कुतश्चित् ।। ९४ ।।

९४. तब कोटर में विद्यमान तुम अपना स्वर बदल कर कहना, 'हे सेनापति तुम्हारे राजा के शरीर में कोई रोग कहीं से भी प्रकट नहीं हुआ है'।

मनस्तु ताम्यत्यनिशं तदीयं
व्यासक्तमत्यन्तमिहोन्मदन्त्याम् ।
तां प्राप्य जीविष्यति नान्यथाऽयं
तस्मात् प्रियामाशु तमर्पयेति ।। ९५ ।।

९५. उस का मन तो उन्मदन्ती में अतीव आसक्त होने के कारण सतत

व्याकुल है। उसे पाकर ही वह जीवित रह सकता है, और किसी उपाय से नहीं। अतः अपनी प्रिया उसे समर्पित कर दो।

अनन्तरं यत् करणीयमस्ति
स्वयं मयैवैत्य विधायिता तत्।
युक्त्यानयाऽऽसक्तिमुदस्य नार्या-
मार्यः स कार्ये निरतो नृपः स्यात्॥ ९६॥

९६. इसके पश्चात् जो करना होगा, उसे मैं स्वयं आकर करूँगा। इस युक्ति से वह आर्य राजा नारी में आसक्ति भाव त्याग कर राजकार्य में निरत हो जायेगा।

एवं समादिश्य विशिष्टभृत्यं
सम्प्रैषिषद् द्रागहिपारकस्तम्।
स चाऽपि गत्वा तरुकोटरस्थो
भूत्वा तमेवागमयाम्बभूव॥ ९७॥

९७. इस प्रकार आदेश देकर अहिपारक ने अपने विशिष्ट सेवक को शीघ्र [वहाँ] भेज दिया। उस सेवक ने वृक्ष कोटर में स्थित होकर उसी (अहिपारक) की प्रतिक्षा की।

अन्येद्युरागत्य स एव वृक्षो
यथोक्तमेवार्थ्यहिपारकेण।
तदन्तरस्थश्च स एव भृत्यः
प्रत्युक्तवान् बोधितपूर्वमेव॥ ९८॥

९८. दूसरे दिन अहिपारक ने वहाँ आकर वृक्ष देवता से उसी प्रकार (पूर्वोक्त) प्रार्थना की। कोटर के मध्य में स्थित उसी सेवक ने वैसे ही उत्तर दिया, जैसे उसे पहले समझाया गया था।

सेनापतिस्तद्गदितं निशम्य
प्रणम्य भक्त्या द्रुमदेवताञ्च।
निवृत्य सद्यः सचिवान् सभाज्य
प्राज्ञः स राज्ञः सदनं विवेश॥ ९९॥

९९. बुद्धिमान् सेनापति ने उसका कथन सुन कर भक्तिपूर्वक वृक्ष देवता को प्रणाम किया, और शीघ्र वहां से लौट कर [अन्य] मन्त्रियों का सत्कार (नमस्कार आदि) करता हुआ राजा के भवन में प्रविष्ट हुआ।

नृपस्तु शुद्धान्तगतोऽपि रागा-
दासीदशुद्धान्तर एव हन्त।

वृद्धिं गते रागमलानुषङ्गे
बुद्धेर्विशुद्धेर्हि कुतः प्रसङ्गः ॥ १०० ॥

१००. शुद्धान्त (अन्तःपुर) में रहते हुए भी रागवश राजा का अन्तःकरण शुद्ध नहीं था। राग आदि दोषों के साथ सम्पर्क होने पर बुद्धि की पवित्रता कहाँ संभव है ?

आवेदितो भृत्यजनैस्तदानीं
ज्ञात्वा स्थितं द्वार्यहिपारकं सः।
स्वपार्श्वमाकारयदेनमारान्
मारानुविद्धः क्षितिपः कुमारः ॥ १०१ ॥

१०१. द्वार पर अहिपारक को विद्यमान देखकर सेवकों ने राजा से निवेदन किया। काम [शरों] से विंधे हुए राजा कुमार ने उसे अपने निकट बुलाया।

उपेत्य सोऽपि प्रणनाम भूपं
सप्रश्रयं वाचमुवाच चेमाम्।
राजन् ! भवद्भावुककामुकोऽहं
कार्याज्झटित्येव समागतोऽस्मि ॥ १०२ ॥

१०२. उसने (अहिपारक ने) भी पास जाकर राजा को प्रणाम किया और इस प्रकार विनयपूर्ण वचन कहे : राजन् ! मैं आपके कल्याण की कामना से कार्यवश शीघ्र आपके पास आ गया हूँ।

प्रयच्छता भूतबलिं प्रगेऽद्य
ज्ञातं मयेदं निजवृक्षयक्षात्।
अस्त्युन्मदन्त्यां बत मे प्रियायां
भवन्मनो रक्तमतिप्रसक्तम् ॥ १०३ ॥

१०३. आज प्रातः काल भूतवलि निवेदन करते हुए मुझे अपने वृक्ष के यक्ष से ज्ञात हुआ कि मेरी प्रिया उन्मदन्ती में आपका मन सानुराग है तथा अत्यन्त आसक्त है।

यद्येवमङ्गीकुरुतां भवांस्तां
स्वयं प्रयच्छाम्यहमात्मकान्ताम्।
तान्तां मनोवृत्तिमपास्य शान्तां
तनोतु चिन्तारहितां च कान्ताम् ॥ १०४ ॥

१०४. यदि यह सत्य है तो आप उसे स्वीकार कीजिये। मैं स्वयं अपनी प्रिया आपके लिए समर्पित करता हूँ। [उसे पा कर] आप अपने मन की ग्लानि (व्याकुलता) दूर कर उसे (मन को) शान्त, चिन्तारहित तथा प्रसन्न बनावें।

सेनापतेर्वाक्यमिदं निशम्या-
न्वयुक्त भूपश्चकितस्तमेवम् ।
ममोन्मदन्तीविषयोऽनुरागो
ज्ञातोऽस्ति किं यक्षगणैरपीति ॥ १०५ ॥

१०५. सेनापति के ये वचन सुन कर राजा ने विस्मित होकर उससे पूछा, क्या यक्षों ने भी उन्मदन्ती के विषय में मेरे अनुराग को जान लिया है ?

प्रोवाच सेनापतिरार्य ! सत्यं
व्यज्ञायि यक्षैरपि वृत्तमेतत् ।
यदुन्मदन्तीं प्रति बद्धरागो
भवन् भवानत्यवसीदतीति ॥ १०६ ॥

१०६. सेनापति ने उत्तर दिया, आर्य ! यह सत्य है। यक्षों को भी यह वृत्तान्त विदित हो गया है कि आप उन्मदन्ती के प्रति दृढ़ अनुराग रखते हैं और [उसके वियोग में] अत्यन्त खिन्न हैं।

भूपस्तु यक्षाधिगतं स्ववृत्तं
विज्ञाय विज्ञोऽतितरां ललज्जे ।
प्रबुद्धतत्त्वश्च तदोन्मदन्ती-
रागादनिष्टान्निविवृत्सुरूचे ॥ १०७ ॥

१०७. विवेकशील राजा यक्षों द्वारा यह वृत्तान्त जान लिये जाने पर अत्यन्त लज्जित हुआ। सत्यासत्य का बोध प्राप्त होने पर उन्मदन्ती के प्रति अशोभन अनुराग से विरत होने की इच्छा से वह बोला।

भो मित्र ! दोषोऽयमभूत् प्रकाशः
कामात्मनो मेऽत्र भवेद्विनाशः ।
न चामरोऽहं भवितास्म्यपुण्यः
कामप्रवृत्तो विबुधेषु गुण्यः ॥ १०८ ॥

१०८. हे मित्र ! मेरा यह दोष प्रकट हो गया है। मुझ कामुक का विनाश निश्चित है। कामासक्त तथा अपुण्यशील होने से मैं अमर नहीं बन सकूँगा तथा विद्वज्जनों में मेरा गुणकीर्तन भी नहीं होगा।

मह्यं स्वकीयां ददतश्च भार्यां
दूयेत चित्तं तव तद्वियोगात् ।
कथं सुखी स्यां विरहीकरिष्य-
न्नभिन्नमित्रत्वमुपागतं त्वाम् ॥ १०९ ॥

१०९. मुझे अपनी भार्या प्रदान करने पर उसके वियोग में तुम्हारा मन

संताप को प्राप्त होगा। तुम जैसे अभिन्न मित्र को पत्नी से विश्लेषित कर मैं किस प्रकार सुखी हो सकता हूँ ?

नृपतिरस्मि सदा जनतासुखा-
न्यभिलषामि रमेऽपि च तत्सुखे।
कथमधर्ममिमं तनुयां सखे !
न हि तथा पतितो भवितास्म्यहम् ॥ ११० ॥

११०. मैं नृपति हूँ और सदा जनता के सुख की कामना करता हूँ। उसके सुख में ही मुझे सुख की प्राप्ति होती है। हे मित्र ! मैं कैसे यह अधर्म कार्य करूँ। मैं इतना पतित नहीं बनूँगा।

नवमः सर्गः

ततस्तु सेनापतिभूमिपत्यो-
रित्थं मिथो भाषणमाविरासीत् ।
एकस्तयोः स्वां दयितां प्रदित्सु-
र्धन्योऽभवत् तामजिघृक्षुरन्यः ॥ १ ॥

१. इसके पश्चात् सेनापति और राजा में इस प्रकार संलाप हुआ। इन दोनों में एक [सेनापति] तो राजा को अपनी भार्या प्रदान करना चाहता था, और दूसरा [राजा] उसको ग्रहण करने में अनुत्सुक था। दोनों ही धन्य थे।

सेनापतिः—

राजन्नुपादत्स्व ममोन्मदन्तीं
रमस्व सार्धञ्च तया प्रकामम् ।
यथेष्टमिष्टां कुरु कामतृप्तिं
तद्वासनावासितमानसस्त्वम् ॥ २ ॥

२. राजन् ! आप मेरी प्रिया उन्मदन्ती को ग्रहण कर उसके साथ पर्याप्त रमण कीजिये तथा स्वेच्छानुसार अपनी कामभावना को तृप्त कीजिये। आप का मन उसके प्रति अनुराग की वासना से ओतप्रोत है।

विहाय मां त्वां च न कश्चिदन्यो
वार्तामिमां ज्ञास्यति भूतलेऽस्मिन् ।
प्रिया मया तुभ्यमदायि भार्या
त्वयाऽप्युपादायि च सा मुदेति ॥ ३ ॥

३. मेरे और आपके सिवाय और किसी को संसार में इस बात का पता नहीं चलेगा कि मैंने प्रसन्नतापूर्वक तुम्हें प्रिया अर्पित कर दी और तुमने उसे ग्रहण कर लिया।

राजा—

सेनापते ! भक्तिरनुत्तमा ते
दित्सुः स्वभार्यामसि मह्यमार्याम् ।
परन्तु किञ्चिद्द् कथनीयमत्र
पश्याम्यहं तत्कथयामि मित्र ! ॥ ४ ॥

४. हे सेनापति ! तुम्हारी भक्ति अनन्य है। तुम अपनी श्रेष्ठ (पतिव्रता) पत्नी को मुझे अर्पित करना चाहते हो, परन्तु मित्र ! मुझे इस कार्य में कुछ दोष दिखाई देता है, वह मैं तुमसे कहता हूँ।

पापं प्रकुर्वन् मनुते मनुष्यो
मद्दुष्कृतं वेद न कश्चिदन्यः ।
किन्तु स्थिता देवगणास्तदीयं
जानन्ति सर्वं ह्यशुभं शुभं वा ।। ५ ।।

५. पापकर्म करते हुए मनुष्य यह समझता है कि मेरे इस दुष्कृत्य को अन्य कोई नहीं जानता, किन्तु देवगण उसके सभी शुभ अथवा अशुभ कर्मों को [निश्चय ही] जानते हैं।

को नाम विश्वासमुपैष्यतीह
प्रीतिस्त्वदीया न तया सहेति ।
प्रयच्छतो मह्यममूं नताङ्गीं
ध्रुवं विघातः प्रणयस्य ते स्यात् ।। ६ ।।

६. कौन व्यक्ति इस पर विश्वास करेगा कि तुम्हारा अपनी प्रिया के साथ अनुराग नहीं था। उस सुन्दर रमणी को मुझे समर्पित कर देने से निश्चय ही तुम्हारा प्रणय आहत होगा।

सेनापतिः—

राजन्नसौ सातिशयं प्रिया मे
प्रीतिस्तदीयाऽपि मया सहाऽऽस्ते ।
तथापि यच्छामि निजेच्छयाऽहं
स्वामुन्मदन्तीं भवतः सुखाय ।। ७ ।।

७. राजन् ! वह मुझे बहुत प्यारी है, उसका भी मुझ से प्रगाढ़ प्रेम है। फिर भी मैं आपके सुख के लिये स्वेच्छापूर्वक अपनी प्रिया उन्मदन्ती आपको समर्पित करता हूँ।

अतस्त्वमुन्माद्यवयोभिराम-
त्वसंयुतां मे वचसोन्मदन्तीम् ।
गृहाण राजन् ! स्वसुखाय शीघ्रं
न तेऽस्तु खेदो न च ते निवृत्तिः ।। ८ ।।

८. अतः आप मेरा कथन स्वीकार कर उन्मदन्ती को जिसकी तरुण आयु और अभिनव सौन्दर्य उन्मत्त बना देने वाले हैं, अपने सुख के लिये शीघ्र ग्रहण करें। हे मित्र ! इसमें न तो आपको कोई खेद होना चाहिये और न ही इससे पराङ्मुखता।

राजा—

सेनापते ! प्रीतिकरं वचस्ते
तथापि भूतार्थमहं ब्रवीमि ।
विपन्निमग्ना अपि धर्मवीरा-
स्त्यजन्ति कर्तव्यपथं न धीराः ॥ ९ ॥

९. हे सेनापति ! निःसन्देह तुम्हारे ये वचन मेरी प्रीति (आनन्द) बढ़ाने वाले हैं, फिर भी मैं तुमसे यथार्थ बात कहता हूँ। अपने धर्म पर दृढ़ धैर्यवान् पुरुष विपत्ति में पड़ जाने पर भी कर्तव्य पथ का त्याग नहीं करते।

प्रलोभिता भूरि सुखैर्धनाभिः
कष्टैरनिष्टैः परिवेष्टिता वा ।
कल्याणहेतुं सुविनिश्चितार्थं
धीराः स्वमार्गं न परित्यजन्ति ॥ १० ॥

१०. धन-वैभव आदि के सुख का अतिशय प्रलोभन दिये जाने पर भी अथवा अवाञ्छनीय विपत्तियों में ग्रस्त होने पर भी धीर पुरुष निश्चित रूप से कल्याणप्रद निश्चित लक्ष्य वाले अपने धर्मपथ को नहीं छोड़ते।

सेनापतिः—

राजंस्त्वमेवासि पिता मदीयः
प्रियः सखा स्वाम्यभिनन्दनीयः ।
दासोऽस्मि ते पुत्रकलत्रयुक्त-
स्त्वत्प्रीतयेऽहं स्वविधौ नियुक्तः ॥ ११ ॥

११. हे राजन् ! आप ही मेरे पिता हैं, प्रिय मित्र तथा श्लाघनीय स्वामी भी हैं। मैं पुत्र तथा पत्नी सहित आप का दास हूँ और आप की प्रसन्नता के लिये अपने कर्तव्य का पालन कर रहा हूँ।

प्रियामुपादाय ममोन्मदन्तीं
मनोनुकूलानुपभुङ्क्ष्व भोगान् ।
निवृत्तकामश्च भवन् निकामं
मामेव सप्रेम समर्पयामूम् ॥ १२ ॥

१२. आप मेरी प्रिया उन्मदन्ती को ग्रहण कर मन को प्रिय लगने वाले भोगों का आनन्द लीजिये। कामनाओं का यथेष्ट उपभोग करने के पश्चात् आप प्रेमपूर्वक उन्मदन्ती को मुझे ही लौटा दीजिये।

राजा—

सेनापते ! तत्त्वमिदं शृणु त्वं
जानीहि कर्त्तव्यगतं महत्त्वम् ।
यद्धि त्वया मत्प्रणयादवाचि
शक्तिर्न मे तत्कथनेऽस्ति वाचि ।। १३ ।।

१३. हे सेनापति ! तत्त्व का श्रवण करो और कर्तव्य के महत्त्व को जानो। तुमने जो कुछ मेरे प्रति प्रणयवचन कहे हैं, मेरी वाणी में उसका वर्णन करने की शक्ति नहीं है।

अहं महानित्यभिमन्य योऽन्या-
नुपेक्ष्य पापाचरणं करोति।
भवत्यभाग्योपहतः स नित्यं
नाप्नोति पूर्णं पुरुषायुषञ्च ।। १४ ।।

१४. जो व्यक्ति अपने को महान् समझ कर तथा दूसरों की अवहेलना कर पाप कर्म करता है दुर्भाग्य के वशीभूत वह पुरुष पूर्ण आयुष्य का भी उपभोग नहीं करता।

आत्मोपमं दुःखसुखं परेषा-
मपीक्षते यः स महान् मनुष्यः ।
स एव राजा स्पृहणीयकीर्ति-
र्धर्मस्य तत्त्वं च स एव वेद ।। १५ ।।

१५. महान् व्यक्ति वही होता है जो अपने समान ही दूसरों के सुख-दुःख का अनुभव करता है। इस प्रकार की सहानुभूति रखने वाले राजा की कीर्ति स्पृहणीय होती है और वही धर्म के रहस्य को पहचानता है।

सेनापतिः—

राजन् ! प्रियां तामहमुन्मदन्तीं
प्रियाशयैव प्रददामि तुभ्यम् ।
प्रियप्रदानाद्धि मनोऽनुकूलं
लभ्येत वस्तु प्रियमत्र लोके ।। १६ ।।

१६. राजन् ! मैं अभीष्ट प्राप्ति की आशा से ही आपको अपनी प्रिया उन्मदन्ती समर्पित करता हूँ। इस लोक में प्रिय वस्तु के प्रदान करने से ही मनोवाञ्छित प्रिय वस्तु की प्राप्ति होती है।

राजा—

सेनापते ! कामविकारजुष्टः
स्पष्टं विनष्टोऽस्म्यपथप्रविष्टः ।

कामात्मता नैव मता प्रशस्ते-
त्यतोऽस्य कामस्य वधं करिष्ये ।। १७ ।।

१७. हे सेनापति ! काम विकारों के अधीन होकर मैंने कुमार्ग में प्रवेश किया, परिणामतः मेरा विनाश स्पष्ट ही है। कामुकता किसी भी प्रकार प्रशंसनीय नहीं, अतः मैं इस कामभाव का विनाश करूँगा।

सेनापतिः—

राजन् ! न गृह्णास्यहिपारकस्य
भार्येयमार्येति विचार्य चेत् त्वम् ।
त्यजामि देवस्य कृते तदेमां
त्यक्ताञ्च तां स्वीकुरु संप्रहृष्टः ।। १८ ।।

१८. राजन् ! यदि आप यह सोच कर उसे स्वीकार नहीं करते कि यह अहिपारक की उत्तम (प्रिय) भार्या है, तो मैं आप के निमित्त इसका त्याग कर देता हूँ। मेरे द्वारा त्यागे जाने पर आप प्रसन्न भाव से उसे ग्रहण कर लें।

राजा—

सेनापते ! त्वं भवितास्यनार्यो
निरागसं त्यक्ष्यसि चेत् स्वभार्याम् ।
स्वपूर्तिकाम्योऽपि भवन् प्रणाय्यो
निन्दिष्यसे सर्वजनेन तात ।। १९ ।।

१९. हे सेनापति ! यदि तुम अपनी निरपराध पत्नी का परित्याग करते हो, तो तुम अनार्य कहाओगे। हे प्रिय, अपनी अभीष्ट प्राप्ति के लिये भी तुम [पत्नी-समर्पण द्वारा] यदि प्रिय बनना चाहते हो, तब भी सभी लोग तुम्हारी निन्दा करेंगे।

सेनापतिः—

राजन्नुपालम्भमथाऽप्यवज्ञां
निन्दाञ्च नैजां मुदितः सहिष्ये ।
यद्द दुष्कृतं, मय्यधि वर्ततां तत्
त्वमीप्सिते कामसुखे रमस्व ।। २० ।।

२०. राजन् ! मैं प्रसन्नभाव से उपालम्भ (उलाहना), अवहेलना अथवा अपनी निन्दा को सहन कर लूंगा। इस कार्य में जो पाप है, वह मुझे लगे। आप अपने अभीष्ट काम सुख का उपभोग करें।

राजा—

सेनापते ! वृष्टिजलं यथोच्च-
स्थलात् स्खलद् दूरतरं प्रयाति ।
तथैव लक्ष्मीरपयाति सत्यं
नरादवज्ञाततरादिहारात् ॥ २१ ॥

२१. हे सेनापति ! जिस प्रकार वर्षा का जल ऊँचे स्थान से गिरता हुआ नीचे दूर तक चला जाता है, उसी प्रकार लक्ष्मी भी यथार्थतः अपमानित अथवा निन्दित पुरुष को त्याग कर कहीं दूर चली जाती है ।

सेनापतिः—

राजन् ! यथेयं सहते सदोर्वी
जडं तथा चेतनमत्र गुर्वी ।
तथाऽखिलं क्लेशमहं सहिष्ये
हितं त्वदीयं च सदा करिष्ये ॥ २२ ॥

२२. राजन् ! जैसे यह भारी पृथ्वी जड़ और चेतन—सभी का भार सहती है, वैसे ही मैं सभी कष्ट सहन करूँगा और सदा आपका हित साधन करता रहूँगा ।

राजा—

सेनापते ! नाभिलषाम्यकार्यात्
कष्टानि कस्मैचिदपि प्रदातुम् ।
धर्मे स्थितोऽहं स्वयमेव कष्टं
सहेय, नान्यं व्यथयेयमार्य ! ॥ २३ ॥

२३. हे सेनापति ! मैं अनुचित कर्म के कारण किसी को कष्ट देना नहीं चाहता । आर्य ! मेरी तो यह कामना है कि धर्म में स्थित होकर मैं स्वयं कष्ट सहन करूँ, किसी दूसरे को पीड़ित न करूँ ।

सेनापतिः—

राजन् ! विधौ स्वर्गसुखप्रदे मे
विघ्नो भवान् मा स्म भवत् स्वनिघ्ने ।
प्रदीयते ते दयितोन्मदन्ती
मयाध्वरे ब्राह्मणदक्षिणेव ॥ २४ ॥

२४. राजन् ! मुझे स्वर्ग तुल्य सुख देने वाले इस स्वाधीन कार्य में आप विघ्न स्वरूप न बनें । मैं यज्ञ में ब्राह्मण को दी जाने वाली दक्षिणा के समान आपको अपनी प्रिया उन्मदन्ती प्रदान करता हूँ ।

राजा—

त्वं मे हितैषी सुहृदस्यभिन्नः
प्रियां प्रयच्छन्नपि नासि खिन्नः ।
त्यागात् स्त्रिया देवपितृष्ववज्ञा
स्थिराऽत्र चामुत्र च मित्र ! ते स्यात् ॥ २५ ॥

२५. वयस्य ! तुम मेरे हितचिन्तक अभिन्न मित्र हो। अपनी प्रिया मुझे अर्पित करते हुए भी खिन्न नहीं हो। स्त्री के त्याग से इस लोक में तथा परलोक में देव और पितरों के मध्य तुम्हारी निन्दा सदा के लिये स्थिर हो जायेगी।

सेनापतिः—

निजेच्छया तुभ्यमहं ददामि
प्रियां स्वकीयामिति नास्त्यवज्ञा ।
पौरेषु वा जानपदेषु कश्चि-
न्नाधर्ममेनच्च वदेद् विपश्चित् ॥ २६ ॥

२६. मैं स्वेच्छा से अपनी प्रिया आपको दे रहा हूँ, इसलिए अवज्ञा अथवा निन्दा का प्रश्न नहीं है। नगरवासी या ग्रामीण जनों में कोई समझदार व्यक्ति इसे अधर्म नहीं कहेगा।

प्रादायि तुभ्यं शुभलक्षणेयं
मयोन्मदन्तीत्यवधारणीयम् ।
मल्लीमतल्लीमिव कामवल्ली-
माश्लिष्य फुल्लाधरपल्लवां त्वम् ॥ २७ ॥

२७. मैंने आप को शुभ लक्षणों वाली उन्मदन्ती सौंप दी है, आप ऐसा निश्चयपूर्वक जान लें। विकसित अधरपल्लव से युक्त उस हृदयावर्जक चमेली सदृश काम की वेल का आप आलिङ्गन करें।

यथेच्छमच्छासुपभुज्य तन्वीं
संतृप्य चेच्छोपरमे विजह्याः ।
अहं प्रसीदामितमां स्वभार्यां
तुभ्यं प्रयच्छन् कृतकार्य आर्याम् ॥ २८ ॥

२८. सुन्दरी एवं दुबली पतली उन्मदन्ती के साथ यथेष्ट रमण करने के अनन्तर तृप्त होकर आप भोगेच्छा शान्त हो जाने पर उसे छोड़ देना। मैं अपनी उत्तम पत्नी आप को देते हुए कृतार्थ होकर अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूँ।

राजा—

प्रमारकात् कामविकारगर्ता-
दुत्तारको मेऽस्यहिपारकस्त्वम् ।
सखा हितैषी परमो मनीषी
कथं तव स्यामहमन्यथैषी ।। २९ ।।

२९. हे अहिपारक ! तुम इस विनाशकारी कामविकार रूपी गढ़े से मेरा उद्धार करने वाले हो। तुम मेरे सखा, परम हितचिन्तक एवं बुद्धिमान् हो। मैं किस प्रकार तुम्हारा अहित अथवा अनिष्ट चिन्तन कर सकता हूँ ?

किंत्वब्धिवेलेव विलोकनीया
धर्माः सतां सन्त्यविलङ्घनीयाः ।
श्रेयोऽर्थिभिर्ये परिपालनीया
मया सदा मित्र ! निभालनीयाः ।। ३० ।।

३०. हे मित्र ! सज्जनों का कर्तव्य है कि वे धर्मों को सागर वेला के समान जानें और उनका उल्लंघन न करें। जो लोग अपने कल्याण के इच्छुक हैं, उन्हें उन धर्मों का सम्यक् पालन करना चाहिये। [राजा होने के कारण] प्रजा के धर्मपालन की देख भाल करना मेरा कर्तव्य है।

सेनापतिः—

राजन् ! मदीयः शुभचिन्तकस्त्वं
दाता विधाताऽसि पुनस्त्वमेव ।
मदङ्गनालिङ्गनजं प्रमोदं
भूयो लभस्वेति निवेदयेऽहम् ।। ३१ ।।

३१. राजन् ! आप ही मेरे शुभचिन्तक, दाता तथा अभीष्ट मनोरथ सिद्ध करने वाले हैं। मैं आपसे फिर निवेदन करता हूँ कि मेरी प्रिया के आलिङ्गन-जन्य आनन्द का अनुभव प्राप्त करें।

राजा—

धन्योऽसि मन्त्रिन्नहिपारक ! त्व-
मिष्टं हि मे तेऽत्युपकारकत्वम् ।
त्वया सदैवाचरितोऽस्ति धर्म-
स्त्वं वेत्थ सर्वं शुभकर्ममर्म ।। ३२ ।।

३२. हे मन्त्रिन् अहिपारक ! तुम धन्य हो। तुम्हारी यह अतिशय उपकार की भावना मुझे प्रिय है। तुमने सदा धर्म का पालन किया है। तुम शुभ कर्मों के मर्म के ज्ञाता हो।

सेनापतिः—

श्रेष्ठोऽसि राजन् शुभकर्मनिष्ठ-
स्त्वं मारजित् प्रेष्ठतमोऽस्यभीष्टः ।
जीव्याश्चिरं पालय धर्ममेव
प्रशाधि माञ्चापि तमेव देव ! ॥ ३३ ॥

३३. राजन् ! आप शुभ कार्यों में निरत होने से श्रेष्ठ हैं, कामविजयी हैं, तथा मुझे अत्यन्त प्रिय हैं। देव ! आप चिरजीवी हों, धर्म का पालन करते हुए मुझे भी उसी की शिक्षा प्रदान करें।

राजा

सेनापते ! त्वं विगताभिमानः
शृणूपदेशं मम सावधानः ।
अहं शुभं सद्भिरनुष्ठितं ते
कर्म प्रवक्ष्ये सुखदं यदन्ते ॥ ३४ ॥

३४. हे सेनापति ! तुम अभिमान रहित होकर अवधान पूर्वक मेरे उपदेश का श्रवण करो। मैं तुम्हें सज्जनों द्वारा आचरित शुभ कर्म का उपदेश करूँगा जो परिणाम में सुखदायी है।

प्रशस्यते धर्मरुचिर्महीपः
प्रज्ञान्वितः पुण्यपथप्रदीपः ।
विश्वासघाताज्जनितानुतापात्
पापाज्जुगुप्सुश्च जनः प्रशस्यः ॥ ३५ ॥

३५. धर्म में रुचि रखने वाला, बुद्धिमान् तथा पवित्रता के पथ का दीपक राजा प्रशंसनीय होता है। इसी प्रकार पश्चात्ताप उत्पन्न करने वाले विश्वास-घात रूप पाप से घृणा करने वाला मनुष्य भी श्लाघ्य होता है।

हर्म्येऽतिरम्ये सुविधोपगम्ये
यथा स्वकीये सुखमारमन्ति ।
राज्ञः सदाचारपरस्य राज्ये
तथा मनुष्याः सुखमारमन्ति ॥ ३६ ॥

३६. जिस प्रकार लोग सुखसुविधाओं से समन्वित अतिरमणीय अपने प्रासाद (भवन) में सुख पूर्वक रहते हैं, उसी प्रकार सदाचारपरायण राजा के के राज्य में प्रजाजन भी सुखपूर्वक रहते हैं।

विना विचारं मतिमान् मनुष्यः
कदापि कार्यं सहसा न कुर्यात् ।

विनिन्द्यमुक्तं विपदां पदं तद्
दुःख्यत्यवश्यं ह्यविमृश्यकारी ॥ ३७ ॥

३७. बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि वह कभी विना विचारे आवेश में आकर कार्य न करे। इस प्रकार का कार्य निन्दनीय तथा विपत्तियों का आवास कहा गया है। बिना सोचे समझे काम करने वाला अवश्य दुःखभागी होता है।

जले तरन्तीषु समासु गोषु
पथा वृषश्चेद् विषमेण याति।
अमूस्तमेवानुसरन्त्यनुक्ता
वर्त्म श्रितास्तद्विषमं समस्ताः ॥ ३८ ॥

३८. पानी में तैरने वाली (जाने वाली) गायों में यदि अगुआ वैल विषम (विकट) रास्ते पर चलता है, तो वे सभी गायें विना कहे उस विषम पथ का आश्रय लेकर उसका अनुसरण करती हैं।

तास्वेव चेद् गोषु वृषः पथासौ
जले तरन्तीषु समेन याति।
अमूस्तमेवानुसरन्त्यनुक्ताः
समाश्रिता वर्त्म समं समस्ताः ॥ ३९ ॥

३९. किन्तु यदि जल में तैरने वाली गायों में आगे चलने वाला वैल सरल-सीधे रास्ते पर चलता है तो सभी गायें बिना कहे सरल मार्ग का आश्रय लेकर उसका अनुसरण करती हैं।

इत्थं मनुष्येषु मतो विशिष्टः
करोत्यधर्माचरणं यदीष्टः।
अन्ये तमेवानुसरन्ति नूनं
राष्ट्रं प्रदुष्येच्च भवेच्च पूनम् ॥ ४० ॥

४०. इसी प्रकार मनुष्यों में माननीय एवं प्रिय विशिष्ट व्यक्ति (नेता, राजा) यदि अधर्म का आचरण करता है, अन्य लोग भी उसी का अनुसरण करते हैं, जिसके परिणाम स्वरूप राष्ट्र का स्वरूप दूषित हो जाता है और वह नष्ट हो जाता है।

तेष्वेव लोकेषु महानधीष्टः
करोति धर्माचरणं यदीष्टः।
अन्ये तमेवानुसरन्ति नूनं
राष्ट्रं समृद्धञ्च भवत्यनूनम् ॥ ४१ ॥

४१. उन्हीं लोगों में प्रिय महान् नायक अथवा राजा यदि धर्म पथ पर चलता है, तो सभी लोग निःसन्देह उसका अनुसरण करते हैं। फलतः राष्ट्र

अधिक सम्पन्न एवं समृद्ध हो जाता है।

साधारणानां तु कथैव काऽस्ति
येषां प्रभावो न तथा चकास्ति।
नृपे ह्यधर्मात्मनि सत्यशेषं
राष्ट्रं भवेद्ग गर्हितनामशेषम् ॥ ४२ ॥

४२. सामान्य पुरुषों की तो वात ही क्या है जिनका इतना प्रभाव नहीं है। राजा के अधार्मिक (कुपथगामी) हो जाने पर सम्पूर्ण राष्ट्र निन्दित और नष्ट हो जाता है।

अधर्मतो नास्म्यमृतत्वमीप्सु-
र्नैवापि भूमिञ्च विजित्य लिप्सुः।
गवाश्ववासोमणिकाञ्चनस्त्री-
भृत्यादिकञ्चापि न कामयेऽहम् ॥ ४३ ॥

४३. मैं कुपथ पर चल कर अमरत्व प्राप्ति की इच्छा भी नहीं करता और न ही मेरी जीत कर भूमि प्राप्त करने की इच्छा है। गाय, अश्व, वस्त्र, मणि, स्वर्ण, स्त्री, भृत्य आदि की भी मुझे अभिलाषा नहीं है।

नह्युक्तवस्त्वर्थमहं कदाचि-
च्छक्नोम्यधर्माचरणं विधातुम्।
प्राज्यस्य राज्यस्य यशोन्वितस्य
शिबीत्यभिख्यस्य नरर्षभत्वात् ॥ ४४ ॥

४४. मैं इस शिवि नामक कीर्तिशाली विशाल राज्य का अधिपति हूँ, अतः पूर्वोक्त वस्तुओं की प्राप्ति के लिये मैं कभी अधर्म का आचरण नहीं कर सकता।

पिताऽस्मि नेताऽस्मि च शिक्षकोऽहं
भजे स्वधर्मं हि परम्परीणम्।
भृशं विविच्योच्चकुलं स्वकीयं
न जातु कामस्य वशं गतः स्याम् ॥ ४५ ॥

४५. मैं प्रजा का पिता, नायक तथा [कर्तव्य मार्ग का प्रदर्शन करने वाला] शिक्षक हूँ। मैं अपने परम्परागत राजधर्म का पालन करता हूँ। मैं अपने उच्च कुल का ध्यान कर कभी काम का वशवर्ती नहीं होऊँगा।

इत्यादि युक्तं वसुधाधिपस्य
वचो निशम्य प्रमनाः स आख्यत्।
धन्योऽसि राजन्नपकल्मषस्त्व-
माचारवानुच्चविचारवांश्च ॥ ४६ ॥

४६. इस प्रकार राजा के उचित वचन सुन कर अहिपारक ने प्रमुदित हो कर कहा, राजन् ! पापरहित, आचारसम्पन्न, उदात्त विचारों वाले आप धन्य हैं।

चिरं महाराज ! सुखेन जीव्या
विधेह्यविघ्नामवनीं स्वनिघ्नाम् ।
ययाऽजयः कामरिपुं विगेयं
प्रज्ञा त्वदीयाभ्युदियात् सदेयम् ।। ४७ ।।

४७. महाराज ! आप चिरकाल तक सुखपूर्वक जियें। अपने अधीन पृथ्वी (राज्य) की विघ्न बाधाओं का निराकरण करें। जिससे आपने निन्दनीय कामरूपी शत्रु पर विजय प्राप्त की है, आपकी वह विवेकशक्ति सदा जागृत रहे।

त्वं धर्मविद् धर्मपरायणः सन्
धर्मे प्रमादं न कदापि कुर्याः ।
धर्मात् प्रमाद्यन् नृपतिः स्वनाशं
नश्यत्यपभ्रंशयते च राष्ट्रम् ।। ४८ ।।

४८. धर्म के रहस्य के ज्ञाता आप सदा धर्म पर आस्थित होकर कभी धर्म में प्रमाद न करें। जो राजा धर्म में प्रमाद करता है, वह स्वयं भी विनष्ट होता है तथा राष्ट्र को भी पथभ्रष्ट कर देता है।

धर्मं चर त्वं नृपते ! स्वदेशे
तथा विदेशेऽपि चर स्वधर्मम् ।
सुतेषु दारेषु पितृष्वथापि
ज्ञातिष्वभीक्ष्णं चर धर्ममेव ।। ४९ ।।

४९. हे नृपति ! आप अपने देश में तथा देश से बाहर भी अपने धर्म का पालन करें। पुत्र, स्त्री, पिता तथा सम्बन्धियों के साथ भी सदा धर्मपूर्वक व्यवहार करें।

मित्रेष्वमित्रेषु चर स्वधर्मं
ग्रामेषु राष्ट्रेषु पुरेषु चैव ।
प्राणिष्वशेषेषु चराचरेषु
धर्मं महाराज ! सदा चर त्वम् ।। ५० ।।

५०. महाराज ! मित्र तथा शत्रुओं के साथ धर्म का व्यवहार करें। ग्राम, राष्ट्र, नगर, जड़-चेतन आदि सभी प्राणियों के साथ सदा धर्मपूर्ण व्यवहार करें।

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यज त्वं शिबिभूमिपाल !

प्रशाधि धर्मेण महीं स्वचेतः
समाधिमाधाय चिरं चकाधि ।। ५१ ।।

५१. हे शिविदेश के भूमिपाल ! काम, भय अथवा लोभ के वशवर्ती होकर आप कभी धर्म का परित्याग न करें। धर्मपूर्वक पृथ्वी का शासन करें और चित्त को संयम में रखकर चिरकाल तक शोभा पावें।

धर्मे मतिर्भवतु ते सततोत्थितस्य
रागादिदोषपरिवर्जितमानसस्य ।
आनन्दधाम परमं चरमं झटित्यों
तत्सत्पदं प्रतिपदं त्वमुपाश्रयस्व ।। ५२ ।।

५२. सदा उत्थानशील एवं रागादि दोषों से रहित होकर आप की धर्म में प्रवृत्ति हो। प्रणव का जो श्रेष्ठ और चरम (अन्तिम, अनन्य) आनन्दधाम है, उस पवित्र धाम का प्रत्येक पद पर आश्रय ग्रहण करें।

धर्मात्मनस्तव पुनः प्रकृतिप्रियस्य
लक्ष्मीर्यशः सुखमलं सकलं समृध्यात् ।
उद्यन्तमिन्दुमकलङ्कमिवापरं त्वां
दृष्ट्वा नृचित्तकुमुदानि समुल्लसन्तु ।। ५३ ।।

५३. प्रकृति से ही सौम्य-स्वभाव एवं धर्मपरायण आपकी लक्ष्मी, यश, सुख आदि सब पूर्णतया समृद्धि को प्राप्त हो और आपको निष्कलंक द्वितीय चन्द्रमा देख कर (समझ कर) प्रजाजनों के मनरूपी कुमुद विकसित हों।

इत्यात्मनीनमुपदिश्य निवृत्तवाक्ये
सेनापतौ शुचिमतावहिपारकाख्ये ।
धर्म्यां निशम्य गिरमुच्चविचाररम्यां
राजाऽभवत् प्रमुदितः स्थिरचित्तवृत्तिः ।। ५४ ।।

५४. इस प्रकार आत्महितकारी उपदेश देकर पवित्र मति वाले सेनापति अहिपारक शान्त हो गये। उनकी धर्म-समन्वित तथा उदात्त विचारों से रमणीय वाणी को सुनकर राजा हर्षित हुए और उनकी [चचल] चित्तवृत्ति स्थिर हो गई।

समुदितो मुदितो नृपतिर्गुणैः
सुरहितो रहितो निखिलैर्मलैः ।
अविकलं विकलङ्कमिहोज्ज्वलं
रसमयं समयं गमयन्नभात् ।। ५५ ।।

५५. गुणों से शोभित, देवकार्य में तत्पर, सकल [राग-द्वेषादि] दोषों से रहित महाराज शिबि प्रसन्न रह कर कलङ्कहीन, उज्ज्वल एवं उल्लासपूर्ण

समय-यापन करते हुए शोभा पाने लगे।

अथ याप्यपथोद्धृतपार्थिवया
कथया श्रुतयाऽऽप्तमनोरथया।
अनया विनयाश्रयणे श्रमणे
रुचिरा रुचिरारचिता नचिरात् ॥ ५६ ॥

५६. मनोरथ प्राप्त कराने वाली तथा कुपथ से राजा का उद्धार करने वाली इस कथा को सुन कर उस भिक्षु की शीघ्र ही विनय (धर्मशिक्षा) के शिक्षण में अभिराम रुचि (सत्प्रवृत्ति) उत्पन्न हो गई।

स पुनः स्वमनःक्षतशोधनतः
श्रमणोचितपुण्ययशोधनतः।
उपबुद्धमुवास विशुद्धमतिः
समयेऽभ्युदयं च तथाऽऽप यतिः ॥ ५७ ॥

५७. उस यति ने मन के काम विकार आदि क्षत दूर कर लिये और बौद्ध श्रमण का उपयुक्त पवित्र यश रूपी धन अर्जित कर लिया। इस प्रकार विशुद्ध-बुद्धि होकर वह बुद्ध (श्रीबोधिसत्त्व) के समीप रहने लगा और समय पाकर उसने अभ्युदय प्राप्त किया।

दशमः सर्गः

अभून्मल्लीनाम्नी नगरमहिता कोशलपते-
र्महिष्यग्र्या प्रेयस्यतिचटुलचाटूक्तिनिपुणा ।
सदा हृष्टा पुष्टा निरतिशयतुष्टा च वसुभि-
श्चकासामासासावभिनवविलासा नृपवधूः ॥ १ ॥

१. कोशलनरेश की रानियों में प्रमुख, प्रिया रानी का नाम मल्ली था। वह नगर में पूज्य, मधुर वचनभङ्गी में निपुण, सदा प्रसन्न रहने वाली, शरीर से हृष्ट पुष्ट, धन-वैभव से अत्यन्त सन्तुष्ट तथा नवीन हाव भावों से सुशोभित थी।

कदाचित् सञ्जाते शयनविषयेऽन्योन्यकलहे
नृपस्तस्यै कुप्यन् न खलु सदकार्षीत् प्रियगिरा ।
अतो मानिन्येषा सरुषमवलोक्यातिपरुषं
पतिं नोचे किञ्चित् सुखमधिशयाना स्वभवनम् ॥ २ ॥

२. एक वार राजा तथा रानी में शयन के विषय में परस्पर कलह हो गया। राजा ने रोष के कारण, मधुरवचनों से उसका सत्कार न किया (कटु वचन कहे)। इस कारण मानवती रानी क्रोध वश कठोर भाव से राजा को देख कर अपने भवन में सुखपूर्वक सो गई और पति से कुछ नहीं बोली।

तदानीं भिक्षार्थी नृपसदनमैद् भिक्षुसहितो
महात्मा बुद्धोऽसाविह जगति शास्तेति विदितः ।
तदा ज्ञात्वा तूर्णं प्रणयकलहं सोऽथ नृपते-
रपीप्यद् भूपालं मधुरमुपदेशामृतमिदम् ॥ ३ ॥

३. उसी समय शास्तृ (धर्माचार्य) नाम से संसार में विदित महात्मा बुद्ध [बोधिसत्त्व] भिक्षुओं सहित भिक्षा की अभिलाषा से राजभवन पहुँचे। उन्हें शीघ्र ही राजा के प्रणयकलह का ज्ञान हो गया। उन्होंने राजा को इस मधुर उपदेश-रूपी सुधा का पान कराया।

इयं देवी मल्ली प्रणयरसवल्ली प्रियतमा
त्वयैष्टव्या राजन् ! लसदिभमतल्लीव सुभगा ।
सदा मान्या धन्या निजभवनशोभेव ललिता
कदाचिन्नोपेक्ष्या भवति कमनीया हि रमणी ॥ ४ ॥

४. हे राजन् ! तुम्हारी प्रियतमा रानी मल्ली प्रणयरस की बेल है। श्रेष्ठ हथिनी के समान सुन्दर अपनी महिषी से अनुराग रखो। तुम्हारे भवन की ललित अभिनव शोभा के समान धन्य यह रानी सम्मान योग्य है। तुम्हें कभी इसके प्रति अवज्ञाभाव प्रदर्शित नहीं करना चाहिये। सुन्दर स्त्री तो सदा काम्य—अभीष्ट होती है।

भवान्नेदं साधु व्यधित यदिमामग्रमहिषीं
मुधोपेक्षांचक्रे शयनमधिकृत्यैव कलयन्।
किमार्यः किन्नर्याः स्मरति, विरहाद् यद्विरहजाद्
भवान्दुःखेऽपप्तत् कतिपयसमाः किन्नरवपुः ॥ ५ ॥

५. आपने यह उचित कार्य नहीं किया। शयन के विषय को लेकर जो आपने प्रमुख रानी (पटरानी) से कलह करके व्यर्थ ही उसकी उपेक्षा की। क्या आपको उस किन्नरी का स्मरण है जिसका वियोगजनित दुःख किन्नर शरीर धारण कर आपको कई वरस प्राप्त हुआ था ?

कथं हीदं वृत्तं ? विरहजनिता किन्नरयुग-
प्रवृत्तिर्वा कीदृग् ? विशदमिति वाच्यं भगवता।
इतीमां जिज्ञासां प्रकटयति भूपे सकुतुकं
कथां बुद्धः श्रीमान् श्रवणमधुरां व्याहरदिमाम् ॥ ६ ॥

६. 'यह घटना कैसी है, विरही किन्नर युगल की कैसी वात है ?'—आप विशद रूप में इसका वर्णन करें'—उपर्युक्त प्रकार से कौतूहलवश राजा के यह जिज्ञासा प्रकट करने पर श्रीमान् बुद्ध [बोधिसत्त्व] ने कानों को मधुर लगने वाली यह कथा सुनाई :

पुरा वाराणस्यां नरपतिरभून्नीतिनिपुणो
भुवं शासद् भल्लाटिय इति समाख्यामुपगतः।
कदाचित् तेनैषि, ज्वलदनलपक्वं सुललितं
मयाऽऽस्वाद्यं सद्योनिहतहरिणस्यामिषमिति ॥ ७ ॥

७. प्राचीन समय में वाराणसी में पृथ्वी का शासन करने वाला, नीति-कुशल भल्लाटिय नामक एक राजा था। एक वार उसकी इच्छा हुई कि मैं ताजे मारे गये हरिण का जलती हुई अग्नि पर पकाया हुआ स्वादु मांस खाऊँ।

विचिन्त्यैवं भूभृत् सकलमपि राज्यस्य विततं
स्वयं त्यक्त्वा भारं शुचिषु निजमन्त्रिष्ववधि दधौ।
स्वतन्त्रः सन् पञ्चायुधपरिगतः प्राप्तविनयैः
श्वभिः सार्धं स्वीयैः सपदि मृगयार्थं प्रचलितः ॥ ८ ॥

८. ऐसा विचार कर भूपति ने राज्य का समस्त विशाल भार स्वयं

छोड़ कर अपने पवित्र [आचारवान्] मन्त्रियों को सौंप दिया। कार्यभार से स्वतन्त्र होकर तथा पांच शस्त्रों से सज्जित वह अपने प्रशिक्षित कुत्ते साथ ले कर तुरन्त शिकार करने के लिये चल पड़ा।

प्रयान् सम्प्राप्तोऽसौ तदनु हिमवन्तं शिखरिणं
समीपे गङ्गायास्तटमनुसृतस्तत्र गहने।
निभाल्यैकामन्यां सरितमधिगङ्गं निपतितां
ततस्तामन्वाच्छंद् विपुलमृगमांसाहितमतिः ॥ ९ ॥

९. चलते-चलते वह हिमालय पर्वत तक जा पहुँचा। वहाँ समीप में बहने वाली गंगा नदी के किनारे-किनारे जा कर उसने वन में गंगा के मध्य गिरने वाली एक अन्य नदी देखी। तब वह हरिणों का प्रभूत मांस पाने के विचार से उस नदी [की धारा] के साथ चलने लगा।

भ्रमन् नद्यास्तीरे बहुलजटिलायां वनभुवि
बहून् दृष्ट्वा सोऽहन् विपिनशरणान् मुग्धहरिणान्।
प्रदीप्तेष्वङ्गारेष्वकृत विधिना मांसपचनं
प्रकामं प्रत्यग्रं मृगपललमास्वादयत च ॥ १० ॥

१०. नदी तट के साथ-साथ बहुत विषम वनभूमि में घूमते हुए उसने वन में रहने वाले अनेक मुग्ध हरिणों को देख कर उन्हें मारा। तत्पश्चात् प्रदीप्त अंगारों पर विधिपूर्वक यथेष्ट ताजा मृगमांस पकाया और खाया।

सुतृप्तो मांसस्य भ्रमितुमुपकण्ठे स सरितो
ययौ किञ्चिद् दूरं मधुरतरदृश्यान्यनुभवन्।
वनाली साऽपूर्वा मदयतु कुतो नाम न मनः
प्रकृत्या स्वच्छाया व्यरचि रुचिरा या भगवता ॥ ११ ॥

११. मांसभोजन से अच्छी तरह तृप्त होकर वह नदी के किनारे घूमने की इच्छा से अति रमणीय दृश्यों का अवलोकन करता हुआ कुछ दूर तक गया। वह वनों की अपूर्व श्रेणी भला कैसे मन को मुग्ध न कर दे, जिसकी रचना स्वयं भगवान् ने अपनी सुन्दर छाया के रूप में की है।

पवित्राम्भःपूर्णा सफलदलपुष्पैः परिवृता
द्रुमैः स्निग्धच्छायैर्व्रततितिभिश्चाप्युपचिता।
तटप्रान्तैर्हृद्या विहगमधुरध्वानमुखरै-
स्तरङ्गैरुत्तुङ्गैररमयदमुं सा सरिदपि ॥ १२ ॥

१२. वह नदी पवित्र जल से पूर्ण थी, उसके चारों ओर घनी छाया वाले फल, पत्र एवं पुष्पों से लदे वृक्ष, बेलों की कतारें तथा झाड़ियाँ थीं। तटप्रदेशों में पक्षियों के कलरव से मुखरित वह बहुत रमणीय लग रही थी। अपनी

उत्ताल तरङ्गों से वह राजा के मन को उल्लासपूर्ण वना रही थी।

सदा पेयं यस्याः कमठमकराद्यैर्विलुलितं
समन्तात् पूर्णाया अपि जलमुरोदघ्नमभवत्।
तटे स्वच्छे रेजुः श्रितरजतभासश्च सिकताः
तथा शुभ्रा कारण्डवततिरभूत् क्रीडनपरा ॥ १३ ॥

१३. कछुओं और मगर आदि जलचरों द्वारा सदा आलोडित एवं चार. ओर से पूर्ण होने पर भी नदी का पानयोग्य (स्वादु) जल वक्ष जितना ही था। उसके स्वच्छ तट पर चांदी के समान चमकने वाली वालू थी, जहाँ सफेद हंस खेला करते थे।

दधाना हेमाभां परमरमणीयां च सुषमां
सरित् सा हेमन्वत्युचितमभिधानं श्रितवती।
स्थितस्तस्याः पार्श्वे गिरिरतिगुरुर्गन्धमदनो
लतागुल्मै रम्यः सुरभितदिगन्तश्च शुशुभे ॥ १४ ॥

१४. स्वर्ण की कांति एवं अति रमणीय इन गुणों के कारण उस नदी का हेमन्वती नाम सार्थक था। उसके पास ही अतिविशाल गन्धमादन पर्वत था, जो लता और झाड़ियों से रमणीय था एवं दिशाओं को सुरभित कर शोभायमान हो रहा था।

महीपालो भल्लाटिय इयदवालोक्य रुचिरं
समस्तं तद् दृश्यं पुलकिततनुर्द्राक् समजनि।
अथैतस्मिन् काले प्रणयरसकेलिं प्रकटयत्
पुरस्तात् तस्याभून्नयनविषयः किन्नरयुगम् ॥ १५ ॥

१५. इन सब रमणीय दृश्यों का अवलोकन कर राजा भल्लाटिय का शरीर रोमांचित हो गया। इसी समय प्रेम क्रीड़ा में तत्पर एक किन्नर युगल उसे अपने सामने दिखाई दे गया।

परिष्वज्यान्योन्यं प्रणयनिरतं चुम्बनपरं
वियोगाच्चातीताद् विलपदुभयं चापि युगपत्।
नदीकूले क्रीडत् किमिदमिति तद् विस्मितमनाः।
समारोहच्छैलं युगलमचलः प्रैक्षत नृपः ॥ १६ ॥

१६. प्रणयनिरत किन्नरदम्पती परस्पर आलिंगनबद्ध हो चुम्बन में रत थे पर पूर्व वियोग से दुःखी होकर एक साथ विलाप भी करने लगते थे। इस का क्या कारण है यह सोचते हुए राजा विस्मय में पड़ गया और नदी कूल पर क्रीड़ा करते हुए, फिर पर्वत पर चढ़ते हुए उस किन्नर युगल को स्तब्ध होकर देखने लगा।

तदाश्चर्यं दृष्ट्वा नृपतिरचिचिन्तद् द्वयमिदं
कुतो हेतोर्दुःखाद् विलपति तथा रोदिति भृशम् ।
मयैतद् विज्ञेयं निखिलमपि वृत्तं द्रुतमत-
स्तदभ्याशे गन्तुं तरलहृदयोऽसौ व्यवससौ ।। १७ ।।

१७. यह आश्चर्य देख कर राजा सोचने लगा, ये दोनों किस कारण दुःख से विलाप करते हैं और करुण रुदन करते हैं। मुझे इस सारी बात का तुरन्त पता लगाना चाहिये—यह सोच कर वह अधीर मन से शीघ्र उनके पास जाने के लिये सन्नद्ध हो गया।

शुनः कृत्वा स्थाने विधिवदनुशिष्टान् नियमितान्
तरौ धृत्वा पञ्चाप्यथ च निजशस्त्राणि निकटे ।
शनैरित्वा पादध्वनिरहितमुत्फुल्लनयनः
स्थितः सन्नप्राक्षीदुपगिरि युगं किंपुरुषयोः ।। १८ ।।

१८. विधिपूर्वक प्रशिक्षित उन कुत्तों को ठीक स्थान पर बाँध कर उसने समीपस्थ वृक्ष पर पाँचों शस्त्र रख दिये। पैरों की आहट किये विना विकसित-नेत्र वह धीरे से वहाँ जाकर खड़ा हो गया और पर्वत के पास खड़े किन्नरयुगल से पूछने लगा।

युवां कस्मादेवं धृतमनुजरूपाविह चिरं
मिथः प्रेमालापं सकरुणविलापं च कुरुथः ।
अभिख्या वां काऽस्तीत्यखिलमभिधानीयमधुना
युवाभ्यां स्वं वृत्तं प्रणयसरसाभ्यामनुपदम् ।। १९ ।।

१९. आप दोनों मनुष्य का रूप धारण कर यहां किस कारण चिर तक परस्पर प्रेमालाप तथा करुण विलाप करते हो? आपका नाम क्या है? प्रेम रस में निमग्न आप मुझे अविलम्ब अपना सम्पूर्ण वृत्तान्त सुनाओ।

निगद्यैतद् वाक्यं विरतवचने सत्यवनिपे
पुरोवर्ति द्वन्द्वे न खलु पुरुषः किञ्चिदवदत् ।
अथ स्त्रीस्वाभाव्यादतिमधुरया वाग्रचनया
स्वकीयं वृत्तान्तं न्यगददखिलं किन्नरवधूः ।। २० ।।

२०. ये वचन कह कर राजा के मौन हो जाने पर समक्ष विद्यमान युगल में से पुरुष तो कुछ नहीं बोला किन्तु स्त्री स्वभाव के अनुरूप किन्नरवधू ने अतीव मधुर शब्दों में अपना सम्पूर्ण वृत्तान्त सुनाया।

वपुःसादृश्यान्नौ विदुरिह मृगा ग्राम्यपुरुषौ
गणस्तु व्याधानां व्यपदिशति किंपूरुषयुगम् ।

प्रतीतस्त्वं साक्षान्मृगयुरवनीपाल इति भो-
स्त्वया ज्ञेयावावां क्षितिधरचरौ किन्नरवरौ ।। २१ ।।

२१. हमारा ग्रामीणों जैसा शरीर देखकर यहाँ के मृग आदि पशु हमें ग्राम्य पुरुष समझते हैं और शिकारी लोग हमें किन्नरयुगल कहते हैं। शिकारी का वेष धारण करने पर भी तुम हमें राजा मालूम होते हो। तुम हमें पर्वत पर विचरण करने वाले किन्नर जानो।

त्रिकूटाद्या नद्यो विमलसलिलाः शोशुभति याः
मुदावामेतासां तटमनु विहारं वितनुवः ।
बहोः कालादस्मिन् प्रकृतिकमनीयेऽद्रिगहने
वसावः संयुक्तौ सुखमनुभवावः प्रणयिनौ ।। २२ ।।

२२. त्रिकूट आदि निर्मल जल वाली जो सुन्दर नदियां हैं, हम दोनों उन के तट पर प्रसन्नतापूर्वक विहार करते हैं। प्राकृतिक सुषमा से पूर्ण इस पर्वतीय वन में हम दोनों प्रणयी बहुत समय से मिल कर रहते रहे हैं और सुख का अनुभव कर रहे हैं।

प्रियो मे भर्त्ताऽभूद् ह्यहमपि तथा तत्प्रियतमा
मिथः श्लिष्टौ हृष्टौ चिरमगमयाव स्वदिवसान् ।
परं को जानीते विधिविलसितं हन्त ! विषमं
विडम्ब्यन्ते जीवा विषयमृगतृष्णान्धितधियः ।। २३ ।।

२३. मेरा पति मुझे प्रिय था और मैं भी उसकी प्रियतमा थी। हम बहुत समय से परस्पर मिल कर प्रसन्नतापूर्वक अपने दिन बिता रहे थे, परन्तु विधाता की लीला को कौन जानता है ? विषयों की मृगतृष्णा से मोहित जीव दुःख उठाते रहते हैं।

दृढप्रेमाबद्धौ बहुलरसयुक्ताववियुतौ
स्रवन्तीरेत्यामूर्विहरणमकुर्व प्रतिदिनम् ।
अतिक्रान्ते काले हतविधिविपाकादुपनताद्
अभूवानिच्छन्तावपि रजनिमेकां विरहिणौ ।। २४ ।।

२४. प्रेम के दृढ़ पाश में बँधे हुए अत्यन्त उल्लास का अनुभव करने वाले तथा एक साथ रहने वाले हम दोनों प्रतिदिन इन नदियों पर आकर विहार करते थे। कुछ समय बीतने पर दुर्भाग्यवश हम एक रात के लिये न चाहते हुए भी विरही हो गये (एक दूसरे से बिछुड़ गये)।

वियोगोऽसह्योऽसौ स्मृतिपथमुपेतो मनसि नो
गरीयांसं तापं जनयति च सम्मोहयति च ।
त्रियामा सा माऽऽगात् पुनरिति सचिन्तौ सकरुणं
विलापैरालापै रहसि गमयावः स्वसमयम् ।। २५ ।।

२५. वह असहनीय वियोग जब भी याद आता है, हमारे मन को बहुत सन्ताप देता है और संज्ञाहीन बना देता है। वह [वियोग देने वाली] रात फिर कभी न आये, इस चिन्ता में हम करुण विलाप द्वारा तथा एकान्त में परस्पर वार्तालाप द्वारा समय बिता रहे हैं।

न नौ नष्टं द्रव्यं न खलु पितरावप्युपरता-
वमुष्यां यामिन्यामुभयविरहः केवलमभूत् ।
अतो हेतोरावां करुणरुदितैः स्वैरमुदितै-
र्नयावः स्वं कालं नियतिकृतरेखानियमितौ ॥ २६ ॥

२६. हमारा धन नष्ट नहीं हुआ, न ही माता-पिता का देहावसान हुआ है, केवल उस रात्रि को हमारा वियोग हुआ था। इस कारण हम दोनों भाग्य द्वारा बनी रेखा में बँधे हुए, करुण विलाप तथा अभीष्ट प्रेमालाप द्वारा समय बिताते हैं।

पुरस्ताद् दृश्या ते तरुपरिवृतेयं गिरिणदी
स्थिता मध्येशैलद्वयमविरलाम्भोरयवती ।
तटिन्यामेतस्यामनुभवितुमानन्दमधिकं
कदाचिन् मद्भर्ता किल दयितयाऽऽयात् सह मया ॥ २७ ॥

२७. आपके सामने पेड़ों से घिरी हुई एक पर्वतीय नदी दिखाई दे रही है। यह दो पर्वतों के बीच में स्थित है। इसमें जल राशि वेग से बह रही है। इसमें मेरा पति मुझ प्रिया को साथ लेकर आनन्दातिशय प्राप्त करने एक दिन आया था।

प्रिया मामन्वेति ध्रुवमनुसरन्ती मम पदं
कृतं सन्देहेनेत्यवहितमना मे पतिरितः ।
जलाप्लावेऽकस्मात् सति बृहति नद्या घनऋतौ
परं पारं सोऽगाद् विवश इव चामुञ्चदिह माम् ॥ २८ ॥

२८. 'मेरी प्रिया मेरा अनुसरण करती हुई निश्चय ही मेरे पीछे आ रही है, इसमें क्या सन्देह है'—ऐसा सोच कर निश्चिन्त भाव से मेरा पति आगे बढ़ता गया। इधर वर्षा ऋतु में नदी में अचानक अधिक बाढ़ आ जाने से वह दूसरे किनारे पहुँच गया, और विवश सा होकर उसने मुझे यहीं छोड़ दिया।

न तज्जानानाऽहं रुचिकरसुगन्धीनि कुसुमा-
न्यचैषं शेफाल्या विकसदतिमुक्तालतिकयाः ।
यतः स्रग्वीभूतो भवतु दयितो मे प्रमुदितो
भवेयं तत्प्रेयस्यहमपि च तं प्रेक्ष्य कृतिनी ॥ २९ ॥

२९. मुझे यह ज्ञात न हो सका और मैं शेफाली तथा विकसित अतिमुक्त-

लता के सुगन्धित लुभावने पुष्पों को चुनती रही जिससे मेरा प्रियतम पुष्पमाला धारण कर प्रसन्न हो जाय और उसकी प्रेयसी मैं भी उसे देख कर धन्य हो सकूं।

इतीव ध्यायन्ती कुरबकयुतान् पाटलकुटान्
सबन्धूकान् सालानचिनवमथोद्दावकतरून्।
यतः स्रग्वीभूतो भवतु दयितो मे प्रमुदितो
भवेयं तत्प्रेयस्यहमपि च तं प्रेक्ष्य कृतिनी ।। ३० ।।

३०. यही सब सोचती हुई मैंने कलियों से युक्त कुरबक, पाटल, कुट, बन्धूक, साल और उद्दावक वृक्षों के पुष्प चुने, जिससे मेरा पति पुष्पमाला धारण कर प्रमुदित हो और उसकी प्रेयसी मैं भी उसे देख कर धन्य हो सकूं।

प्रसूनं केतक्या अपि विकचगन्धीति रभसात्
प्रियार्थं सञ्चिन्वत्युपधुनि विलम्बं कृतवती।
यतः स्रग्वीभूतो भवतु दयितो मे प्रमुदितो
भवेयं तत्प्रेयस्यहमपि च तं प्रेक्ष्य कृतिनी ।। ३१ ।।

३१. 'केतकी के कुसुम भी अत्यन्त सौरभपूर्ण होते हैं—इसलिये मैं तत्क्षण प्रिय के हेतु नदी के समीप उन्हें चुनने लगी और इसमें विलम्ब हो गया। [मेरी कामना यह थी कि] मेरा पति पुष्पमाला पहन कर प्रसन्न हो और उसकी प्रियतमा मैं भी उसे देखकर धन्य हो सकूं।

तदानीं पुष्पाणां निभृतमवचाये प्रसितया
प्रमादं कुर्वत्या प्रमदयुतयाऽपि प्रमदया।
मया सोऽविज्ञातः सरितमतियातः प्रियतमो
महद्व दूरं प्रायादहह गहनः कालमहिमा ।। ३२ ।।

३२. पुष्पचयन में मैं चुपचाप लगी रही। प्रसन्न होते हुए भी मदपूर्ण होने से मैंने प्रमाद किया। नदी की धारा के साथ चलते हुए प्रियतम का मुझे पता नहीं चला और वह बहुत दूर चला गया। ओह ! काल की महिमा दुर्ज्ञेय है।

समुच्चित्यैकत्र न्यधिषत मयाऽशेषकुसुमा-
न्यतिप्रीत्या चित्राण्युपलशकले पादपतले।
भविष्यत्येषां नौ मृदुपरिमलोद्गारि शयनं
विहर्तास्वश्चावां यदधिशयितौ साध्विति धिया ।। ३३ ।।

३३. वे चित्र विचित्र वर्ण वाले सभी कुसुम चुन कर मैंने प्रसन्नतापूर्वक वृक्ष के नीचे पत्थर के एक टुकड़े पर इस विचार से एकत्रित कर दिये जिससे इन पुष्पों से मधुर सुगन्धि को विकीर्ण करने वाली हमारी शय्या बने, जिस पर शयन कर हम अच्छी तरह विहार करें।

पुनः श्वेतं रक्तं मलयजमपि प्रीतिजननं
स्वकीयप्रेयोऽर्थं सुमृदितशिलायामपिनषम् ।
विलिप्ताङ्गः स्वामी भवतु मम येनातिमुदित-
स्तदीयाङ्गश्लेषादहमपि भवेयं च कृतिनी ॥ ३४ ॥

३४. तत्पश्चात् मैंने प्रीतिवर्धक सफेद तथा लाल चन्दन अपने प्रिय के लिये खूब चिकनी शिला पर घिसा, जिसे अंगों पर लेप कर मेरा स्वामी अत्यन्त प्रमुदित हो और उसके अंगों के आलिङ्गन से मैं भी धन्य हो जाऊँ।

विचार्यैवं यावत् समयमनयं कञ्चन पुन-
र्जलाप्लावस्तावद् द्रुतगतिरुपागान्मम पुरः ।
चितानां प्रेम्णाऽहो ! रुचिररुचिराणां च नचिरात्
प्रसूनानां राशिं बत ! सकलमप्लावयदसौ ॥ ३५ ॥

३५. ऐसा सोच कर मैंने ज्योंही कुछ समय बिताया त्योंही बाढ़ का पानी बड़े वेग से मेरे सामने आ गया और आह ! प्रेम से चुने हुए अत्यन्त सुन्दर पुष्पों के ढेर को तुरन्त अपने साथ बहा ले गया।

पयःपूरादारादुपचितरयाऽपूरि तटिनी
तदैतुं तत्पारं न परमपपारं ह्यहमहो !
प्रियो मे पारं तत्परमहमवारं च विवशौ
श्रितौ स्वं पश्यन्तौ सविरहमवास्थिष्वहि निशि ॥ ३६ ॥

३६. बाढ़ के जल से नदी का वेग तीव्र हो गया और वह [जल से] पूर्ण हो गई। मैं उसके दूसरे किनारे पर पहुँचने में असमर्थ हो गई। मेरा प्रिय नदी के उस पार था और मैं इस पार। विवश होकर हम अपने को देखते हुए रात भर विरही बने रहे।

नितान्तं तान्तौ तां रजनिमखिलां सान्धतमसां
सकृच्चावां हासं व्यतनुव सकृच्चापि रुदितम् ।
वियुक्तानामेषा भवति विवशानामिह दशा
मनस्ताम्यद् भ्राम्यद् क्वचिदपि रतिं नैव लभते ॥ ३७ ॥

३७. अतीव विकल होकर हम उस घनी अन्धेरी रात में एक बार हंसते थे और एक बार रोते थे। वियोगी और विवश जनों की यही दशा होती है, मन व्याकुल रहता है और इधर उधर भटकता है किन्तु उसे कहीं प्रसन्नता नहीं मिलती।

क्रमेणातन्वानौ रुदितमथ हासञ्च, विषमां
क्षपां तां नाभूव क्षपयितुमलं कष्टबहुलाम् ।
क्षणो न स्याद् यस्यां क्षणमपि तया किं क्षणदया
भृशं संक्लिष्टं नौ हृदयममुयाऽदूयत मुधा ॥ ३८ ॥

३८. हम बारी बारी से रोते और हँसते थे किन्तु अत्यधिक कष्टों से पूर्ण वह रात बिताने में हम समर्थ न हो सके। जिस क्षणदा (रात्रि) में क्षण भर भी क्षण (आनन्द) न मिले, उससे क्या लाभ ? इसने हमारे हृदय को व्यर्थ ही बहुत क्लेश दिया जिससे उसे दुःख हुआ।

प्रभातायां तस्यामुदयमुपयाते दिनमणौ
नदीवेगे शान्ते सति घटत्मावामतनुव।
मिथः कृत्वाऽऽश्लेषं निधुवनविशेषं च बहुशः
सकृद्धासं चाथ व्यतनुव सकृच्चापि रुदितम्॥ ३९॥

३९. प्रभात हो जाने पर तथा सूर्य के उदित होने पर नदी का वेग शान्त हो गया। हम दोनों फिर मिले। बहुत वार परस्पर आलिङ्गन एवं सम्भोग कर हम एक वार हँसते थे और एक वार रोते थे।

उभौ वारं वारं विरहघटनां प्रागघटितां
पुनः स्मारं स्मारं व्यतनुव सहासं प्ररुदितम्।
सदैवेत्थंकारं व्यपगतविचारं विलपतो-
र्गतो भूयान् कालो गिरिपरिसरे नौ विहरतोः॥ ४०॥

४०. हम दोनों पहले कभी न घटी हुई इस विरह की घटना को वार-वार स्मरण कर हँसते और रोते थे। सदा इसी प्रकार से विना विचारे विलाप करते हुए तथा पर्वत के समीपस्थ क्षेत्र में विहार करते हुए हमें बहुत समय बीत गया।

वियोगोऽसौ यस्यामजनि रजनी साऽतिविषमा
न शक्याऽपि स्मर्तुं, किमुत पुरतो द्रष्टुमधुना।
अमुष्याः पापायाः स्फुटमुपनतायाः विधिवशाद्
इतः सप्ताब्दानां विरहितशतानि व्यतियुः॥ ४१॥

४१. वियोग की वह रात अतीव कष्टप्रद हो गई थी। उसे अब स्मरण करना भी सम्भव नहीं है, साक्षात् देखना तो दूर की बात है। आज से स्पष्ट ही दुर्दैव से प्राप्त उस पापिनी रात्रि को बीते ६९७ वर्ष हो चुके हैं।

नित्यस्थितावविरहेण परस्परेण
स्निग्धौ विहाय नृप रात्रिममूं सुदीर्घाम्।
भ्रान्त्वा चिरं गिरिणदीतटभूमिभागे-
ष्वावामनैष्व समयं विरहं स्मरन्तौ॥ ४२॥

४२. हे राजन्, उस लम्बी रात्रि को छोड़ [जब से हमारा वियोग हुआ] हम (अब) एक दूसरे से बिना बिछुड़े स्नेहपाश में बँधे पहाड़ी नदियों के तटवर्ती प्रदेशों में चिरकाल से घूमते हुए और अपने (पूर्व) विरह का स्मरण करते हुए अपना समय बिताते आ रहे हैं।

एकादशः सर्गः

इति श्रुत्वाऽऽश्चर्यामविदितचरीं किन्नरयुग-
प्रवृत्तिं तामेतां नरपतिरसावित्थमगदत् ।
युवां चेज्जानीथस्तदभयमसन्दिग्धमुभयोः
वयो वृद्धप्रोक्तं प्रकटयत मे साम्प्रतमिति ।। १ ।।

१. किन्नरयुगल का यह अज्ञातपूर्व विस्मयकारी वृत्तान्त सुनकर राजा ने इस प्रकार कहा : किसी वृद्ध [गणक आदि] द्वारा बताई गई तुम दोनों की वय (जीवनावधि) यदि ज्ञात हो तो उसे निश्चित रूप से एवं बिना भय के अब मुझे बताओ ।

ततः किन्नर्यूचे स्थिरमविकलं प्रेम दधतो-
र्वयो नौ वर्षाणामपि नृप ! सहस्रं समुदितम् ।
वयो वृद्धैः सिद्धैर्निगमपरिशुद्धैरविकलं
तथाऽऽदिष्टं दिष्टं सुखमयमभीष्टं च सकलम् ।। २ ।।

२. तब किन्नरी ने उत्तर दिया, हे राजन् ! हमारा पारस्परिक प्रेम पूर्ण एवं स्थिर है । वेदशास्त्रों के द्वारा परिशुद्ध वृद्ध सिद्धों ने हमारी वय एक हजार वर्ष की बताई है और 'हमारा भाग्य सब प्रकार से सुखमय और प्रियकारी होगा'—ऐसा कहा है ।

भविष्यत्येतस्मिन्नपि वयसि काचिन्न च रुजा
न वा भूयो दुःखं नृपवर ! महाव्याधिरथवा ।
वपुः स्वस्थं, चेतोऽप्यरतिरहितं नौ प्रणयिनो-
र्यतः प्रेमस्थेमा जगति परमं भेषजमिह ।। ३ ।।

३. हे नृपवर ! इस लम्बी वियोग की अवधि में भी हमें कोई पीड़ा, दुःख या महाव्याधि नहीं होगी । हम दोनों प्रेमियों का शरीर स्वस्थ रहेगा और मन विरक्ति, निराशा आदि से रहित रहेगा, क्योंकि संसार में स्थिर प्रेम को श्रेष्ठ औषध माना गया है ।

भवे दुःखं स्वल्पं, सुखमधिकमावामनुदिनं
प्रतीवस्त्याज्योऽयं न भवति कदाचित् सहृदयैः ।
वियोगे स्त्रीपुंसौ प्रणयकलहे वा सति पुन-
र्मिथः प्रीतिं स्निग्धौ कथमपि न मुग्धौ श्लथयताम् ।। ४ ।।

४. संसार में हम दोनों सदा अल्प दुःख तथा अधिक सुख का अनुभव कर रहे हैं। सहृदय लोगों को कभी इसका (संसार का) त्याग न करना चाहिये। वियोग होने पर या प्रणय कलह हो जाने पर परस्पर प्रेमावद्ध, मुग्धमति स्त्री-पुरुषों को कभी पारस्परिक प्रेम को शिथिल नहीं करना चाहिये।

अये राजन्नस्मिञ्जगति सुखदं प्रेम परमं
परं तत्त्वं ज्ञेयं, तदितरदसद् वस्तु सदपि।
भवेद् भारो ह्येकं दिवसमविषह्यो विरहिणो
विना प्रेयांसं कः प्रभवति पुमाञ्जीवितुमपि ॥ ५ ॥

५. हे राजन्! इस संसार में परम सुखदायी प्रेम को ही परम तत्त्व जानना चाहिये। प्रेम से भिन्न वस्तु सत् होते हुए भी असत् है। विरही व्यक्ति के लिये एक दिन बिताना भी असहनीय भार हो जाता है। प्रेमीजन के बिना कौन जीवित रह सकता है?

गुणश्लाघ्ये नित्यं हृदयनिहिते प्रीतिसहिते
मनः सीदत्येव क्षणमपि वियुक्ते प्रियजने।
जगच्छून्यं भाति प्रदहति च सत्प्रेमरहितं
जनः प्रेम्णा युक्तः सततमवियुक्तः सुखमियात् ॥ ६ ॥

६. गुणों के कारण श्लाघनीय, सदा हृदय में निवास करने वाले, प्रेमी इष्टबन्धु के क्षण भर भी वियुक्त हो जाने पर मन व्याकुल हो जाता है, जगत् सूना सा लगने लगता है, सच्चे प्रेम से रहित संसार तीव्रता से जलाने लगता है। प्रेमपूर्ण तथा सदा अपने प्रेमी के साथ रहनेवाला मनुष्य ही सुख पाता है।

अतो यावज्जीवं हसितरुदिताद्यैर्नरपते!
यथावन्नेष्यावो ननु समयमावां रसमयम्।
स्वपोषं पुष्णन्तौ व्यवहृतिविदौ चापि नितरां
मिथः सञ्जानानावधि भुवि परां निर्वृतिमितौ ॥ ७ ॥

७. इसी कारण हे राजन् स्वयं अपना पोषण करते हुए, लोक-व्यवहार में निपुण हम दोनों परस्पर प्रेम में बँधे भूलोक पर परम सुख का उपभोग कर जीवनपर्यन्त हँसी और रुदन आदि द्वारा अपना आनन्द पूर्ण समय अच्छी तरह बितायेंगे।

समाकर्ण्याश्चर्यं कटुकमधुरं वृत्तमुभयो-
स्तदा जातोद्वेगः स्वगतमचिचिन्तन्नरपतिः।
इदं द्वन्द्वं धन्यं यदमनुजजन्माऽप्यतिचिरं
रुदत् क्रन्दद् भ्राम्यद् दयितविरहं न व्यषहत ॥ ८ ॥

८. उन दोनों के विस्मयकारी कटु एवं मधुर वृत्तान्त को सुन कर राजा का मन उद्विग्न हो गया और वह सोचने लगा, मनुष्ययोनि से पृथक् यानि में जन्म लेने वाला यह युगल धन्य है जो इतने दीर्घ समय से रुदन और विलाप करते हुए तथा इधर-उधर भटकते हुए भी प्रियजन के वियोग को सहन नहीं करता है।

निशायामेकस्यां विरहमुपजातं प्रतिपदं
स्मरन्तौ तावेतौ प्रणयपरिपाटीपरिचितौ।
स्मरोत्तप्तौ सप्त प्रियहितरतौ हायनशता-
नटाट्यां कुर्वन्तौ सरिति गमयाञ्चक्रतुरुभौ ॥ ९ ॥

९. केवल एक रात्रि में हुए विरह को प्रत्येक पद पर स्मरण करते हुए ये दोनों प्रेम की प्रणाली से परिचित हैं जिन्होंने कामपीड़ित होकर तथा अपने प्रिय के हित-चिन्तन में निरत रह कर नदी के आस-पास भटकते हुए सात सौ वर्ष विता दिये हैं।

अधन्योऽहं राजा धृतनरवपुर्योजनशत-
त्रयस्याधीशः सन् न खलु विदधे कामपि कृतिम्।
वृथैवारण्यानीं स्वजनरहितोऽटामि विकटा-
महो धिङ् मां मुग्धं मृगपिशितलुब्धं क्षितिपतिम् ॥ १० ॥

१०. मनुष्यदेहधारी मैं भाग्यहीन हूँ जो कि तीन सौ योजन भूमि का शासक राजा होते हुए भी कोई काम नहीं करता। मैं व्यर्थ ही इन विषम वनों में वन्धुरहित भटक रहा हूँ। मृगमांस के लोभी मुझ मूर्ख राजा को धिक्कार है।

विविच्यैतत्सर्वं नरपतिररण्यान्निववृते
गतो वाराणस्यामुचितनिजकार्ये प्रववृते।
अमात्यैः सम्पृष्टो हिमवति गिरौ दृष्टमखिलं
निवेद्यादौ वृत्तं सदसि चिरवृत्तञ्च मुमुदे ॥ ११ ॥

११. इन बातों पर गम्भीरता पूर्वक विचार कर राजा वन से लौट आया। वाराणसी में पहुँच कर अपने उचित कार्यों में प्रवृत्त हो गया। मन्त्रियों द्वारा पूछे जाने पर उसने सभा में वह सब वृत्तान्त—जो बहुत पहले घटित हुआ था और जिसे उसने हिमालय पर्वत पर देखा था—सुनाकर प्रसन्नता का अनुभव किया।

ततः पुण्यैर्यज्ञैर्धनवसनदानादिभिरसौ
सदाचारैर्युक्तो भुवमनुशशास स्थिरमतिः।

प्रियः शान्तस्वान्तः स भवगतलोकव्यवहृतिः
परं लब्ध्वानन्दं भुवनतलसौख्यानि बुभुजे ॥ १२ ॥

१२. तब पुण्यमय यज्ञों से तथा धन, वस्त्र आदि के दान से वह सदाचार-परायण राजा स्थिरबुद्धि होकर भूमि पर शासन करने लगा। लोकप्रिय, शान्तचित्त, सांसारिक व्यवहारों का पालन करने वाला वह राजा अतिशय आनन्द पाकर संसार के सुखों का उपभोंग करने लगा।

अहं ह्येवाभूवं नरपतिरयं जन्मनि पुरा
तदा शास्तेत्याख्यः प्रकटितदयः शुद्धहृदयः।
नरश्चास्मिन् द्वन्द्वेऽभवदथ भवान् कोशलपते !
तथा किन्नर्यासीत् चिरविरहिणी तेऽग्रमहिषी ॥ १३ ॥

१३. पहले जन्म में वह राजा भल्लाटिय मैं ही था तदनन्तर शास्ता नाम से प्रसिद्ध दयालु, एवं शुद्ध हृदय श्रीबोधिसत्त्व बना। हे कोशलपति ! किन्नर-युगल में तुम ही किन्नर थे और यह तुम्हारी प्रमुख रानी (मल्ली) चिरविरहिणी किन्नरी थी।

द्वयोः प्रेम्णो मूर्त्योरधृतनरयोन्योरपि सतो-
स्तयोरेतद्वृत्तं हृदि समवधत्तं ननु युवाम्।
मिथः प्रीतौ सन्तौ जगति कलहं मा स्म कुरुतं
निजे दोषे जातेऽप्यधिकमनुतप्तौ न भवतम् ॥ १४ ॥

१५. मनुष्ययोनि से भिन्न योनि में होते हुए भी वे दोनों प्रेम की साक्षात् प्रतिमा थे। तुम दोनों उनके इस चरित्र को धारण करो। परस्पर प्रीति-पूर्वक रहते हुए कभी कलह मत करो। अपने द्वारा अपराध या त्रुटि हो जाने पर भी अधिक पश्चात्ताप न करो।

यथैकां हा रात्रिं प्रणयविरहादेव युगलं
तदुन्मत्तं भूत्वा कियदवधि सन्तापमभजत्।
तथा हा मा भूतं भयविरहशोकाद्युपहता-
वियं शिक्षाऽऽदेया भवति कथया नित्यमनया ॥ १५ ॥

१५. कितने खेद की बात हैं कि केवल एक रात्रि के प्रेमविरह से किन्नर युगल उन्मत्त होकर कितने ही [दीर्घ] समय तक सन्ताप का अनुभव करता रहा। तुम दोनों भी भय, विरह शोक आदि से आक्रान्त होकर वैसे मत बन जाना। इस कथा से नित्य यही शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।

अहो धन्यः कश्चिद् वचनरचनाया मधुरिमा
सतां वाचीत्युक्तिः क्वचिदपि मृषा नैव भवति।

यतः श्रीबुद्धस्यामृतवदुपदिष्टं श्रुतवत-
स्तदानीं भूजानेरगलदखिलं संशयमलम् ॥ १६ ॥

१६. 'सज्जनों की वाणी में वाग्रचना का कुछ अद्भुत माधुर्य होता है'— यह उक्ति कभी असत्य नहीं होती। क्योंकि श्री बुद्ध के ये अमृत समान उपदेश सुन कर उस समय राजा का सम्पूर्ण संशयरूपी मल विगलित हो गया।

श्रुतं मल्लीदेव्याऽप्यमृतमधुरं तद् भगवतो
वचः प्रेयःश्रेयःप्रवणमखिलक्लेशहरणम्।
असौ श्रद्धाबद्धाञ्जलिरतिशयावर्जितधिया
स्तुवाना श्रीबुद्धं सविनयमिदं वाक्यमवदत् ॥ १७ ॥

१७. देवी मल्ली ने भी भगवान् बुद्ध के सुधा-मधुर सुख-सम्पत्ति एवं पारलौकिक अभ्युदय प्रदान करने वाले [तथा] क्लेशों का विनाश करने वाले वचन सुने। श्रद्धा से अंजलि बाँधकर, अत्यन्त भाव-प्रवण मन से श्री बुद्ध की स्तुति करते हुए मल्ली देवी ने ये वचन कहे—

महात्मन्! बुद्धोऽसि त्वमिह शरणं मेऽति बलवद्
दुरुच्छेदं दुःखं सपदि समुदच्छेदि भवता।
यदादिष्टं तत्तत् सकलमपि कर्त्तास्मि भगवन्
जुषाणा भर्तारं पदमहमवाप्तास्मि परमम् ॥ १८ ॥

१८. हे महात्मन्! आप बुद्ध हैं। आप ही मुझे दृढ शरण देने वाले हैं। आप ने मेरे कठिनता से निवारण करने योग्य महान् दुःख का तत्क्षण उन्मूलन कर दिया। भगवन्! आपने जो-जो निर्देश दिये हैं, मैं उनका सम्यक् पालन करूँगी। अपने स्वामी की सेवा करती हुई परम पद को प्राप्त करूँगी।

महीपोऽपि श्रीमद्भगवदनुशिष्टं तदमृतं
निपीयाऽऽनन्दाब्धिं परमवजगाहेऽभिलषितम्।
बहुश्रेयस्यात्मप्रियदयितया सार्धमनिशं
यशो बिभ्रत् पुण्यैः सुचिरमशिषत् कोशलभुवम् ॥ १९ ॥

१९. श्री भगवान् बुद्ध के उन अमृत समान वचनों का पान कर कोशलपति भी अपने अति वांछनीय आनन्द सागर में निमग्न हो गया। अत्यन्त कल्याणमयी अपनी प्रिय पत्नी सहित सतत पुण्यकार्यों के सम्पादन द्वारा कीर्ति का उपार्जन करता हुआ वह चिरकाल तक कोशल राज्य पर शासन करता रहा।

भल्लाटियाख्यानमिदं विदित्वा
समल्लिकाकोशलभूपवृत्तम्।

श्रुत्वा पुनः किन्नरविप्रयोगं
पवित्रमुच्चैः क्रियतां चरित्रम् ।। २० ।।

२०. भल्लाटिय का यह आख्यान जान कर तथा मल्ली-कोशलपति का चरित एवं किन्नर वियोग की यह कथा सुन कर अपने चरित्र को निर्मल एवं पवित्र बनाना चाहिये।

चमत्करोतीह भृशं कथायामसौ द्वयोः किन्नरयोर्वियोगः।
अटन्नटव्यां मृगयाप्रसक्तो भल्लाटियोऽप्याचकृषे हि येन ।। २१ ।।

२१. इस कथा में दोनों किन्नरों का वियोग अत्यन्त विस्मयकारी है जिस से मृगया में आसक्त, वन में विचरण करता हुआ राजा भल्लाटिय भी आकृष्ट हो गया।

श्रीकोशलेशो विदिताऽऽत्मदोषो भूत्वा विशेषेण निरस्तरोषः।
स्त्रीतल्लजाया निजवल्लभायाः श्रीमल्लिकायाः प्रणयी बभूव ।। २२ ।।

२२. कोशलेश्वर को भी अपनी त्रुटि का पता चल गया और उसने विशेष रूप से अपने क्रोध को निरस्त किया तथा स्त्रियों में उत्तम, अपनी प्रिया मल्लिका के प्रति प्रणयवान् बना।

भुवि प्रसिद्धेन महात्मना श्रीबुद्धेन रुद्धेन्द्रियवृत्तिनेयम्।
मनोविनोदाय सतामुदारा कथाऽकथीत्येव सदावधेयम् ।। २३ ।।

२३. संसार में प्रसिद्ध इन्द्रियविजयी महात्मा बुद्ध ने सज्जनों के मनोविनोद के लिये यह सुन्दर कथा कही है—यह बात स्मरण रखनी चाहिये।

शीलं न लोपयत मङ्गलकारि गुण्यं
　　पापात् सदा विरमताऽऽचरताथ पुण्यम् ॥ ९ ॥

९. प्रियजनो ! मेरे विशिष्ट [सारयुक्त] वचन को ध्यान से सुनो। पवित्र एवं मधुर यह वचन निःश्रेयस तथा अभ्युदय की प्राप्ति कराने वाला है। मङ्गल-कारक एवं गुणयुक्त शील का लोप मत करो। पाप से सदा बचो और पुण्य कार्यों का सम्पादन करो।

वित्तं प्रदत्त निजशक्तिमपेक्ष्य नित्यं
　　वित्ताशु नश्यदखिलं जगदप्यनित्यम् ।
　　　　नैव स्थिरीभवति किञ्चिदपीह वस्तु
　　　　　　कल्याणिनीति मतिरेव चकास्तु वस्तु ॥ १० ॥

१०. अपनी शक्ति के अनुसार सदा धन का दान करो। सम्पूर्ण जगत् को अनित्य तथा विनाशशील जानो। इस लोक में कोई भी वस्तु स्थिर रहने वाली नहीं है--इस प्रकार की कल्याणमयी तुम्हारी मति बनी रहे।

वैराग्यमाश्रयत मोहमुदस्यतालं
　　मृत्युं ध्रुवं समवगच्छत सर्वकालम् ।
　　　　सम्यङ् नियम्य विषयान्निजचित्तवृत्तिं
　　　　　　दानादिसद्व्रतविधौ तनुत प्रवृत्तिम् ॥ ११ ॥

११. वैराग्य का आश्रय लो और मोह को सर्वथा निरस्त करो। मृत्यु को सदा निश्चित (अवश्यंभावी) जानो। अपनी चित्तवृत्ति को विषयों से भली प्रकार रोक कर दान आदि सत्कार्यों में प्रवृत्त रहो।

दैनन्दिनं तनुभृतो मरणं लभन्ते
　　शोकावहा परिणतिर्भवतीयमन्ते ।
　　　　आयव्ययक्षययुता नचिरप्रभावा
　　　　　　भावा विभान्त्यनुपदं पतनस्वभावाः ॥ १२ ॥

१२. देहधारी जीव प्रतिदिन मृत्यु को प्राप्त होते हैं। अन्त में [सभी का] यही शोकप्रद परिणाम होता है। संसार के पदार्थों की उत्पत्ति, क्षय तथा विनाश होता रहता है। इन का प्रभाव थोड़े समय तक रहता है। अन्त में नष्ट हो जाना इन की प्रकृति है।

ध्येयं समस्तजगतः क्षणभङ्गुरत्वं
　　दुःखास्पदत्वमरसत्वमसुस्थिरत्वम् ।
　　　　प्रेयो विहाय परमार्थरताः प्रकामं
　　　　　　श्रेयस्करं कुरुत कर्म गुणाभिरामम् ॥ १३ ॥

१३. सम्पूर्ण जगत् क्षण भर में विनाशशील, दुःखप्रद, आनन्दहीन तथा

ही विविध उत्तम शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त कर लिया तथा कृषि आदि कर्मों में भी निपुणता प्राप्त कर शोभा पाने लगा।

भूत्वा युवायमतिराद्रियताल्पमात्रं
भार्यान्वितः कृषिपरः स शरीरयात्राम्।
आसीद्गृहेऽस्य तनयस्तनया च रम्यं
पुण्यादपत्ययुगलं विनयोपपन्नम्॥ ५॥

५. उत्तम विचारों वाले बोधिसत्त्व युवावस्था में पत्नी सहित कृषिकर्म में लीन रह कर शरीर की ओर भी कम ध्यान देते थे। पुण्यवश इन के घर में विनयशील एवं सुन्दर दो सन्तान—एक पुत्र तथा एक पुत्री थी।

बाल्यात्परं वय उपेयुषि यूनि जाते
भूयो गृहीतविनये तनयेऽभिजाते।
आहारयद्गृहममुष्य कृते स धन्यां
योग्यां समानकुलजां परिणाय्य कन्याम्॥ ६॥

६. बाल्यावस्था के अनन्तर यौवन में पदार्पण करने वाले विनीत एवं कुलीन पुत्र के साथ समान कुल वाली, योग्य एवं सौभाग्यवती एक कन्या को विवाह सूत्र में बांध कर पिता बोधिसत्त्व घर ले आये।

एका च दास्यपि तया सह कन्ययाऽयात्
सेवार्थमाहितनया विनयान्विताऽऽयात्।
इत्थं समे मधुरिमाणमतीव भेजुः
षट् प्राणिनः प्रणयिनो गृहिणो विरेजुः॥ ७॥

७. सौभाग्यवश उस कन्या के साथ एक नीतिनिपुण एवं विनीत दासी भी सेवा-शुश्रूषा के लिये आई। इस प्रकार वे छहों स्नेहसूत्र में बंधे गृहसदस्य परस्पर अत्यन्त प्रीतिपूर्वक रहने लगे।

सर्वेषु तेषु गुणवत्स्वपि शुद्धसत्त्वः
प्रीत्या मिथो व्यवहरत्सु स बोधिसत्त्वः।
वैशिष्ट्यमिष्टमुपधातुमुदात्तवृत्तः
कर्तुं प्रशस्तमुपदेशमिमं प्रवृत्तः॥ ८॥

८. गुणी तथा परस्पर प्रेम से व्यवहार करने वाले उन सदस्यों को पवित्र अन्तःकरण तथा उदारचरित्र से सम्पन्न श्रीबोधिसत्त्व [उनके शील में] अभीष्ट विशिष्टता लाने के लिए यह सुन्दर उपदेश देने लगे :

यूयं प्रियाः शृणुत मद्वचनं विशिष्टं
निःश्रेयसाभ्युदयकारि पवित्रमिष्टम्।

शीलं न लोपयत मङ्गलकारि गुण्यं
　　पापात् सदा विरमताऽऽचरताथ पुण्यम् ॥ ९ ॥

९. प्रियजनो ! मेरे विशिष्ट [सारयुक्त] वचन को ध्यान से सुनो। पवित्र एवं मधुर यह वचन निःश्रेयस तथा अभ्युदय की प्राप्ति कराने वाला है। मङ्गल-कारक एवं गुणयुक्त शील का लोप मत करो। पाप से सदा बचो और पुण्य कार्यों का सम्पादन करो।

वित्तं प्रदत्त निजशक्तिमपेक्ष्य नित्यं
　　वित्ताशु नश्यदखिलं जगदप्यनित्यम्।
　　　　नैव स्थिरीभवति किञ्चिदपीह वस्तु
　　　　　　कल्याणिनीति मतिरेव चकास्तु वस्तु ॥ १० ॥

१०. अपनी शक्ति के अनुसार सदा धन का दान करो। सम्पूर्ण जगत् को अनित्य तथा विनाशशील जानो। इस लोक में कोई भी वस्तु स्थिर रहने वाली नहीं है--इस प्रकार की कल्याणमयी तुम्हारी मति बनी रहे।

वैराग्यमाश्रयत मोहमुदस्यतालं
　　मृत्युं ध्रुवं समवगच्छत सर्वकालम्।
　　　　सम्यङ् नियम्य विषयान्निजचित्तवृत्ति
　　　　　　दानादिसद्व्रतविधौ तनुत प्रवृत्तिम् ॥ ११ ॥

११. वैराग्य का आश्रय लो और मोह को सर्वथा निरस्त करो। मृत्यु को सदा निश्चित (अवश्यंभावी) जानो। अपनी चित्तवृत्ति को विषयों से भली प्रकार रोक कर दान आदि सत्कार्यों में प्रवृत्त रहो।

वैनन्दिनं तनुभृतो मरणं लभन्ते
　　शोकावहा परिणतिर्भवतीयमन्ते।
　　　　आयव्ययक्षययुता नचिरप्रभावा
　　　　　　भावा विभान्त्यनुपदं पतनस्वभावाः ॥ १२ ॥

१२. देहधारी जीव प्रतिदिन मृत्यु को प्राप्त होते हैं। अन्त में [सभी का] यही शोकप्रद परिणाम होता है। संसार के पदार्थों की उत्पत्ति, क्षय तथा विनाश होता रहता हैं। इन का प्रभाव थोड़े समय तक रहता है। अन्त में नष्ट हो जाना इन की प्रकृति है।

ध्येयं समस्तजगतः क्षणभङ्गुरत्वं
　　दुःखास्पदत्वमरसत्वमसुस्थिरत्वम्।
　　　　प्रेयो विहाय परमार्थरताः प्रकामं
　　　　　　श्रेयस्करं कुरुत कर्म गुणाभिरामम् ॥ १३ ॥

१३. सम्पूर्ण जगत् क्षण भर में विनाशशील, दुःखप्रद, आनन्दहीन तथा

नितान्त अस्थिर है—इस [तथ्य] का मनन करो। सांसारिक सुखों का त्याग कर परमार्थ में नितान्त मग्न रहो और श्रेयस्कर एवं गुणविशिष्ट प्रचुर कार्य करो।

लोकं विलोक्य सकलं क्षणदृष्टनष्टं
वक्त्रे यमस्य निपतन्तमवाप्तकष्टम्।
धीराः प्रमादरहिता विषयाप्रसक्ताः
शान्ताः स्थिरा विचरतेह भवे विरक्ताः ।। १४ ।।

१४. क्षण भर के लिये दिखाई देकर नष्ट होने वाले, मृत्यु के [कराल] मुख में गिरने वाले तथा कष्ट पाने वाले समस्त संसार को देख कर तुम लोग धैर्यवान्, प्रमादशून्य, विषयासक्ति से पराङ्मुख एवं विरक्त होकर शान्त तथा स्थिरभाव से इस संसार में विचरण करो।

इत्याद्यनिन्द्यमभिनन्द्यगुणैरुपेतं
सद्युक्तिसङ्गतमनिष्टपथादपेतम्।
बुद्धोऽन्वशान्निजगृहोन्नतिमिच्छुरार्यः
संदृष्टनैकविधलोकहितैककार्यः ।। १५ ।।

१५. अनेक प्रकार से केवल लोकहित के कार्यों में निरत भगवान् बुद्ध ने अपने परिवार की [अध्यात्मिक] उन्नति की कामना से इस प्रकार निर्दोष, प्रशंसनीय गुणों से युक्त, सुन्दर युक्तियों से समन्वित एवं अनिष्ट पथ से अस्पृष्ट उपदेश दिया।

अभ्यर्हितं तदुदितं प्रणयाद्यहीनं
कृत्वा वचः श्रुतिपथातिथिमात्मनीनम्।
ते पूर्वतोऽप्यधिकमात्मनि सावधानाः
स्वस्था विचेरुरवधीरितमोहमानाः ।। १६ ।।

१५. प्रेम आदि से संवलित, सम्मानयोग्य तथा आत्महितकारी ये वचन सुन कर परिवारजन पहले की अपेक्षा आत्मतत्त्व के प्रति अधिक सावधान हो गये, तथा मोह और अभिमान की अवज्ञा कर स्वस्थ भाव से विचरण करने लगे।

भूमिं हलेन कृषति स्म कदापि बुद्धः
क्षेत्रं गतो द्विजवरः स तपोविशुद्धः।
पुत्रश्च शुष्कतृणकण्टकमन्तिकस्थं
तत्राग्निना प्रदहति स्म कृतव्यवस्थः ।। १७ ।।

१७. एक बार तपःपूत ब्राह्मणबटु बुद्ध [बोधिसत्त्व] खेत में जाकर हल से भूमि जोत रहे थे और उन का पुत्र पास बिखरे हुए सूखे तिनके, कांटे आदि को

व्यवस्थित (एकत्रित) कर अग्नि में जला रहा था।

धूमादभूदनलजादुपजातदर्पः
पार्श्वे वसन् विषधरो विवरस्थसर्पः।
क्रुद्धो भृशं स्वविवराद् बहिरेत्य तूर्णं
दन्तैश्चतुर्भिरदशत् तनयं स पूर्णम् ॥ १८ ॥

१८. वहां पास में स्थित विल में एक घमंडी विषधर सर्प रहता था। आग के धुएं से वह अत्यन्त कुपित होकर अपने विल से वेगपूर्वक बाहर निकल आया और चार दांतों से उस लड़के को जोर से डस लिया।

दष्टः क्षणेन तनयः स तु मृत्युमापद्
हा हन्त ! तत्र महतीयमुपस्थिताऽऽपत्।
विप्रः समीक्ष्य मृतमात्मजमात्मलीनस्
त्यक्त्वा हलं निकटमैत्खलु शोकहीनः ॥ १९ ॥

१९. [सर्प द्वारा] काटे जाने पर उस की तुरन्त मृत्यु हो गई। हाय, कैसी दारुण विपत्ति आ पड़ी। आत्मस्थित ब्राह्मण (पिता) अपने पुत्र को मरा देख कर अपना हल छोड़ कर शोकरहित भाव से उस के पास आया।

उत्थाप्य तं सपदि विप्रकुलावतंसः
शान्तो न्यधात् तरुतले निजमात्मजं सः।
सम्प्रावृणोच्च वसनेन विचारशीलः
प्रध्वस्तवैषयिकमोहमदप्रमीलः ॥ २० ॥

२०. ब्राह्मण कुल में श्रेष्ठ उस (पिता ने अपने पुत्र को तत्काल उठा कर शान्त मन से वृक्ष के नीचे रख दिया। विचारशील पिता ने, जिसकी विषय सम्बन्धी मोह, मद तथा तन्द्रा विनष्ट हो चुकी थी, उसे वस्त्र से ढक दिया।

नासौ रुरोद विबुधो न शुशोच किञ्चित्
प्राणाधिके निजसुतेऽपि मृते कथञ्चित्।
संसारमध्यपतितः सकलोऽप्यसारः
प्राणीति तत्त्वविदवास्थित निर्विकारः ॥ २१ ॥

२१. विवेकसम्पन्न पिता ने प्राणों से अधिक प्रिय पुत्र की मृत्यु पर न तो रुदन किया और न शोक। "सभी सांसारिक प्राणी असार (अनित्य) हैं"—इस तत्त्व के ज्ञाता श्रीबोधिसत्त्व के मन में कोई [शोक, क्षोभ आदि] विकार उत्पन्न नहीं हुआ।

प्रध्वंसि वस्तु यदनित्यमिहाध्वसत् तद्
यन्न ध्रुव क्षणमपि ध्रियतां कुतस्तत् ?
इत्याकलय्य बलवन्मनसाऽमलेन
कर्तुं कृषिं प्रववृते स पुनर्हलेन ॥ २२ ॥

२२. जो वस्तु अनित्य एवं नाशवान् थी वह नष्ट हो गई। जो स्थायी नहीं है वह क्षणभर भी कैसे जीवित रह सकती है ? इस प्रकार निर्मल मन से दृढ़तापूर्वक विचार कर वह पुनः हल से खेती के कार्य में प्रवृत्त हो गया।

अत्रान्तरे निजगृहं प्रति यान्तमेकं
मर्त्यं व्यलोकयदयं श्रितसद्विवेकम्।
अब्रूत चान्तिकमुपेतममुं विचार्य
मद्गेहिनीमिति वचः कथय त्वमार्य ! ॥ २३ ॥

२३. इतने में उसने एक विवेकवान् व्यक्ति को अपने घर की ओर जाते देखा। उस के पास आने पर उसने विचार कर कहा, आर्य ! मेरी पत्नी को यह कह देना कि :

भो ब्राह्मणि ! प्रियतमः कृषकस्तवेदं
वाक्यं ब्रवीति सरलो विरहय्य खेदम्।
आकर्ण्यतां क्षणमनुव्रतया त्वयाऽदः
सङ्गृह्यतां समनुपाल्य च तत्प्रसादः ॥ २४ ॥

२४. हे ब्राह्मणि ! तुम्हारे सरलस्वभाव किसान पति ने बिना दुःख का अनुभव किये संदेश भेजा है। आप पति की आज्ञाकारिणी हो अतः तनिक इसे सुनना तथा इस का यथाविधि पालन कर उसका (पति का) प्रसाद पाना।

प्रेष्यं त्वयाऽद्य किल केवलमेककस्य
भोज्यं जनस्य, न पुनर्मनुजद्विकस्य।
सर्वं कुटुम्बकमुपैतु च शुद्धचेलं
क्षेत्रं स्वहस्तधृतगन्धसुमं सहेलम् ॥ २५ ॥

२५. तुम आज एक ही मनुष्य का भोजन खेत पर भेजना, दो मनुष्यों का नहीं। परिवार के सभी लोग शुद्ध वस्त्र धारण कर तथा अपने हाथों में सुगन्धित द्रव्य तथा पुष्प लेकर आराम से (बिना असुविधा का अनुभव किये) खेत पर आ जावें।

भार्या स्नुषासहकृता तनया च दासी
सर्वोऽस्तु तद् गृहभवोऽद्य तु वप्रवासी।
दास्येव भोज्यमुपगृह्य न यातु, किन्तु
स्वक्षेत्रभूमिमखिलाः प्रति सञ्चलन्तु ॥ २६ ॥

२६. पुत्रवधू के साथ पत्नी, कन्या तथा दासी सभी घर वाले आज खेत पर रहें। केवल दासी ही भोज्य पदार्थ लेकर न आवे किन्तु सभी लोग खेत की ओर चल दें।

विप्रस्य तद्वचनमाशु निशम्य सोऽपि
तस्यैद् गृहं सकलदुष्टविकारलोपि ।
ऊचे तदुक्तमुचितं च तदीयभार्यां
कार्यं विचार्य समये करणीयमार्याम् ॥ २७ ॥

२७. ब्राह्मण के वचन सुन कर वह व्यक्ति उस के सभी प्रकार के अनिष्ट विकारों से शून्य घर में पहुँचा। वहां उस ने उस की आर्या पत्नी को ब्राह्मण द्वारा निर्दिष्ट कार्य जो कि उचित समय पर विचार पूर्वक करना था—बताया।

आकर्ण्य पत्युरुदितं द्विजभार्ययाऽपि
प्रत्युत्तराय न तदा क्षणमप्युदैक्षि ।
पृष्टः स साधु पुरुषः किमिदं गरीयः
स्वामी भवन्तमवदद् वचनं मदीयः ॥ २८ ॥

२८. पति का बचन सुन कर ब्राह्मण की पत्नी ने प्रत्युत्तर के लिये क्षण भर भी प्रतीक्षा न की और उस पुरुष से आदर के साथ पूछा कि मेरे स्वामी ने ये उत्तम वचन किस प्रयोजन से आप के द्वारा कहलाये हैं ?

सत्यं तथेत्यभिदधत्यथ विप्रभार्या
कार्यान्तरादुपरतेत्थमवोचदार्या ।
मत्स्वामिना कथितमस्ति यदार्य तथ्यं
तत्पालयेऽहमधुनैव विबुध्य पथ्यम् ॥ २९ ॥

२९. उस पुरुप द्वारा ब्राह्मण का यथावत् सन्देश बतलाये जाने पर उतम ब्राह्मण पत्नी ने दूसरे काम छोड़ कर इस प्रकार कहा, हे आर्य ! मेरे स्वामी ने जो यथार्थ वात कही है, उसको अच्छी तरह हितकारक जानती हुई मैं अभी उस का पालन करती हूँ।

पुत्रस्य मृत्युरजनीति मनः समाधे-
र्ज्ञातं मया न विकलाऽस्मि पुनस्तदाधेः ।
एकस्य भोजनमतः स मदीयभर्ता
प्रेष्यं प्रियो निरदिशत् कृषिकार्यकर्ता ॥ ३० ॥

३०. मैंने मन को समाहित कर जान लिया है कि पुत्र की मृत्यु हो गई है। किन्तु मैं उस कारण मानसिक व्यथा से व्याकुल नहीं हूँ [यही कारण है कि पुत्र की मृत्यु हो जाने पर] कृषि कर्म में निरत मेरे प्रिय स्वामी ने एक व्यक्ति भोजन प्रेषित करने के लिये कहलाया है।

मन्ये मदीयतनयो विनयोपपन्नः
प्रच्छन्नपन्नगकृताद् दशनाद् विपन्नः ।

प्राणैर्व्ययुज्यत युवा नियतेर्नियोगात्
किं स्यान्मृते पुनरिहौषधसम्प्रयोगात् ।। ३१ ।।

३१. मैं समझती हूँ कि मेरा विनयशील (सुशिक्षित) पुत्र छिपे हुए सर्प द्वारा काटे जाने से मृत्यु को प्राप्त हुआ है। दैव के आदेश से युवावस्था में ही उस का प्राणान्त हुआ है। मृत्यु हो जाने पर औषध आदि उपायों से क्या हो सकता है।

इत्यूचुषी विषयरागजदोषहीना
भार्या द्विजस्य परमात्मविचारलीना।
उद्वेगमात्रमपि नानुबभूव कान्ता
स्वस्थेन्द्रिया मतिमती शुशुभे प्रशान्ता ।। ३२ ।।

३२. यह कह कर विषयों के राग जनित दोष से रहित ब्राह्मण पत्नी परमात्म तत्त्व के चिन्तन में लीन हो गई। उस को थोड़ा भी उद्वेग का अनुभव नहीं हुआ। वह विचारशीला एवं निर्विकार इन्द्रियों वाली ब्राह्मणी शान्त भाव में विराजमान थी।

शुद्धान्तरा विगतमोहमलाऽऽत्तभक्षा
पत्युस्तदा प्रणयिनी स्वविधौ प्रसक्ता।
धृत्वा सुगन्धि कुसुमं स्फुटमन्दहासा
क्षेत्रं ययौ परिजनेन समं सुवासाः ।। ३३ ।।

३३. शुद्ध अन्तःकरण से युक्त, मोहजनित दोषों से रहित, करणीय कार्यों में निरत, पति से प्रेम करने वाली वह ब्राह्मणी सुन्दर वस्त्र पहन कर, सुगन्धित पुष्प धारण कर तथा भोजन लेकर मन्द मुस्कान के साथ परिजनों सहित खेत पर पहुँची।

तत्र स्थिता. समुदिताः सकलाः स्वमिष्टं
दृष्ट्वा विनष्टमपि तेऽन्वभवन् न कष्टम्।
नाक्रन्दिषुर्न रुरुदुर्न च मृत्युभीताः
संजज्ञिरे विधिवदात्मनि सम्प्रतीताः ।। ३४ ।।

३४. वहां एकत्रित हुए सब ने अपने प्रियजन को प्राणहीन देख कर भी कष्ट का अनुभव नहीं किया। मृत्यु के भय से विहीन उन लोगों ने न तो क्रन्दन किया और न रोये। विधिपूर्वक आत्मतत्त्व की अनुभूति में निमग्न वे सब न रोये न चिल्लाये और नहीं उन्हें मृत्यु का भय हुआ।

विप्रः कथं नु प्रणिभाल्य मृतं स्वतोकं
सांराविणं वितनुयात् प्रकटय्य शोकम्।
मूर्धन्य एष सकलेष्वपि तेषु धन्यः
श्रेयान् मतोऽस्ति सदने न यतस्तदन्यः ।। ३५ ।।

३५. ब्राह्मण अपने पुत्र को मृत देख कर शोक प्रकट करते हुए कैसे क्रन्दन करता ? वह उन सभी परिवारजनों में अग्रणी था तथा घर के सदस्यों में उस से अधिक सम्माननीय व्यक्ति और नहीं था ।

पुत्रो मृतस्तरुतले निहितस्तदासीद्
यत्र द्विजः समुपविश्य स भोज्यमाशीत् ।
सर्वैस्ततः समुदितैर्मुदितैश्च तस्य
काष्ठान्युपाधिषत तत्र तनौ मृतस्य ।। ३६ ।।

३६. उस समय पुत्र का मृतक देह वृक्ष के नीचे रखा था जहां उस ब्राह्मण ने बैठ कर भोजन किया । तब सभी ने एकत्रित होकर प्रसन्न भाव से उस मृतक के शरीर पर काष्ठचयन किया ।

तेऽभ्यर्च्य गन्धकुसुमैश्च वपुस्तदीयं
प्रज्वाल्य वह्निमदहन् विधिवत्समन्त्रम् ।
नैवाश्रुबिन्दुरपि कस्यचनाऽऽविरासीन्
मृत्योः स्मृतिः प्रतिपदं विशदाऽचकासीत् ।। ३७ ।।

३७. उन्होंने सुगन्धित द्रव्यों एवं पुष्पों से उस के शरीर को सजाया तथा विधिपूर्वक मंत्रों के साथ अग्नि प्रज्वलित कर उस का दाह संस्कार किया । किसी की आंखों मे आंसू की बूंद भी दिखाई नहीं देती थी । प्रत्येक पद पर केवल मृत्यु की स्मृति बार-बार आविर्भूत होती थी ।

दुर्दान्तमोहमदनाशनबद्धकक्षाः
शुद्धात्मरूपपरिचिन्तनलब्धलक्षाः ।
तेऽनाकुलाः सति भयेऽप्यभुरेकनिष्ठाः
सत्त्वप्रधानचितिशक्तिकृतप्रतिष्ठाः ।। ३८ ।।

३८. वे सब दुर्दमनीय मोह और मद के नाश के लिये कटिबद्ध थे । शुद्ध आत्मस्वरूप के चिन्तन में ही उन की चित्तवृत्ति समाहित थी । भय की विद्यमानता में भी व्याकुल न होने वाले वे लोग सत्त्वप्रधान चिति शक्ति (आत्मतत्त्व) में ही अनन्य भाव से प्रतिष्ठित थे ।

वैराग्यपूर्णमनसो जितरागदोषान्
सर्वानमून् प्रकटसञ्चितपुण्यकोषान् ।
ख्यातिं गतानधि जगत्युपलभ्य शक्रः
स्वस्थोऽप्यतद्गुणसहिष्णुतयाऽऽस्त वक्रः ।। ३९ ।।

३९. वैराग्यपूर्ण मन वाले, राग दोषों को जीतने वाले, पुण्यों की संचित निधि को प्रकाशित करने वाले तथा संसार में [विरक्त रूप में] प्रसिद्ध उन सब को देख कर अपने में प्रकृतिस्थ [अथवा स्वर्ग में स्थित] इन्द्र भी उन के गुणों

को न सह सका और उन के प्रतिकूल हो गया।

स ज्ञानवानपि भवन् व्यचिचिन्तदेवं
को मां चिकीर्षति पदच्युतमत्र देवम्।
व्यज्ञायि तेन मनसः प्रणिधानतो द्राक्
विप्रस्य तत् सुचरितं यदुदीरितं प्राक् ।। ४० ।।

४०. तत्त्वज्ञानी होते हुए भी इन्द्र यह सोचने लगा 'कौन मुझे मेरे सुरेन्द्र पद से हटाना चाहता है' फिर उस ने मन के प्रणिधान द्वारा उस ब्राह्मण का पूर्वोक्त चरित्र शीघ्र जान लिया।

सोऽमुष्य शीलमतिनिर्मलमालुलोके
प्रीतोऽभवच्च तदुदीक्ष्य मनुष्यलोके।
कौतूहलान्निजसमाधिबलान् मृतस्य
दाहक्रियास्थलमुपैदवनीस्थितस्य ।। ४१ ।।

४१. उस ने ब्राह्मण का अत्यन्त निर्मल शील देखा। मर्त्य लोक में उसे देख कर उसे प्रसन्नता हुई। वह कौतूहलवश अपने समाधिबल से भूमि पर मृतक के दाह संस्कार के स्थान पर पहुँच गया।

गत्वान्वयुङ्क्त च परीक्षितुमिच्छुरेवं
किं त्वं करोषि भगवन्निति भूमिदेवम्।
तेनोक्तमत्र मृतमार्य वयं दहामः
श्रीमन्न नस्तदितरः खलु कोऽपि कामः ।। ४२ ।।

४२. वहां पहुँच कर उस ने परीक्षा करने की इच्छा से इस प्रकार ब्राह्मण से प्रश्न किया, भगवन्! आप यहां क्या कर रहे हैं? उस ने उत्तर दिया, आर्य! हम यहां मृतक का दाह कर्म कर रहे हैं। श्रीमन्! इस के अतिरिक्त हमारा और कोई अभिप्राय नहीं है।

इन्द्रोऽब्रवीन्न मनुजं मृतमग्निदग्धं
यूयं विधत्थ, वचनं किल वो विदग्धम्।
हत्वा मृगं तु पचथैकमितीव शङ्के
कष्टे निमज्जथ सुदुस्तरपापपङ्के ।। ४३ ।।

४३. इन्द्र ने कहा, तुम लोग मृतक मनुष्य को अग्नि में नहीं जला रहे हो। तुम्हारी बात चतुराई से पूर्ण है। मेरी आशंका है कि तुम लोग किसी मृग को मार कर पका रहे हो और पाप के गहन तथा कष्टप्रद पङ्क में डूब रहे हो।

विप्रस्त्वबोचदयि ते क्रियते प्रणामः
सत्यं मृतं मनुजमत्र वयं दहामः।

मा शङ्कि चाण्वपि दुस्तरपापपङ्कः
सत्प्राणिहिंसनमिहास्ति यतः कलङ्कः ॥ ४४ ॥

४४. विप्र ने उत्तर दिया, हे भद्र पुरुष ! हम आप को प्रणाम करते हैं। हम सचमुच मृतक मनुष्य का दाह संस्कार कर रहे हैं। आप गहन पाप रूपी पङ्क की जरा भी आशङ्का न करें, क्योंकि संसार में सत्प्राणियों की हिंसा कलंक का कारण होती है।

इन्द्रोऽभ्यधत्त रिपुरेष भवेन्नु कश्चिद्
यं निर्घृणं पचथ संनिहितं कुतश्चित्।
विप्रोऽभ्यधान्न रिपुरस्ति, परं प्रशस्यः
सूनुर्न एष भगवन् व्यसुरस्त्युरस्यः ॥ ४५ ॥

४५. इन्द्र ने कहा, तब यह तुम्हारा कोई शत्रु होगा, जिसे कहीं पास में पाकर तुम उसे निर्दयता से आग में जला रहे हो। ब्राह्मण ने कहा, भगवन् ! यह शत्रु नहीं है किन्तु मेरा प्रशस्य औरस पुत्र है जिस का प्राणान्त हो गया है।

पुत्रोऽस्ति मे प्रियतरोऽयमनिन्द्यवृत्तः
क्षेत्रे स्वयं यमिह दग्धुमहं प्रवृत्तः।
प्राणाधिकः प्रियतमो बहुधा हितोऽयं
यस्मिन् मृते पितृषु मेऽवसितं हि तोयम् ॥ ४६ ॥

४६. यह अनिन्द्य चरित्र शाली मेरा परम प्रिय पुत्र है, मैं जिस का स्वयं इस खेत में दाह संस्कार कर रहा हूँ। यह प्राणों से भी प्रिय, अनेक प्रकार से हितकारी मेरा पुत्र है जिस के मरने पर मेरे पितरों की तर्पण क्रिया भी समाप्त हो गई है।

इन्द्रोऽवदद् यदि सुतोऽस्त्यधिकप्रियोऽयं
कस्मान्न रोदिति भवान् ? विधिरस्ति कोऽयम्।
प्रेष्ठे सुते विनयशालिनि यूनि नष्टे
रोरुद्यते सकल एव यतो विशिष्टे ॥ ४७ ॥

४७. इन्द्र ने कहा, यदि यह आपका प्राणों से भी अधिक प्रिय पुत्र है, तो आप रोते क्यों नहीं ? यह कौन सी विधि है ? प्रियतम, विनयशील, तरुण एवं विशिष्ट गुणवान् पुत्र के मरने पर सभी लोग बहुत अधिक रुदन करते हैं।

विप्रस्तदा वचनमाख्यत युक्तियुक्तं
संश्रूयतां मम महाशय ! सत्यमुक्तम्।
सर्पो यथा त्यजति निर्ल्वयनीं स्वकीयां
तद्वत् तनुं तनुभृदुज्झति वर्जनीयाम् ॥ ४८ ॥

४८. ब्राह्मण ने तब युक्तिपूर्ण वचन कहे, महाराज ! मेरा सत्य वचन

सुनिये। जिस प्रकार सर्प अपनी केंचुली का त्याग करता है, उसी प्रकार प्राणी भी अपने नाशवान् देह का त्याग करता है।

जाते वपुष्यभिमताखिलभोगहीने
कालक्रमेण विगतासुनि तत्त्वलीने।
दग्धोऽग्निना भवति देह्यत एष किञ्चिज्
जानाति नेष्टजनरोरुदितं कथञ्चित् ॥ ४९ ॥

४९. जब कालक्रम से प्राणी का शरीर प्राणहीन, सभी प्रकार के अभीष्ट भोगों से वंचित एवं परमतत्त्व में लीन हो जाता है, तब उसे अग्निदग्ध कर दिया जाता है, अतः उसे अपने प्रियजनों के विलाप, रुदन आदि का कोई बोध नहीं होता।

शोचाम्यतो न खलु, रोदिमि नैव चाहं
स्वस्थः स्थितोऽस्म्यनुभवामि न दाहदुःखम्।
यादृङ् मृतो व्यधित कर्म, गतो गतिं तां
कुर्यां तदर्थमहमत्र कथं नु चिन्ताम्? ॥ ५० ॥

५०. इसी कारण न तो मैं शोक करता हूँ और न रुदन। मैं प्रकृतिस्थ होकर अग्निदाह के दुःख का अनुभव नहीं करता हूँ। मृत पुरुष ने जिस प्रकार के कर्म किए थे उसी प्रकार की गति को प्राप्त हुआ है। इसके लिए मैं क्या चिन्ता करूँ?

रुच्यं वचो द्विजवरस्य निशम्य शक्रः
सन्तोषमापदनुरञ्जितलोकचक्रः।
भार्याममुष्य पुनराह वद त्वमार्ये!
कस्ते जनः स भवति स्म गृहस्थकार्ये ॥ ५१ ॥

५१. समस्त लोकों का अनुरञ्जन करने वाले इन्द्र ने विप्रवर के ये मनोहारी वचन सुन कर सन्तोष का अनुभव किया। तदनन्तर उसकी पत्नी को कहा, आर्ये! तुम कहो, तुम्हारे गृहकार्य में सहयोगी यह मरने वाला तुम्हारा कौन था?

सोवाच साधुपरिपालितलोकयात्रः
संहृष्टतुष्टपरिपुष्टसमस्तगात्रः।
मासान् दशोदरगतः प्रियसच्चरित्रः
पीतस्तनो मम सुतोऽयमभूत् पवित्रः ॥ ५२ ॥

५२. उसने उत्तर दिया, सांसारिक व्यवहार का सम्यक् प्रकार से पालन करने वाला, हृष्ट, पुष्ट एवं प्रसन्न शरीर वाला यह मेरा प्रिय, सच्चरित्रशाली पवित्र पुत्र था, जिस ने दस मास तक मेरी कुक्षि में निवास किया और मेरे स्तन का पान किया।

शक्रो निशम्य निजगाद पिपृच्छिषुस्तां
श्रद्धाविवेकमृदुतादिगुणैः प्रशस्ताम् ।
कामं न रोदितु पिता परमङ्ग माता
स्यादात्मजं प्रति कुतो न हि दुःखजाता ॥ ५३ ॥

५३. इन्द्र ने यह वचन सुन कर [अन्य प्रश्न] पूछने की इच्छा से श्रद्धा, विवेक, दयाभाव आदि गुणों से प्रशंसनीय उस ब्राह्मणी से कहा, चाहे पिता [पुत्र की मृत्यु पर] न रोए, परन्तु माता अपने पुत्र के लिए दुःखी कैसे नहीं होती ?

यस्याः प्रसिध्यति सुकोमलमानसत्वं
प्रायः स्वसन्ततिषु दुस्त्यजमोहवत्त्वम् ।
सा त्वं जनन्यभिमता तनयस्य नूनं
कस्मान्न रोदिषि चिरं विरहादनूनम् ॥ ५४ ॥

५४. माता का अतीव कोमल मन प्रायः अपनी सन्तान पर अतिशय मोहवान् होता है । तुम भी अवश्य अपने पुत्र की स्नेहमयी माता हो । तब तुम कैसे अपने पुत्र के चिर विरह से अभिभूत होकर करुण क्रन्दन नहीं करती हो ?

भार्याऽभ्यधाच्छृणु वचो भगवन् ममेदं
नाहं वहामि तनयं प्रति मोहखेदम् ।
दग्धोऽग्निना भवति देह्यत एष किञ्चिज्
जानाति नेष्टजनरोरुदितं कथञ्चित् ॥ ५५ ॥

५५. ब्राह्मणपत्नी ने कहा, भगवन् ! मेरा वचन सुनो । मुझे अपने पुत्र के प्रति मोहजनित खेद नहीं है । इसका कारण यह है कि प्राणी अग्नि में दग्ध हो जाने पर अपने इष्ट जनों के रुदन, विलाप आदि को जान नहीं सकता ।

आकारितो न मम पार्श्वमुपागमत् सः
प्रायादितश्च तनुजः स्वयमप्रयुक्तः ।
एतो यथा गृहमिदं स पुनस्तथेतः
क्लेशं कथं वहतु तत्र मुधैव चेतः ॥ ५६ ॥

५६. बुलाने पर मेरा पुत्र मेरे पास नहीं आया और विना मेरी आज्ञा के स्वयं यहाँ से चला भी गया। जैसे यह मेरे घर आया था वैसे ही गया भी । ऐसी दशा में मेरा चित्त व्यर्थ ही क्यों दुःखी हो ?

शोचाम्यतो न खलु, रोदिमि नैव चाहं
स्वस्था स्थिताऽस्म्यनुभवामि न दाहदुःखम् ।
याहृङ् मृतो व्यधित कर्म, गतो गतिं तां
कुर्यां तदर्थमहमत्र कथं नु चिन्ताम् ॥ ५७ ॥

५७. इसीलिये न तो मैं शोक करती हूँ और न रोती हूँ। प्रकृतिस्थ होकर मैं अग्निदाह के दुःख का अनुभव नहीं करती। मृत पुरुष ने जिस प्रकार के कर्म किये थे, उसी प्रकार की गति को प्राप्त हुआ है। मैं इसके लिये क्यों चिन्ता करूँ ?

शक्रस्ततस्तदनुजामवदत् स्वसारं
भद्रेऽभिधेहि विशदय्य निजं विचारम्।
कस्ते मृतो भवति स स्म गृहस्थकार्ये
सम्बन्धिनी भवसि तस्य कुतस्त्वमार्ये ॥ ५८ ॥

५८. इन्द्र ने तब मृतक की बहिन से कहा, भद्रे ! तुम अपने विचार स्पष्ट रूप से व्यक्त करो। गृह-कार्य में सहयोगी यह मृतक पुरुष तुम्हारा कौन था ? आर्ये ! तुम किस प्रकार इसकी सम्बन्धिनी हो ?

साऽब्रूत पूतहृदया विनयावदाता
लघ्वी स्वसेह भगवन्नहमस्य जाता।
भ्राताऽभवन् मम सहोदर एष आर्यः
स्निग्धः सुशिक्षितसमस्तगृहस्थकार्यः ॥ ५९ ॥

५९. पवित्र हृदय वाली, विनय से शोभित बहिन ने कहा—भगवन् ! मैं इसकी छोटी बहिन हूँ। यह श्रेष्ठ मृतक पुरुष मेरा सगा भाई था जो कि स्नेह-पूर्ण एवं घर के समस्त कार्यों में सुशिक्षित था।

शक्रोऽभ्यधादयि ! वचोऽस्ति तवाविरुद्धं
भ्रातृप्रियैव भगिनीति जगत्प्रसिद्धम्।
कस्मान्न रोदिषि भृशं विहितादरस्य
प्रेमाकुलाऽद्य विरहात्तव सोदरस्य ॥ ६० ॥

६०. इन्द्र ने कहा, भद्रे ! तुम्हारी बात सर्वथा अनुकूल है। बहिन को भाई से प्रेम होता है, यह जगत् में प्रसिद्ध है। जिस सहोदर भाई का तुम इतना आदर करती थीं, अब उस के वियोग में प्रेमाकुल होकर क्यों नहीं रोती हो ?

प्रत्यब्रवीत् तदनुजा न गृहे चकास्यां
रुद्यामहं यदि भृशं, वपुषा कृशा स्याम्।
शोकेन मां परिगतां विमनायितास्यां
वीक्ष्यारुचिश्च सुहृदां भवितोपहास्याम् ॥ ६१ ॥

६१. उसकी बहिन ने उत्तर दिया, यदि मैं अधिक रुदन करूँ, तो घर में मेरी शोभा न रहेगी और शरीर कृश हो जाएगा। मुझे शोकाकुल, उदास-मुख तथा उपहास योग्य देखकर मेरी सखियों को मुझसे अरुचि हो जाएगी।

लाभश्च कः प्ररुदितेन भविष्यतीति
ज्ञात्वैव दग्धहृदयं किल शंशमीति ।
दग्धोऽग्निना भवति देह्यत एष किञ्चिज्
जानाति नेष्टजनरोरुदितं कथञ्चित् ॥ ६२ ॥

६२. इस रुदन से क्या लाभ होगा ? यह जान कर ही मेरा अभागा हृदय शान्त हो जाता है । मृतक प्राणी अग्नि में दग्ध हो जाने पर अपने इष्ट-बन्धुओं के रुदन से परिचित नहीं होता ।

शोचाम्यतो न खलु, रोदिमि नैव चाहं
स्वस्था स्थिताऽस्म्यनुभवामि न दाहदुःखम् ।
यादृङ् मृतो व्यधित कर्म, गतो गतिं तां
कुर्यां तदर्थमहमत्र कथं नु चिन्ताम् ॥ ६३ ॥

६३. इस कारण मैं शोक नहीं करती और न ही रोती हूँ । प्रकृतिस्थ रह कर मैं अग्नि दाह के कष्ट का अनुभव नहीं करती हूँ । मृतक ने जिस प्रकार के कर्म किये थे, उनके अनुसार उसे वैसी गति प्राप्त हुई है । इसके लिये मैं क्यों चिन्ता करूँ ?

शक्रः स्वसुः समतुषन्मधुरैर्वचोभि-
र्जज्ञौ च तद्हृदयमुच्चविचारशोभि ।
आख्यत्पुनः सुचरितां दयितां मृतस्य
भद्रेऽस्य का त्वमभवः स्वगृहस्थितस्य ॥ ६४ ॥

६४. इन्द्र उस वहिन के मधुर वचन सुनकर सन्तुष्ट हुआ और उसके हृदय में उदार विचार शोभा पाते हैं यह जान गया । फिर उसने मृतक की पुण्यशीला प्रिया पत्नी से प्रश्न किया, भद्रे ! अपने घर के इस पुरुष से तुम्हारा क्या सम्वन्ध था ?

तत्पत्न्युवाच भगवञ्छृणु साधुकर्मा
भर्ताऽयमास्त गृहकर्मणि मे सधर्मा ।
भार्या प्रिया प्रणयिनोऽहमभूवमस्य
गाम्भीर्यधैर्यबलवीर्यसमन्वितस्य ॥ ६५ ॥

६५. उसकी पत्नी ने उत्तर दिया, भगवन् ! सुनिये । गृहकार्यों के सम्पादन में सहयोगी, सत्कर्म-प्रवण, यह पुरुष मेरा पति था । गम्भीरता, धैर्य; बल एवं पराक्रम से समन्वित प्रणयी पति की मैं प्रिया पत्नी थी ।

स प्राह भर्तृ रहिता न समुल्लसन्ति
पत्न्यो मृते प्रियतमे विधवा भवन्ति ।
दुर्वृं त्तदैवहतकेन कृते विघाते
कस्मान्न रोदिषि दिवं दयिते प्रयाते ॥ ६६ ॥

६६. इन्द्र ने कहा, पति के बिना स्त्रियों की शोभा (सामाजिक सम्मान) नहीं होती। प्रियतम पति के मरने पर स्त्रियाँ विधवा हो जाती हैं। दुष्ट विधाता ने तुम पर क्रूर प्रहार किया है। पति के दिवंगत होने पर भी तुम क्यों नहीं रोती हो ?

सा प्राह नैतदुचितं भवताऽभ्यधायि
पत्यौ मृते प्ररुदितं विधिना व्यधायि।
बालो यथेन्दुमनवाप्य मुधा प्ररुद्याद्
व्यर्थं मृते विलपितं च तथैव विद्यात् ।। ६७ ।।

६७. उसने उत्तर दिया--आपने यह युक्तियुक्त बात नहीं कही कि पति के मरने पर विधाता ने रुदन का विधान किया है। जिस प्रकार शिशु चन्द्र को न पाकर व्यर्थ ही रोता है, इसी प्रकार किसी की मृत्यु पर विलाप करना भी व्यर्थ ही समझना चाहिए।

पूज्यः स मे प्रियतमश्च पतिः सदासीत्
सत्यं मयि प्रणयवान् सुचिरं व्यलासीत्।
दग्धोऽग्निना भवति देहृत एष किञ्चिज्
जानाति नेष्टजनरोरुदितं कथञ्चित् ।। ६८ ।।

६८. यह पुरुष मेरा पति, प्रियतम तथा सर्वदा पूजनीय था। यह सत्य है कि मेरे प्रति प्रणयवान् पति ने चिरकाल तक [मेरे साथ] विलास सुख भोगे, किन्तु मृत्यु के पश्चात् प्राणी अग्निदाह को प्राप्त कर इष्टजनों के रुदन को सर्वथा नहीं जानता।

शोचाम्यतो न खलु, रोदिमि नैव चाहं
स्वस्था स्थिताऽस्म्यनुभवामि न दाहदुःखम्।
याद‍ृङ् मृतो व्यधित कर्म, गतो गतिं तां
कुर्यां तदर्थमहमत्र कथं नु चिन्ताम् ।। ६९ ।।

६९. इस कारण मैं शोक नहीं करती और न ही रोती हूँ। प्रकृतिस्थ रह कर मैं अग्निदाह के कष्ट का अनुभव नहीं करती हूँ। मृतक ने जिस प्रकार के कर्म किये थे, उनके अनुसार उसे वैसी गति प्राप्त हुई है। इस के लिये मैं क्यों चिन्ता करूँ ?

दासीमनन्तरमुवाच स साधुशिष्टां
निष्ठां गतां द्विजवरस्य गृहे विशिष्टाम्।
भद्रे ! निवेदय मृतस्तव कोऽयमासीत्
क्षिप्रं नवे वयसि यः स्वतनूमहासीत् ।। ७० ।।

७०. तत्पश्चात् उस इन्द्र ने सुसभ्य एवं विशेष गुणों से युक्त दासी से—

जो द्विजश्रेष्ठ के घर में निष्ठापूर्वक कार्य करती थी—कहा, भद्रे ! कहो, मृतक पुरुष तुम्हारा कौन था, जिस ने इस नवीन आयु में ही शीघ्र अपने शरीर का त्याग कर दिया।

दास्या निवेदितमयं भगवन् मदीयः
सेव्यो महामतिरभूदभिनन्दनीयः ।
धीरो युवा समुचितार्थनिवेदिकायां
नित्यं दयां स्म कुरुते मयि सेविकायाम् ॥ ७१ ॥

७१. दासी ने निवेदन किया, भगवन् ! यह महाबुद्धिमान्, अभिनन्दनीय, धैर्यवान् तथा तरुण पुरुष मेरा स्वामी था, जिसकी मैं सेवा करती थी। मेरे उचित प्रार्थना करने पर यह सदा मुझ सेविका पर दया दिखाने वाला था।

पर्यन्वयुङ्क्त स पुनः परिचारिकां तां
जिज्ञासुरार्यचरितां हृदयेन शान्ताम् ।
कार्ये कदापि विगुणेऽनवधानजन्ये
त्वां बह्वताडयदयं बहुधेति मन्ये ॥ ७२ ॥

७२. परिचारिका का चरित्र श्रेष्ठ है एवं हृदय में शान्ति है या नहीं, यह जानने की इच्छा से इन्द्र ने पुनः उससे पूछा—असावधानी के कारण कभी काम बिगड़ जाने पर तुम्हें यह पुरुष अनेक प्रकार से बहुत पीटता होगा—ऐसा मेरा विचार है।

हेतोरतः किमपि न त्वमिह ब्रवीषि
खिन्नाऽथवा प्ररुदिता न च बोभवीषि ।
जानासि यो ह्युदपिपीडदनर्थकारी
स्थाने मृतः स करुणारहितोऽधिकारी ॥ ७३ ॥

७३. इसी कारण तुम कुछ नहीं बोलती हो। न तो तुम खिन्न दिखाई देती हो और न रोती हो। तुम्हें ज्ञात है कि तुमको दण्ड देने वाला अनर्थ कर्म करने वाला, करुणाविहीन (कठोर) स्वामी मृत्यु को प्राप्त हो गया है। यह [तुम्हारे लिये] अच्छा ही हुआ।

दास्यब्रवीत् भगवता न कदाऽपि वाच्यं
मत्स्वामिनं प्रति मृषोद्यमिदं हि वाच्यम् ।
यो मामपुष्यदखिले दुरितेऽप्यरोषं
पश्यामि तस्य कृतिनः कथमत्र दोषम् ॥ ७४ ॥

७४. दासी ने प्रत्युत्तर में कहा, आप को मेरे स्वामी के प्रति मिथ्या वचन कभी नहीं कहने चाहिये। जिसने मेरे दोषों (त्रुटियों) पर भी बिना क्रोध किये मेरा पोषण किया, मैं उस पुण्यात्मा का कोई दोष कैसे देखूं ?

मैत्रीदयासरलतास्थिरतातितिक्षा-
शान्त्यादिसद्गुणयुताऽभवदस्य शिक्षा ।
नासौ मुधाऽक्रुधदनार्य इवात्र लोके
साधुस्वभावमिममार्यमहं व्यलोके ॥ ७५ ॥

७५. मेरे स्वामी की शिक्षा मैत्री, दया, सरलता, संयम, क्षमाशीलता, शांति आदि सद्गुणों से पूर्ण थी । संसार में अनार्य पुरुष की भांति उस ने कभी व्यर्थ क्रोध नहीं किया था । मैं ने इन्हें सद्गुणों से पूर्ण, साधुस्वभाव पुरुष के रूप में देखा ।

कस्मान्न रोदिषि मृतेऽपि तदेति पृष्टा
सा प्रत्युवाच रमणीयगुणा प्रहृष्टा ।
किं रोदनेन पुनरेष्यति सोऽत्र गेहे
यस्याभवन्न वशितोपरतस्य देहे ॥ ७६ ॥

७६. इन्द्र ने तब पूछा, फिर ऐसे सज्जन पुरुष के मरण पर तुम रोती क्यों नहीं हो ? सद्गुणों से शोभित, प्रसन्न दासी ने उत्तर दिया, क्या वह मरने पर मेरे रुदन से इस घर में लौट आवेगा, जिसका अपने शरीर पर स्वत्व नहीं था ।

सङ्घट्यते जलघटो न यथार्य ! भग्नः
कश्चेतनो भवति तेन च दुःखमग्नः ।
एवं मृतं जनमुदीक्ष्य कदापि कश्चित्
खेदं मुधा न वहतीह वशी विपश्चित् ॥ ७७ ॥

७७. हे आर्य ! टूटा हुआ जलघट जुड़ता नहीं है । कौन बुद्धिमान् व्यक्ति उसके टूटने पर दुःख से अभिभूत होता है ? इसी प्रकार मृतक मनुष्यों को देख कर कभी कोई इन्द्रियसंयमी, विवेकी पुरुष व्यर्थ ही खिन्न नहीं होता ।

यातो दिवं विधिवशात् स तु देहभिन्नः
शोच्यो जनो भवति बन्धुवियोगखिन्नः ।
दग्धोऽग्निना भवति देहगत एष किञ्चिज्
जानाति नेष्टजनरोरुदितं कथञ्चित् ॥ ७८ ॥

७८. यह तो भाग्यवश देह के नष्ट हो जाने से दिवंगत हुआ है, किन्तु बन्धु के वियोग से दुःखी होने वाला मनुष्य तो शोचनीय ही है । मृतक प्राणी अग्नि में दग्ध हो जाता है, अतः उसे इष्ट जनों के रुदन, विलाप आदि का कुछ भी ज्ञान नहीं होता ।

शोचाम्यतो न खलु, रोदिमि नैव चाहं
स्वस्था स्थिताऽस्म्यनुभवामि न दाहदुःखम् ।

याहृङ् मृतो व्यधित कर्म, गतो गतिं तां
कुर्यां तदर्थमहमत्र कथं नु चिन्ताम् ॥ ७९ ॥

७९. इस कारण मैं शोक नहीं करती और न ही रोती हूँ। प्रकृतिस्थ रह कर मैं अग्निदाह के कष्ट का अनुभव नहीं करती हूँ। मृतक ने जिस प्रकार के कर्म किये थे, उनके अनुसार उसे वैसी गति प्राप्त हुई है। इसके लिये मैं क्यों चिन्ता करूँ ?

आचम्य वाचमुचितां स सतां प्रणम्यः
प्रीतिं परामुपगतो विबुधोपगम्यः।
तृप्तः सगद्गदमथ न्यगदत् समस्तान्
पञ्चापि पञ्चविषयोपरतान् प्रशस्तान् ॥ ८० ॥

८०. सज्जनों द्वारा वन्दनीय, देवेश इन्द्र इस सुन्दर वाणी को सुन कर परम प्रसन्न हुए। उन्होंने सन्तुष्ट होकर इन्द्रियों के पांचों विषयों से पराङ्मुख, प्रशंसनीय गुणों वाले उन पांचों को गद्गदस्वर में इस प्रकार कहा :

इष्टं परीक्षितमिदं विहितं मया वः
सम्प्रैक्षि रागरहितो विमलश्च भावः।
आशीरियं मम, सदैव समुल्लसन्तः
सर्वे भवन्तु सुखिनः कृतिनो भवन्तः ॥ ८१ ॥

८१. मैंने [आप के शील की] परीक्षा करनी चाही थी। इस परीक्षा में मैंने आप सब का निर्मल एवं रागविहीन भाव पाया। मेरा यह आशीर्वाद है कि पुण्यशील आप सब सदा प्रसन्न एवं सुखी रहें।

यूयं ह्युदात्तमतयो गृहिणोऽपि धन्या
नैतादृशाः सुकृतिनो विलसन्ति वन्याः।
सिद्धिं लभध्वमभितो विनिवृत्तरागाः
सर्वश्चकास्तु भवतां मुदितो निरागाः ॥ ८२ ॥

८२. आप सब गृहस्थ होते हुए भी उदार विचारों वाले हैं, आप धन्य हैं। इस प्रकार के शीलवान्, सम्माननीय, पुण्याशय लोग कहाँ हैं ? सब ओर से रागविमुख होकर आप लोग सिद्धि प्राप्त करें। आप में से हरेक पापरहित (अपराध रहित होकर) भाव से शोभा पाये।

युष्माभिरात्तविनयैरुपशान्तचित्तैः
सर्वैरभावि मरणस्मरणेऽप्रमत्तैः।
नेष्टे मृते निजजनेऽपि कृता प्रसक्तिः
प्रीत्याऽऽहृता च विषयेष्वनिशं विरक्तिः ॥ ८३ ॥

८३. आप सब विनयशील, शान्तचित्त, मृत्यु के स्मरण में प्रमादशून्य बने रहें। अपने प्रियजन का प्राणान्त होने पर भी आप ने ममता का प्रदर्शन नहीं किया और प्रीतिपूर्वक संसार के विषय-भोगों के प्रति विरक्तिभाव को स्वीकार किया।

धन्या भवन्ति भुवनेषु भवादृशा ये
नैवासजन्ति वितते प्रकृतेर्निकाये।
प्रीतोऽस्म्यतोऽत्र भवतोऽभ्युदयं प्रकुर्वे
शृण्वन्तु मे प्रियतरं वचनं च सर्वे ।। ८४ ।।

८४. आप जैसे लोग संसार में धन्य हैं जो प्रकृति के विशाल लीलाप्रांगण में आसक्त नहीं होते। मैं इससे अत्यन्त प्रसन्न हूँ और आप का अभ्युदय (आत्यन्तिक हित) करना चाहता हूँ। आप मेरा यह प्रियतर वचन सुनें।

ज्ञेयं भवद्भिरहमस्मि सुराधिराजः
क्लिश्ये विलोक्य भवतः कृषिकार्यभाजः।
नातः परं श्रमकरं कृषिकर्म कार्यं
सर्वैरपीदमुदितं हृदयेऽवधार्यम् ।। ८५ ।।

८५. आप सब को विदित हो कि मैं देवाधिपति इन्द्र हूँ। आपको कृषि का कठिनतर कार्य करते देख कर मुझे क्लेश होता है। इस के वाद आप को कष्टदायी कृषि-कर्म नहीं करना होगा। मेरे इस वचन को आप सव हृदय में धारण कर लें (सत्य समझें)।

रत्नानि सप्त भवतां भवने ददामि
सौख्यं समृद्धिमतुलाञ्च सहादधामि।
सम्भुज्यतां विपुलसम्पदियं निकामं
संस्मर्यतां च परतत्त्वमिहाविरामम् ।। ८६ ।।

८६. आप के भवन में मैं सात रत्न स्थापित करता हूँ, साथ ही अपार सुख और समृद्धि की प्रतिष्ठा करता हूँ। इस विपुल सम्पत्ति का यथेष्ट उपभोग करते हुए आप परम तत्त्व का सदैव स्मरण करते रहिये।

कृष्या कृतं, जगति यावदियं धरित्री
तावद् विभूतिरचला भवने भवित्री।
दानं व्रतं सततमाचरतैकचित्ताः
सानन्दमात्मनिरता भवताऽप्रमत्ताः ।। ८७ ।।

८७. कृषि कर्म का त्याग कीजिये। संसार में जब तक वसुधा विद्यमान है, आपके भवन में सम्पदा अचल वनी रहेगी। परस्पर सौमनस्यपूर्वक आप लोग

दान, व्रत आदि का अनुष्ठान करते रहें तथा प्रमादशून्य होकर आनन्दपूर्वक आत्मलीन रहें।

प्राप्तोत्तमप्रकृतिचारुविशिष्टदेवाः
सत्यव्रता विहितवृद्धजनोपसेवाः ।
विद्यागमं स्थिरसुखप्रदमाश्रयध्वं
मृत्योः परं तदमृतं च पदं लभध्वम् ।। ८८ ।।

८८. उत्तम स्वभाव वाले, सुन्दर एवं विशिष्ट गुणों से विभूषित विद्वानों का [साहचर्य] प्राप्त करते हुए, सत्यप्रतिज्ञ आप लोग वृद्धजनों की सेवा में निरत रह कर स्थिर सुख प्रदान करने वाली विद्या प्राप्त करें। मृत्यु के अनन्तर आप को अमृत पद (ब्रह्म) का सायुज्य प्राप्त हो।

इत्युक्त्वा मधुरां गिरं सुरपतिस्तेषां समेषां गुणै-
राकृष्टो बिभरांबभूव भवनं रत्नैः शुभैः सप्तभिः ।
तेऽप्यापुर्मुदमुत्तमां प्रवितता सम्प्राप्य तां सम्पदं
क्षिप्रं विप्रपुरःसराः सविनयं सर्वे प्रणेमुश्च तम् ।। ८६ ।।

८६. इस प्रकार के मधुर वचन कह कर इन्द्र ने उन सभी के गुणों से आकृष्ट होकर भवन को सातों शुभ रत्नों से पूर्ण कर दिया। वे सब इस विशाल सम्पत्ति को प्राप्त कर प्रसन्न हुए। द्विजश्रेष्ठ बोधिसत्त्व के साथ सभी ने तत्क्षण विनयपूर्वक इन्द्र का अभिवादन किया।

शक्रश्चाप्युपदिश्य वश्यकरणान् स्वस्थान् गृहस्थानमून्
स्वीयं धाम जगाम कामरहितानप्याप्तकामान् पुनः ।
पुत्रादावपि यत्र नास्त्यतिरतिर्वैराग्यसौभाग्यवान्
प्रेयान् सोऽयमनुत्तमो विजयतां श्रेयान् गृहस्थाश्रमः ।।६०।।

६०. इन्द्रियों को वश में रखने वाले, प्रकृतिस्थ, कामनारहित होने पर भी आप्तकाम उन सद्गृहस्थों को उपदेश दे कर इन्द्र अपने धाम को लौट गये। जहाँ पुत्र आदि के प्रति भी अत्यन्त आसक्ति नहीं है, इस प्रकार के वैराग्य के सौभाग्य से पूर्ण, अतीव प्रिय, उत्तम एवं श्रेयस्कर गृहस्थाश्रम धन्य है।

द्विजो गृहस्थोऽपि यथा प्रबुद्धो बभौ स्वसम्बन्धिषु वीतरागः ।
तथाऽस्तु सर्वः कथयानया श्रीबुद्धः स्वयं बोधयतीह तत्त्वम् ।। ६१ ।।

६१. विवेकशील ब्राह्मण गृहस्थ धर्म का पालन करता हुआ भी अपने सम्बन्धियों के प्रति राग से विमुख रह कर शोभित हुआ। इसी प्रकार सभी लोग [रागादि से विमुख होकर] शोभा पावें। इस कथा के माध्यम से श्रीबुद्ध [बोधि-सत्त्व] ने स्वयं इस तत्त्व का उपदेश किया है।

अनित्यमेतत् क्षणदृष्टनष्टं कष्टं जगत् सारविहीनमस्ति ।
ज्ञात्वा तदेकं स्थिरमात्मतत्त्वं भवन्तु सर्वेऽप्यमृताः शमित्योम् ॥ ६२ ॥

६२. यह जगत् अनित्य, क्षण भर दिखाई दे कर नष्ट होने वाला, कष्टप्रद तथा सारहीन है। [अतः इसके प्रति आसक्ति त्याग कर] उस एक स्थिर आत्म-तत्त्व की अनुभूति करते हुए सभी प्राणी अमरत्व को प्राप्त करें। सर्वत्र शान्ति का प्रसार हो।

त्रयोदशः सर्गः

मगधजनपदस्थे प्राक् पुरे राजगेहे
नृपतिरभवदेकः सावधानः स्वदेहे ।
विमलमतिरुदारः कीर्तिमान् यो वदान्यः
समुचितमचकासीत् पुण्यवान् सर्वमान्यः ॥ १ ॥

१. प्राचीन समय में मगध जनपद के अन्तर्गत राजगेह नामक नगर में अपने शरीर के प्रति सावधान, निर्मल-मति, उदार, कीर्तिमान्, पुण्याशय तथा प्रजा द्वारा अभिनन्दित एक राजा अपने गुणों से सुभूषित थे ।

वसतिमकृत दैवात् पत्तने तत्र बुद्धः
सकरुणहृदयः श्रीबोधिसत्त्वः प्रबुद्धः ।
दधदभिनवशोभां सङ्घनाम्ना प्रसिद्धः
प्रचुरधनसमृद्धः श्रेष्ठिमुख्यः समिद्धः ॥ २ ॥

२. सौभाग्यवश उस नगर में विवेकशील तथा करुणार्द्र हृदय वाले श्रीबोधिसत्त्व निवास करते थे । अभिनव कान्तिमान्, धनराशि के स्वामी, दीप्तिमान् श्रीबोधिसत्त्व वहाँ के प्रमुख सेठ थे और संघ नाम से प्रसिद्ध थे ।

प्रथितमजनि यस्याशीतिकोटीश्वरत्वं
मृदुलविनयवत्त्वं लोकसेवापरत्वम् ।
धनपतिरपि भूत्वा यो रराजाऽतिनम्रः
सकलजनमनांस्यावर्जयन्नास्त कम्रः ॥ ३ ॥

३. उस संघ की अस्सी करोड़ मुद्राओं की स्वामिता, मृदु विनयशीलता तथा लोकसेवातत्परता प्रसिद्ध थी । धनपति हो कर भी जो अपनी अत्यधिक विनयशीलता से शोभित थे और कमनीय [गुणों से] समस्त लोगों का मन हर लेते थे ।

सुहृदपि च तदैकस्तस्य वाराणसीं श्री-
पुरमधिवसति स्म श्रेष्ठिवर्योऽविगेयम् ।
सुचिरपरिचितो यः पीलियाख्यश्चकाशे
धनमभवदशीतिः कोटयो यत्सकाशे ॥ ४ ॥

४. उस समय उसका एक चिरपरिचित सेठ मित्र अनिन्द्य श्रीपुरी वारा-

णसी में रहता था। उस का नाम पीलिय था। उस के पास अस्सी करोड़ मुद्राएँ थीं।

उभयमभयगाढप्रीतिमत् तुल्यसम्पत्
स्वपतियुगलमेतत् सौख्यमत्यन्तमापत्।
विहितशुचिपणायं स्थानतो विप्रकृष्टं
सदपि सततमासीच् चेतसा संनिकृष्टम् ॥ ५ ॥

५. दोनों धनपतियों को एक दूसरे से कोई भय न था। उनमें प्रगाढ़ प्रेम था, सम्पत्ति समान थी, दोनों अत्यन्त सुखी थे, व्यवहार में पवित्रता थी और स्थान की दूरी होने पर भी वे मन से सदा समीप थे।

व्यलसदुदितवाराणस्यधीशोऽपि भूपः
सुकृतकृदनुरूपः कोऽपि धर्मस्वरूपः।
अवृधदनिशमिष्टं साधु दानादि पुण्यं
न्यवृतदखिलकष्टं यं समाश्रित्य गुण्यम् ॥ ६ ॥

६. वाराणसी के पूर्वोक्त राजा भी पुण्यकर्मा, अनुकूल आचरण करने वाले और धर्मपरायण थे। उनके दान आदि पुण्य कार्य सदा उनके अभीष्ट मनोरथ सम्यक् पूर्ण करते थे और उस गुणी का आश्रय लेकर सम्पूर्ण कष्ट दूर हो जाता था।

अथ गतवति काले दैवयोगात् कदाचिद्
विपदमुपगतोऽभूत् पीलियोऽसौ कुतश्चित्।
प्रियमनशदशेषं तस्य सम्पत्तिजातं
मुखकमलमपि द्राङ् म्लानतां सम्प्रयातम् ॥ ७ ॥

७. इस प्रकार समय वीतने पर एक बार दैवयोग से पीलिय किसी विपत्ति में फँस गया। उसकी सम्पूर्ण प्रिय सम्पदा विनष्ट हो गई और मुखकमल तत्क्षण कांतिहीन हो गया।

रजनिरजनि कष्टा द्रव्यनाशादनिष्टा
दिवसमसुखमिष्टा सा प्रतिष्ठाऽपि नष्टा।
हतविधिघटितत्वात् सङ्कुचद्भागधेयः
प्रविततमथ तापं प्राप वाराणसेयः ॥ ८ ॥

८. धन के विनाश से रात भी अनिष्टकारिणी तथा कष्टप्रद हो गई और दिन दुःख देने वाला हो गया वह अभिनन्दनीय प्रतिष्ठा भी नष्ट हो गई। दुष्ट विधाता के विधान से वाराणसी के पीलिय का भाग्य संकुचित (क्षीण) हो गया और उसे अतिशय संताप का अनुभव हुआ।

उपनतविपदेष क्लान्तसम्भ्रान्तचित्तः
शिथिलबहुलशक्तिर्नष्टनिःशेषवित्तः ।
परिजनसमवेतोऽप्यर्थकष्टेन दीनः
पुरि न रतिमलब्ध श्रेष्ठिसौभाग्यहीनः ॥ ९ ॥

९. सम्पूर्ण विभव के नाश से विपत्ति को प्राप्त होकर उस का मन खिन्न तथा व्याकुल हो गया और शक्ति प्रायः क्षीण हो गई। इस अर्थाभाव के कष्ट से दीन बने हुए सेठ को अपनी प्रतिष्ठा खो कर परिवार से घिरे रहने पर भी नगर में अब प्रसन्नता नहीं होती थी।

भृशमिदमचिचिन्तद् भाग्यवान् साधुचर्यः
प्रभवति मम मित्रं सङ्घनामार्यवर्यः ।
अवगतमदवस्थः श्रेष्ठिवंशावतंसः
किमपि लघु करिष्यत्यत्र साहायकं सः ॥ १० ॥

१०. उस ने बार बार विचार किया कि भाग्यवान्, उत्तम आचार से युक्त तथा श्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न मेरा सङ्घ नामक मित्र [धन आदि से] सामर्थ्यवान् है। श्रेष्ठिकुल में भूषण स्वरूप वह मेरी दुरवस्था को जानकर शीघ्र कुछ सहायता करेगा।

इह विपदि मयाऽतस्तत्समीपे प्रयेयं
नियतमुदितकीर्त्या तेन वित्तं प्रदेयम् ।
विषमपतितमिष्टं प्रेक्ष्य सत्प्रीतिमन्तः
स्वजनमुपचरन्तः प्रोन्नयन्त्येव सन्तः ॥ ११ ॥

११. इस विपत्ति में मुझे उस के पास जाना चाहिए। उदारकीर्ति सङ्घ अवश्य मुझे धन प्रदान करेगा। अपने प्रियजन को संकट में पड़ा देख कर सत्प्रेमपरवश सज्जन लोग उस की सेवा करते हैं और उसे ऊपर उठाते हैं।

विलसति स धनाढ्यः शुद्धवाक्चित्तकायः
सपदि च भविताऽस्मिन् सङ्कटे मे सहायः ।
प्रणयवचनबद्धास्तादृशा लब्धरायः
प्रियमिह न निराशं कुर्वते स्वं सखायः ॥ १२ ॥

१२. धनिकवर सङ्घ वाणी, मन तथा शरीर से पवित्र है। वह मेरे इस संकट में तुरन्त सहायता देगा। प्रेमवचन में बंधे हुए उस जैसे धनी मित्र अपने प्रियजन को निराश नहीं करते।

इति स मनसिकृत्यैवाऽऽशु वाराणसीतः
सदयित उपयातो राजगेहं प्रतीतः ।
समगत पुरि तत्र श्रेष्ठिना सङ्घनाम्ना
परिचितचरमित्रेणोन्नतैश्वर्यधाम्ना ॥ १३ ॥

१३. ऐसा मन में विचार कर प्रसन्नमनाः वह तत्क्षण पत्नी समेत वाराणसी से राजगेह को चल पड़ा। उस नगर में पहुँच कर अपने चिर-परिचित मित्र अतुल ऐश्वर्य के धाम सेठ सङ्घ से मिला।

स्वसुहृदमवलोक्य श्रेष्ठिनं तं सदारं
सदकृत बहु सङ्घोऽप्येतमारादुदारम् ।
पुलकिततनुरुच्चैः संपरिष्वज्य कण्ठे
प्रमुदितमनसोपावीविशच्चोपकण्ठे ॥ १४ ॥

१४. अपने सेठ मित्र को दूर से पत्नी सहित आये हुए देख कर सङ्घ ने बड़ी उदारतापूर्वक उसका सत्कार किया। पुलकितशरीर हो कर उस का प्रगाढ़ आलिंगन किया और प्रमुदित मन से अपने निकट बिठाया।

प्रियमधुरवचोभिः प्रीणयन्नन्तरङ्गं
प्रकृतमथ कथायाः प्राववर्तत प्रसङ्गम् ।
विशदमिदमगादीदस्तु ते स्वागतं भोः
फलतु हृदभिलाषोऽनुग्रहात् तस्य शम्भोः ॥ १५ ॥

१५. प्रिय एवं मधुर वचनों से [अपने मित्र के] मन को आनन्दित करते हुए सङ्घ ने [आगमन विषयक] प्रकृत प्रसंग आरम्भ किया और उदार शब्दों में कहा, मित्र ! तुम्हारा स्वागत हो, भगवान् शिव की कृपा से तुम्हारी मनः-कामना सफल हो।

कथय विगतशङ्कस्त्वं सखे ! किंनिमित्तं
मम सविधमुपागाः कीदृशं तेऽस्ति चित्तम् ।
किमिति च भवतेदं गेहमभ्यागतेन
मृदुपदकमलाभ्यां भूषितं सम्मतेन ॥ १६ ॥

१६. वयस्य ! निःशंक होकर बताओ, किस प्रयोजन से तुम यहाँ मेरे पास आए हो, तुम्हारा मन प्रसन्न तो है ? किस अभिप्राय से सम्माननीय आप ने यहाँ आकर मेरे घर को कोमल चरणकमलों से अलङ्कृत किया है ?

श्रुतसखिवचनः श्रीपीलियस्त्वाबभाषे
विपदमधिगतोऽहं ह्यागमं त्वत्सकाशे ।
सकलमपि विनष्टं द्रव्यजातं मदीयं
शरणमगतिकत्वात्त्वां प्रपन्नः सखेऽहम् ॥ १७ ॥

१७. मित्र के वचन सुनकर पीलिय ने कहा, मैं विपत्ति में पड़ गया हूं, अतः तुम्हारे पास आया हूँ। मेरा सम्पूर्ण विभव नष्ट हो गया है। मित्र ! अन्य कोई उपाय न होने से मैं तुम्हारी शरण में आया हूँ।

अनभिमतमकस्मादागता सा विपत्ति-
बलवदहमभूवं ध्वस्तचित्तप्रसत्तिः ।
अतिशयदयनीयां दुर्दशां मे विचार्य
त्वमुचितमपि कुर्या द्रव्यसाहाय्यमार्य ! ॥ १८ ॥

१८. हे आर्य ! मुझ पर यह अवाञ्छनीय विपत्ति अकस्मात् आ पड़ी है जिसने मेरे मन की प्रसन्नता को बलपूर्वक विनष्ट कर दिया है। मेरी अत्यन्त दयनीय दुर्दशा देख कर द्रव्य से मेरी उचित सहायता करो।

स्फुटमकपटमेतत् पीलियोक्तं निशम्य
त्वरितमकथि सङ्घेनाऽपि मित्रं प्रणम्य ।
अयि सहृदय बन्धो ! सर्वथा मा स्म भैषीः
प्रियसुहृदहमस्मि प्रीतिकृत् ते हितैषी ॥ १९ ॥

१९. पीलिय के ये स्पष्ट तथा निश्छल वचन सुन कर संघ ने भी मित्र को प्रणाम कर तत्क्षण कहा—मेरे सहृदय बन्धु ! तुम सर्वथा निर्भय रहो। मैं तुम्हें प्रसन्नता देने वाला तुम्हारा शुभचिन्तक प्रिय मित्र हूँ।

गृहमिदमवगच्छ स्वस्थचित्तः स्वकीयं
रुचिकरमतिरम्यं मानुभूरन्यदीयम् ।
सुभगमहमवैमि प्रेयसो दर्शनं ते
जगति विहितपुण्या ह्येव मित्रं लभन्ते ॥ २० ॥

२०. तुम स्वस्थचित्त होकर इस सुरुचिपूर्ण तथा अत्यन्त सुन्दर घर को अपना ही घर समझो। इसे पराया घर मत समझो। तुम मेरे प्रिय मित्र हो। तुम्हारे दर्शन को मैं सौभाग्यप्रद मानता हूँ। संसार में पुण्यवान् लोगों को ही मित्र की प्राप्ति होती है।

वचनमिदमुदीर्य प्रीतिमान् सत्यसन्धः
कृतसुहृदनुकम्पः स्फीतसौहार्दबन्धः ।
स्वयमनुपधि चत्वारिंशतं वित्तकोटी-
र्व्यतरदयममुष्मै सद्य आपन्निमित्तम् ॥ २१ ॥

२१. ये वचन कह कर प्रीतियुक्त, सत्य-प्रतिज्ञ तथा प्रगाढ़ मैत्री के बन्धन से बंधे मित्र पर अनुकम्पा कर उसकी विपत्ति के निवारणार्थ निष्कपट भाव से चालीस करोड़ मुद्रायें स्वयं उसे प्रदान कर दीं।

न खलु धनमशीतेरर्धमेवाऽऽपि तेन
स्वमितरदपि सर्वं साम्यदाय्युन्नतेन ।
वसनपशुहिरण्याद्यर्थमर्धं विधाय
तदभिमतमपेक्ष्याऽतोषि चासौ प्रदाय ॥ २२ ॥

२२. उसने केवल अस्सी करोड़ का आधा भाग ही उसे अर्पित नहीं किया, प्रत्युत अन्य सारी सम्पत्ति का भी आधा भाग उदारतापूर्वक दे दिया। वस्त्र, पशु, स्वर्ण आदि के दो समान भाग किये। उसके हित को ध्यान में रख कर एक [आधा] भाग उसे देकर सन्तुष्ट किया।

प्रियतरमपि दत्त्वा पीलियाय स्ववित्तं
समधिकविभवस्याऽखित्त नैवास्य चित्तम्।
हृदि विकसदमन्दानन्दसन्दोह आसीत्
परिगतसुहृदिच्छापूर्तिरिष्टाऽचकासीत्॥ २३॥

२३. धन-सामर्थ्य से युक्त संघ का मन पीलिय को अपना प्यारा धन देकर दुःखी नहीं हुआ, प्रत्युत उस के मन में परम उल्लास ही हुआ। शरणागत मित्र की अभीष्ट इच्छापूर्ति की भावना ही प्रमुख रूप से शोभित हुई।

उपहृतनिजभृत्यस्त्यक्तकार्पण्यदोषः
सुखिनममुमकार्षीदेष उन्मुक्तकोषः।
गुणिगणगणनीयः शान्त एकान्तसभ्यः
स्फुरदुपकृतिरिभ्यस्तादृशः क्वेह लभ्यः॥ २४॥

२४. उसने अपने सेवक भी उसे उपहार में दिये। इस प्रकार कृपणता के दोष से मुक्त संघ ने उन्मुक्तकोष होकर उसे सुखी बना दिया। गुणियों में अग्रणी, शान्तचित्त, परमसभ्य एवं उपकार-परायण ऐसे धनाढ्य लोग कहाँ मिलते हैं?

द्रविणमपि गृहीत्वा पीलियस्तत् समस्तं
निजभवनमयासीत् प्राप्तसम्पत्प्रशस्तम्।
विविधमभिदधत्तं श्रेष्ठिनं साधुवादं
शमितहृदवसादं लम्भितात्मप्रसादम्॥ २५॥

२५. वह समस्त धन लेकर पीलिय सम्पत्ति लाभ से रमणीय अपने भवन को गया और [जाते समय] उसने सेठ सङ्घ को अनेक प्रकार से साधुवाद दिया जिसने उसके हृदय का विषाद शान्त किया था और हार्दिक प्रसन्नता प्रदान की थी।

नियतिकृतनियोगादेकदा सङ्घनामा-
ऽप्यभवदतिविपन्नः क्षीणसम्पन्निधानः।
स हि धनिकचरः सन्नर्थदारिद्र्यमाप्तः
प्रबलविधिविधानं को नरो रोद्धुमीशः॥ २६॥

२६. नियति के विधान से एक बार संघ की भी सम्पत्ति और कोष क्षीण हो गये और वह अत्यन्त संकट में पड़ गया। पहले वह धनी था पर अब धना-

भाव की दशा को प्राप्त हो गया था। विधि के प्रबल विधान का प्रतिरोध कौन कर सकता है ?

विपुलविभवराशेराशु नाशाद् दरिद्रः
समजनि स तदानीं चिन्तया वीतनिद्रः।
न च परमुपकर्तुं वित्तहीनः शशाक
बलवति सति दैवे पूरुषः को वराकः ।। २७ ।।

२७. विपुल धनराशि के शीघ्र विनाश से वह अब दरिद्र हो गया था। चिन्ता के कारण उसकी नींद भी जाती रही। धनहीन अवस्था में वह दूसरे का उपकार [जो उसने सम्पन्न दशा में किया था] कैसे करता ? किन्तु भावी के प्रबल होने पर बेचारे पुरुष का क्या वश चलता है।

स्मृतधनवदशेषस्वीयसन्मित्रसङ्घः
सपदि विपदि मग्नश्चिन्तयामास सङ्घः।
किमिति न धनवन्तं प्राप्नुयां पीलियं तं
शरणमशरणोऽहं श्रेष्ठिनं प्रीतिमन्तम् ।। २८ ।।

२८. सहसा इस विपत्ति में पड़ जाने पर संघ ने अपने सभी धनी मित्रों का स्मरण किया। उसने सोचा, मैं अब असहाय अवस्था में अपने स्नेही तथा धनाढ्य मित्र सेठ पीलिय की शरण में क्यों न जाऊँ ?

धनमुपकृतपूर्वो मे प्रदास्यत्यवश्यं
परिचरणसमर्थश्चित्तमुल्लास्य वश्यम्।
मदुपहृतपदार्थाः कोटिशस्तस्य सन्ति
न च कृतमुपकारं बन्धवो विस्मरन्ति ।। २९ ।।

२९. मैंने पहले जिसका उपकार किया है, ऐसा पीलिय नामक मेरा मित्र अपने संयत चित्त को उल्लासित कर मुझे अवश्य धन देगा। वह मेरी सेवा (सहायता) में समर्थ है। उसके पास मेरे दिये हुए करोड़ों पदार्थ हैं। बन्धुजन पूर्व किये हुए उपकार को भूलते नहीं हैं।

उचितमिति विचार्य द्राक् स गन्तुं प्रवृत्तः
सदनमधनवत्त्वात् सख्युरत्युच्चवृत्तः।
अनधिगतसहायो याचकत्वं प्रपन्नः
स्मरति सुहृदमर्थी ह्यर्थवन्तं विपन्नः ।। ३० ।।

३०. निर्धन अवस्था में होने के कारण इस विचार को उचित मान कर अत्यन्त उदात्त शीलचारित्र वाले संघ ने शीघ्र अपने मित्र के घर जाने की तैयारी की, क्योंकि विपत्ति में ग्रस्त पुरुष अन्य सहायक न मिलने पर याचक बन कर अपने धनी मित्र का स्मरण करता है।

अभवदमितवित्तं यः परस्मै प्रदाता
भवति स परकीयं गेहमद्य प्रयाता ।
बत विधिमहिमाऽयं नूनमास्ते दुरापः
प्रतिपदमुपकर्तैवोपकार्यत्वमाप ॥ ३१ ॥

३१. जिसने कभी दूसरे को अपरिमित धन दिया था आज वह [स्वयं सहायता की आशा से] दूसरे के घर जा रहा है। निश्चय ही विधाता की महिमा दुर्ज्ञेय है। जो प्रत्येक पद पर [लोगों का] उपकार करने वाला था वह अब स्वयं उपकार के योग्य बन गया था।

कृतमतिरथ पद्भ्यां यान् स्वगेहात् सभार्यः
पदमनुपदमापत् पीलियस्याञ्जसार्यः ।
अनुचितमिव मेने स्वां प्रियां लब्धमानां
नगरमभिपतन्तीं वीक्ष्य सोऽप्राप्तयानाम् ॥ ३२ ॥

३२. [जाने का] निश्चय कर आर्य संघ पत्नी सहित अपने घर से पैंदल चल कर शीघ्र पीलिय के नगर में जा पहुँचा। मान प्रतिष्ठा प्राप्त करने वाली अपनी पत्नी को बिना किसी सवारी के [पैंदल हीं] नगर में जाती देखना उसे अनुचित सा लगा।

अत उदितविवेकः प्रेयसीं धर्मशाले
क्वचिदपि स निवेश्याश्वास्य चेष्टे विशाले ।
विहितवसतिमाराद्व वेश्मनि प्रोच्चशाले
सविनयमुपतस्थे मित्रमह्नाय काले ॥ ३३ ॥

३३. ऐसा उचित विचार कर उसने किसी धर्मशाला में प्रिया पत्नी को ठहरा कर उसे सान्त्वना दी और समीप में ही सुन्दर विशाल तथा ऊँची मंजिल से शोभित भवन में निवास करने वाले मित्र के पास समय पर तुरन्त विनय-पूर्वक उपस्थित हो गया।

परमिदमतिचित्रं वीक्ष्य लब्धोपकारः
किमपि न सुहृदस्य स्वागतं व्याजहार ।
न च समुदमुदस्थान्नैव वाऽभ्युज्जगाम
गलितविभवमेनं प्राप्तमप्यात्मधाम ॥ ३४ ॥

३४. परन्तु अपने घर तक चल कर आये हुए धनाभाव से कर्शित अपने मित्र की यह विचित्र दशा देख कर पहले से उपकृत पीलिय ने उसका कुछ भी स्वागत नहीं किया। न तो वह प्रमुदित हो कर अपने स्थान से उठा और न ही उसके सत्कार के लिये आगे बढ़ा।

अहह ! विधिविपाको दृश्यतां यद्गुणज्ञः
स्थिरसुहृदपि जातः पीलियः सोऽकृतज्ञः ।
उपकृतिमपि पूर्वां तत्कृतामेष नूनं
प्रकटितशठभावो विस्मृतोऽभूदनूनम् ।। ३५ ।।

३५. हाय ! भाग्य की विडम्बना देखो—गुणज्ञ तथा प्रगाढ़ मित्र पीलिय भी जिसके कारण कृतघ्न बन गया । अपनी दुष्टता का प्रदर्शन कर वह उस के पूर्वकृत उपकार को भी सर्वथा भूल गया ।

अनवहितमपृच्छत् स स्थितं सच्चरित्रं
किमिति मम समीपेऽत्रागतोऽसीति मित्रम् ।
अकथयदथ सङ्घस्त्वां दिदृक्षुः समागां
स्मृतिमुपदधदन्तस्ते निबद्धानुरागाम् ।। ३६ ।।

३६. उसने अपने सच्चरित्र मित्र से अवज्ञा के साथ पूछा, तुम क्यों मेरे पास आये हो ? संघ ने कहा, मैं हृदय में तुम्हारे प्रगाढ़ प्रेम की स्मृति को धारण कर तुम्हें मिलने आया हूँ ।

इह वसतिरकारि क्व त्वयेत्येति पृष्टः
पुनरवगतचित्तः प्राह सङ्घोऽप्यहृष्टः ।
अहमकृतनिवासस्त्वामुपेतः स्वदेशात्
क्वचिदपि निजभार्यां धर्मशाले निवेश्य ।। ३७ ।।

३७ 'तुम यहाँ आकर किस जगह ठहरे हो ?'—यह पूछने पर संघ ने उस के मन की बात जानते हुए अप्रसन्नता से कहा, मैं अपने देश से तुम्हारे पास आया हूँ । मेरा निवास कहीं नहीं है । अपनी पत्नी को मैंने किसी धर्मशाला में ठहराया है ।

तदभिहितमवेत्य त्यक्तसन्मित्रकार्यः
कुटिलमतिरवादीत् पीलियोऽश्रावनार्यः ।
पदमितरदुपेहि, त्वत्कृते स्थानमत्र
न भवति मम गेहे श्रूयतामङ्ग मित्र ! ।। ३८ ।।

३८. उसका वृत्तान्त जान कर सन्मित्रोचित कार्य का परित्याग करते हुए कुटिलमति, अनार्य पीलिय ने कहा, मित्र ! सुनो, किसी और स्थान पर जाओ । तुम्हारे लिये मेरे घर में कोई स्थान नहीं है ।

अभिदधदनपेक्षं कष्टमेतद्वचः स्वं
प्रणयिनमपि सङ्घं नानुजग्राह निःस्वम् ।
प्रचुरधनसमेतोऽप्येष नाज्ञास्त कृत्यं
सकपटहृदयत्वादादिशच्चाऽऽत्मभृत्यम् ।। ३९ ।।

३९. अनपेक्षित एवं कष्टदायी ये वचन कह कर उसने अपने निर्धन प्रेमी मित्र संघ पर अनुग्रह नहीं दिखाया। प्रचुर धनराशि का स्वामी होते हुए भी उसने उचित कर्तव्य नहीं पहचाना। हृदय में कपट होने के कारण उसने अपने सेवक को आदेश दिया।

अयि शृणु निकटस्थं तत् पुरो वेश्म गत्वा
लघु महदपि किञ्चिद् देयमेवेति मत्वा।
प्रवितर बुसमस्मै सम्यगालोक्य तुम्बी-
परिमितमिह दूरादागतोऽयं कुटुम्बी ॥ ४० ॥

४०. अरे सुनो, इसे थोड़ा बहुत कुछ देना है, इस लिये सामने समीपस्थित घर में जा कर सम्यक् देख-भाल कर इसे एक तुम्बी पात्र जितना भूसा दे दो। यह हमारा कुटुम्बी (सम्बन्धी) दूर से आया है।

न खलु कथयतैवं तेन किञ्चिल्ललज्जे
महति तु कृपणत्वात् पापपङ्के ममज्जे।
अघटितमघटीदं पीलियेनाऽतिमात्रं
प्रियसुहृदहितेनोपेक्षि यत् प्रीतिपात्रम् ॥ ४१ ॥

४१. इस प्रकार की अशोभनीय बात कहते हुए उसे लज्जा नहीं आई। कृपण होने के कारण वह गहरे पाप रूपी पंक में डूब गया था। इससे यह अघटित घटना घट गई कि शत्रु-सदृश पीलिय ने अपने प्रेमपात्र प्रिय मित्र की सुतरां अवहेलना की।

जडमतिरयमेतं तं कडङ्गर्यमर्यं
पशुमिव स हि मत्वा पीलियः साधुचर्यम्।
क्षणमपि न विचारं मित्रताया वितेने
कृतबृहदुपकारं चापि तं नैव मेने ॥ ४२ ॥

४२. मन्दबुद्धि पीलिय ने घर में आये हुए उस पवित्र आचार सम्पन्न वैश्य मित्र के साथ घास खाने वाले पशु के समान व्यवहार किया। उसने क्षण भर भी मित्रता का विचार न किया। अपने साथ महान् उपकार करने वाले मित्र का सम्मान भी न किया।

स हि शकटसहस्रेणाबिभः षष्टिकानां
भवनमभिनवानामह्नि तत्रागतानाम्।
धनममितमतोऽभूत् तस्य पार्श्वे प्रदेयं
परमवमतबन्धोः सर्वमेवाऽऽस्त हेयम् ॥ ४३ ॥

४३. उसने घर को उस दिन आये नये हज़ार गाड़ियों के [परिमाण के] साठी के चावलों से भरा था। इसलिये उसके पास देने योग्य अपरिमित धन

था, किन्तु अपने सन्मित्र का तिरस्कार करने वाले उस पीलिय का समस्त वैभव निन्दनीय एवं त्याज्य था।

स्वयमयमुपलभ्याऽशीतिकोट्यर्धमर्थं
त्यजति निजसहायं सङ्घमद्यासमर्थम्।
कथमिव स कृतघ्नस्तस्करः स्यात् प्रशस्यः ?
क्व च भवतु कदर्यस्तादृशो वा यशस्यः ? ॥ ४४ ॥

४४ पीलिय ने स्वयं जिससे चालीस करोड़ मुद्रा प्राप्त कीं, आज वह उसी अपने सहायक, धनसामर्थ्य से रहित संघ को छोड़ रहा है। ऐसा कृतघ्न तथा तस्कर किस प्रकार प्रशंसापात्र हो सकता है और ऐसा कृपण तथा नीच वैश्य किस प्रकार कीर्ति का भागी हो सकता है ?

उपगतवति तुम्बीपात्रमापूर्य दासे
बुसमनभिमतं तद् दातुमेतत्सकाशे।
स्थिरमतिरपि सङ्घोऽचिन्तयन्नष्टमानः
प्रकटमिदमिदानीमाददीयाऽथवा न ॥ ४५ ॥

४५. सेवक जब अरुचिकर भूसे से पूर्ण तुम्बीपात्र ले कर संघ को देने के लिये उसके पास पहुँचा तो स्थिरमति (धैर्यशाली) होने पर भी, अनादर को प्राप्त संघ ने सोचा, मैं इस 'उपहार' को प्रकट रूप में लूं या नहीं।

सुहृदिति बहु कोट्या सत्कृतोऽयं मया तु
वितरति स बुसं मे, सख्यमेतन्न जातु।
ननु कथमकृतज्ञस्यास्यमस्याऽवभातु
निरुपधिसखिभावश्चाश्रयं क्व प्रयातु ? ॥ ४६ ॥

४६. मित्र जान कर मैंने तो अनेक कोटि धन दे कर इसका सत्कार किया था, और यह मुझे भूसे के रूप में प्रतिदान दे रहा है। इसे कभी मित्रता नहीं कहते। इस कृतघ्न का मुख भला किस प्रकार [गौरव से] उद्भासित हो सकता है ? निष्कपट मैत्री अब किसकी शरण में जावे ?

कृतचर उपकारो विस्मृतो ऽस्येति मन्ये
परधनमुषि नीचे का ममाशास्त्वधन्ये।
स्फुटकपटमनेनाऽत्याजि सन्मित्रधर्मः
सुमतिविरहितेनाऽज्ञायि नाचारमर्म ॥ ४७ ॥

४७ मैं समझता हूँ पूर्वकृत उपकार इसे भूल गया है। पराया धन चुराने वाले इस नीच अभागे (पीलिय) से मुझे अब क्या आशा हो सकती है ? सुबुद्धिविहीन इस व्यक्ति ने स्पष्टतः छल कर सन्मित्र के धर्म का त्याग किया है और आचार का मर्म नहीं जाना।

यदि बुसमहमेतन्नाददीयैतदीयं
झटिति विघटयेयं मैत्र्यमत्र स्वकीयम् ।
अत उचितमिदं मे, स्वीकरोम्यस्य वस्तु
यदपि लघु, तथाऽप्यव्याहतं सख्यमस्तु ।। ४८ ।।

४८. यदि मैं इसका दिया हुआ भूसा ग्रहण नहीं करता हूँ तो इसका अर्थ है मैं अपनी मित्रता [का बंधन] इसी समय छिन्न-भिन्न कर लेता हूँ। अतः मेरे लिए यह उचित है कि मैं इसकी वस्तु, चाहे वह कितनी भी तुच्छ है, स्वीकार कर लूं, जिससे मित्रता पर आँच न आये।

विरहयतु मुधाऽयं बुद्धिहीनः सुहृत्त्वं
न कथमनुभवेयं साध्वहं तन्महत्त्वम् ?
प्रकटयतु च कामं वित्तमत्तो लघुत्वं
कथमहमभिरामं संत्यजेयं गुरुत्वम् ? ।। ४९ ।।

४९. यह बुद्धिहीन चाहे व्यर्थ ही मित्रता का त्याग कर दे, किन्तु मैं इस [मित्रता] के महत्त्व का सम्यक् अनुभव क्यों न करूँ ? धन के मद में यह चाहे अपनी हीन मनोवृत्ति प्रदर्शित करता रहे, किन्तु मैं क्यों अपनी महनीय गुरुता का त्याग करूँ ?

निजमनसि स सङ्घः सम्प्रधार्येत्थमार्यः
सपदि बुसमगृह्णादुच्चसौहार्दहार्यः ।
न च कमपि विकारं प्राप लब्ध्वा निकारं
शुचिसरलविचारं चिन्तयन्नत्र सारम् ।। ५० ।।

५०. इस प्रकार आदर्श मित्रता के कारण आकर्षक आर्य सङ्घ ने अपने मन में ऐसा निश्चय कर तुरन्त उस भूसे को स्वीकार कर लिया। पवित्र एवं सरल विचारों से पूर्ण सार वस्तु का चिन्तन करते हुए उसके मन में इस अपमान से भी विकार पैदा नहीं हुआ।

लघुबुसमथ लब्ध्वा पीलियं चाऽपि नत्वा
समगत च स पत्न्या धर्मशाले हि गत्वा ।
अवददखिलवृत्तं भार्यया पृच्छ्यमानः
प्रकटितबुसदानो लब्धभूयोऽपमानः ।। ५१ ।।

५१. तुच्छ भूसा ग्रहण कर तथा पीलिय को नमस्कार कर वह धर्मशाला में जा कर पत्नी से मिला। पत्नी के पूछने पर उसने सारा वृत्तान्त कह सुनाया। भूसा देने की बात और अपने घोर अपमान की बात भी कही।

अधिगततदुदन्ता प्रेयसी साधुवृत्ता
व्यथितमृदुलचित्ता रोदितुं सा प्रवृत्ता ।

प्रियमुदितवती हा ! किं गृहीतं त्वयाऽदः
किमिति न परिवृक्तं, हन्त भूयान् प्रमादः ॥ ५२ ॥

५२. यह सब वृत्तान्त जान कर उसकी सुशील प्रिय पत्नी का कोमल मन व्यथित हुआ और वह रोने लगी। उसने अपने पति से कहा, हाय ! यह (भूसा) तुमने क्यों ग्रहण किया ? इसे छोड़ क्यों न दिया ? कितनी बड़ी गलती हुई।

तमहमतिनिकृष्टं पीलियं दुश्चरित्रं
कृपणशठमनिष्टं नाभिनन्दामि मित्रम्।
प्रददति यदवाप्ताशीतिकोट्यर्धरायः
फलमिदमतितुच्छं तादृशाः किंसखायः ॥ ५३ ॥

५३. मैं उस अति नीच, दुश्चरित्र, कृपण, दुष्ट तथा अनिष्टकारी पीलिय (नामक) मित्र की सराहना नहीं कर सकती, जो चालीस करोड़ की धनराशि लेकर बदले में ऐसा अतितुच्छ फल देता है। ऐसे मित्र किसी काम के नहीं।

महदिदमपराद्धं यत् त्वयाऽकारि तस्य
बहुलमुपकृतिः सा पूर्वमभ्यागतस्य।
झटिति कथममुष्या विस्मृतिस्तेन तेने
लघुतरबुसदानात् यद्भवांश्चाऽवमेने ॥ ५४ ॥

५४. यह बहुत भारी गलती हुई है जो आपने पहले उसके आने पर इतना अधिक उपकार किया। वह इस उपकार को कैसे एकदम भूल गया और अत्यंत तुच्छ भूसे का उपहार दे कर उसने आप का अपमान किया।

बहुविधमिति वाच्यं भाषमाणां स्वकान्तां
व्यतनुत रुदतीं स प्रीतिवाक्यैः प्रशान्ताम्।
शशिमुखि ! दयिते ! मे मा रुदो, रोदनेन
न भवति फलसिद्धिर्या तवेष्टा धनेन ॥ ५५ ॥

५५. अनेक प्रकार से उसकी निन्दा करती हुई और रोती हुई अपनी पत्नी को उसने सान्त्वना के वचनों से शान्त किया—हे चन्द्रमुखि, प्रिये ! मत रोओ ! रोने से तुम्हें इष्ट फलसिद्धि नहीं होगी, जो धनप्राप्ति से ही साध्य है।

सुखकरमिह वेद्यं मित्रताया हि तत्त्वं
परमतिमतिहीनो वेद नादो महत्त्वम्।
अहमनुपधि सख्यं मा स्म भाजि स्वकीयं
बुसमिदमिति बुद्ध्यैवाग्रहीषं तदीयम् ॥ ५६ ॥

५६. मित्रता का जो तत्त्व है, उसे सुखदायी समझना चाहिये, परन्तु यह नितान्त जड़मति मित्रता के महत्त्व को नहीं जानता। मुझे अपनी निष्कपट मैत्री का भंग नहीं करना चाहिए, ?यह विचार कर मैंने उस के भूसे को भी

ग्रहण कर लिया।

सुहृदमसुलभं हि प्रायशोऽहं विलोके
स तु हतमतिरेतन्नैव जानाति लोके।
विधिवदवधिहीनं स्वःसुखं ते लभन्ते
मृदुऋजुहृदयं ये मित्रमत्राऽऽश्रयन्ते ॥ ५७ ॥

५७. मैं प्रायः मित्र को दुर्लभ ही समझता हूँ। किन्तु यह मन्दबुद्धि संसार में इस तथ्य को नहीं जानता। जो लोग कोमल एवं सरल-हृदय मित्र का आश्रय लेते हैं वे विधिपूर्वक अनन्त काल तक स्वर्गसुख प्राप्त करते हैं।

यदिदमजनि दैवात् तत्र मे नाऽस्ति दोषः
स्वहृदयनिहितोऽयं त्यज्यतामाशु रोषः।
विदधति न विषादं स्वीयकृत्यं स्मरन्तः
प्रबलमपरहेतोः क्लेशमाप्त्वापि सन्तः ॥ ५८ ॥

५८. दैववश जो कुछ भी यह हुआ है, इसमें मेरा कोई दोष नहीं है। तुम भी अपने हृदय से क्रोध को दूर करो। सज्जन लोग दूसरे के [हित के] लिए प्रबल कष्ट सहन कर के भी अपने सुचरित (उपकार) को स्मरण करते हुए विषाद नहीं करते।

उपदिशति तदेवं स्वप्रियां तत्र सङ्घे
ललितमधुरमार्ये सद्गुणैर्भूषिते च।
अनभिहितमुपागात् कोऽप्यटन् सद्विवेकः
स्वयमुपहृतपूर्वः पीलियप्रेष्य एकः ॥ ५९ ॥

५९. सद्गुणों से अलंकृत आर्य संघ जब अपनी प्रिया पत्नी को इस प्रकार सुन्दर एवं मधुर उपदेश दे रहे थे, तभी कोई विवेकवान् पीलिय का सेवक, जिसे स्वयं संघ ने पहिले पीलिय को उपहार रूप में अर्पित किया था, घूमता हुआ यों ही (बिना कहे) उधर आ निकला।

रुदितमुदितमाराद् गच्छताऽऽकर्ण्य तेन
द्वयमपि च तदानीमैक्षि शालागतेन।
अतिपरिचितपूर्वं सङ्घमिभ्यं सदारं
चिरतरमुपलभ्याऽऽनम्य चारोद्युदारम् ॥ ६० ॥

६०. [धर्मशाला के] निकट से गुजरते हुए उसने [एक स्त्री का] रुदन और [संघ का] उपदेश सुना। उसने धर्मशाला में प्रवेश कर दोनों को देखा। पहले से अत्यन्त परिचित अपने स्वामी संघ को पत्नी सहित वहाँ देख कर उसने प्रणाम किया और वह देर तक मुक्त कण्ठ से रोया।

स्मृतिपथमुपनीय स्वामिनः सत्स्वभावं
सुविहितवरिवस्यं चाऽऽत्मनो भृत्यभावम् ।
कृतचरणनिपातः प्राह सङ्घं विनीतः
स्थितमवसितवित्तं धर्मशालेऽविगीतः ।। ६१ ।।

६१. अपने स्वामी के सुशील स्वभाव तथा उसके अधीन सुचारु रूप से किए गए अपने सेवाकार्य को स्मरण कर उस सुशील सेवक ने आर्य संघ के चरणों पर गिर कर धर्मशाला में ठहरे हुए अपने उस धनविहीन स्वामी संघ से निवेदन किया ।

प्रभुवर ! महनीय ! प्राज्यसत्कीर्तिधामन् !
पदमिदमुपयातः किंकृतस्त्वं सुनामन् !
न हि विलसति शोभा तेऽद्य वक्त्रारविन्दे
शिथिलवसुमिवाहं त्वां विपन्नं नु विन्दे ।। ६२ ।।

६२. हे पूजनीय स्वामिन् ! हे विपुल सत्कीर्ति के धाम ! हे सुन्दर नाम से सुभूषित ! आप किस उद्देश्य से इस स्थान पर पधारें हैं। आज आप के मुखारविन्द पर (पहले जैसी) कांति दिखाई नहीं देती । मैं आप को धनविहीन तथा विपत्तिग्रस्त देख रहा हूँ ।

वदतु वदतु सद्यः किंनिमित्ता विपत्ति-
र्भवति समुदपादि ध्वंसितान्तःप्रसत्तिः ।
स्वभवनमभिनन्द्यं येन संत्यज्य वन्द्यं
परसदनमुपागाद् द्राग् भवानद्य निन्द्यम् ।। ६३ ।।

६३. आप शीघ्र बताइए, यह विपत्ति कैसे आ पड़ी, जिसने आप के मन की प्रसन्नता को भी ध्वस्त कर दिया है। परिणामस्वरूप आप अपने अभिनन्दनीय तथा वन्दनीय (गौरवमण्डित) भवन को सपदि त्याग कर निन्दनीय पराए घर पर आए हैं ।

अभिहितवति तस्मिन् योग्यताभाजि भृत्ये
विकलहृदयमेवं साधुविज्ञातकृत्ये ।
स सकलमपि वृत्तं स्वीयमावेदयत् तं
स्फुटमवहितचित्तं स्वामिसेवाऽप्रमत्तम् ।। ६४ ।।

६४. अपने कर्तव्य को अच्छी तरह जानने वाले उस सुयोग्य सेवक के व्याकुल हृदय से ऐसा कहने (पूछने) पर श्रीसंघ ने स्वामी की सेवा में प्रमादशून्य तथा समाहित मन वाले उस सेवक को अपना सारा वृत्तांत स्पष्ट रूप से कह दिया ।

तरलसरलचेता ज्ञाततत्कष्टवार्तः
स गरलमिव पीत्वाऽभूत्तदाऽत्यन्तमार्तः ।
अचकथदथ सङ्घं त्वं प्रतीक्षस्व कञ्चित्
समयमयमयं भोः ! मा चिचिन्तः कथञ्चित् ।। ६५ ।।

६५. विषपान की भाँति इस कष्टप्रद कथा को सुन कर सरल-स्वभाव वह सेवक अत्यन्त दुखी हुआ। उसने श्रीसंघ से निवेदन किया कि आप मंगलमय समय की कुछ देर प्रतीक्षा करें तथा किसी भी प्रकार की चिन्ता न करें।

तव किमपि करिष्ये द्राक् प्रभो ! संविधानं
बहु भवदवदानं वेद्मि सम्प्राप्तभानम् ।
यदपि भगवताऽहं पीलियाय प्रदत्त-
स्तदपि सततमस्मि त्वय्युपारक्तचित्तः ।। ६६ ।।

६६. हे स्वामिन् ! मैं शीघ्र आप के लिए कोई व्यवस्था करूँगा, क्योंकि मैं आप के प्रशंसनीय शुभ कार्यों को जानता हूँ। यद्यपि आपने मुझे पीलिय को अर्पित कर दिया था, फिर भी मेरा आप से अविचल अनुराग है।

सविनयमिदमुक्त्वा स्वप्रियं सङ्घमार्यं
बहुविधमुपकारं तत्कृतं सोऽनुचिन्त्य ।
स्वगृहममुमनैषीत् स्वामिनं सद्विवेकः
गलितविभवजातं हन्त भृत्यप्रवेकः ।। ६७ ।।

६७. अपने उस निर्धन प्रिय स्वामी आर्य संघ को विनयपूर्वक यह कह कर, और उसके द्वारा किये हुए अनेक उपकारोंको स्मरण करता हुआ वह सद्विवेकी, श्रेष्ठ भृत्य उन निर्धन को अपने घर पर ले गया।

अधिगृहमुपनीय श्रेष्ठिनं प्रीतिपात्रं
व्यधित सुरभिवारा स्नाननिर्णिक्तगात्रम् ।
सरसमधुरभोज्यं भोजयामास भूयः
प्रमदमनुपदं तत्सेवया सोऽनुभूय ।। ६८ ।।

६८ सम्मान के पात्र अपने स्वामी को घर ले जा कर सुगन्धित जल से स्नान करा कर उस के शरीर को स्वच्छ किया। फिर उसे सरस एवं मधुर भोजन कराया। इस प्रकार स्वामी की सेवा कर उसने प्रसन्नता का अनुभव किया।

विधिविहितसपर्यः पर्यगादर्यवर्यं
विविधचटुलवाग्भिः प्रीणयन् पुण्यचर्यम् ।
पुनरथ बहिरित्वा स्वान् सखीनन्यभृत्यान्
प्रियमिदमसुसूचत् पीलियाधीनभृत्यान् ।। ६९ ।।

६९. विधिपूर्वक सेवा कर पवित्र आचार-सम्पन्न अपने स्वामी को अनेक प्रकार की चटकीली बातों से प्रसन्न करता हुआ वह उस के समीप उपस्थित रहा। फिर बाहर जा कर पीलिय के अधीन अपने दूसरे सेवक मित्रों को यह प्रिय समाचार दिया—

शृणुत मम सखायो नः प्रभुः सङ्घ इभ्यः
शुभचरित इदानीमागतोऽस्त्यत्र सभ्यः।
चलत मिलत सेवां मद्गृहेऽवस्थितस्य
तनुत सदयितस्यामुष्य कष्टश्रितस्य ॥ ७० ॥

७०. मेरे प्यारे मित्रो ! सुनो। पुण्यकर्मा, सभ्य हमारे स्वामी सेठ संघ यहाँ आए हैं। चलकर उन से मिलो। मेरे घर में पत्नीसहित ठहरे हुए तथा विपत्ति में पड़े हुए स्वामी की सेवा करो।

गिरमतिमधुरां तां ते समाकर्ण्य भृत्याः
प्रभुममुमुपजग्मुस्त्यक्तसर्वान्यकृत्याः।
समजनिषत नूनं तद्वियोगावसन्ना
अतिसुखदतदीयालोकनेन प्रसन्नाः ॥ ७१ ॥

७१. इस अति मधुर वाणी को सुन कर वे सेवक अन्य सारे काम छोड़ कर उस स्वामी के पास पहुँचे। उसके वियोग से वे पहले खिन्न थे किन्तु अब उसके अतिसुखद दर्शनों से प्रसन्न हो गए थे।

स्वधनिकमनिकेतं सर्वथाऽर्थादपेतं
परनगरमुपेतं वीक्ष्य भार्यासमेतम्।
मनसि सकलदासाश्चिन्तयामासुरेवं
कथमपि विषमस्थं प्रोद्धरामात्र देवम् ॥ ७२ ॥

७२. अपने स्वामी को गृहहीन तथा सर्वथा धनविहीन एवं पत्नीसहित दूसरे नगर में आया हुआ देख कर सभी सेवक मन में सोचने लगे कि किस प्रकार विपत्ति में पड़े हुए स्वामी का उद्धार करें।

समुदित इह यत्नस्तादृशः कोऽपि कार्यः
प्रभवतु सहभार्यः कोट्यधीशोऽयमार्यः।
रुचिररुचिरधीष्टः प्रागिवाढ्यम्भविष्णुः
पुनरपि निजधामालङ्करिष्णुश्चरिष्णुः ॥ ७३ ॥

७३. हमें कोई ऐसा सम्मिलित यत्न करना चाहिए जिससे पत्नीसहित आर्य संघ फिर से करोड़पति बन जाए। सुन्दर विचारों वाला हमारा स्वामी पूर्ववत् धनाढ्य बन कर सत्कृत हो सके और चल कर अपने स्थान को फिर से अलंकृत कर सके।

विहितमधमकृत्यं पीलियेनास्य सख्या
व्यघटि चिरमभिख्या सौहृदय्यस्य मुख्या ।
भवति स शठबुद्धिर्दण्डनीयोऽभिद्वश्यः
क्वचिदपि निजमित्रद्रोहकृन्नैव मृष्यः ।। ७४ ।।

७४. इसके मित्र पीलिय ने नीचतापूर्ण व्यवहार किया है, चिरकाल की अपनी प्रसिद्ध मैत्री का भी विघटन कर दिया है। इस दुर्मति को दण्डयोग्य मानना चाहिए। मित्रद्रोही कहीं भी क्षमायोग्य नहीं होता।

सुदृढमिति विचिन्त्य प्रैष्यवर्गेण तेन
विमलचरितमिभ्यं सङ्घमभ्यानतेन ।
सरभसमभिजग्मे स्वस्य राज्ञः समीपं
व्यरचि विकृतमुच्चैः क्रन्दनञ्च प्रतीपम् ।। ७५ ।।

७५. ऐसा दृढ़ निश्चय कर उन सेवकों ने पवित्र चरित्र वाले अपने स्वामी संघ को प्रणाम किया। वेग से वे अपने राजा के पास जा पहुँचे और जोर से [अन्याय की दुहाई देते हुए] चीख पुकार करने लगे।

विततमतिमहान्तं भृत्यकोलाहलं सः
प्रकृतिहितकृदाराच्छुश्रुवान् राजहंसः ।
जनगणमथ दृष्ट्वा पृष्टवान् किंनिमित्तं
कुरुथ रवमतीव क्लिश्यते येन चित्तम् ।। ७६ ।।

७६. सेवकों के दूर तक फैलने वाले इस भारी कोलाहल को सुन कर प्रजाहितकारी श्रेष्ठ राजा ने लोगों की भीड़ देख कर पूछा, क्यों तुम लोग इतना शोर कर रहे हो, जिस से मन को कष्ट होता है।

अवितथमितिवृत्तं तत्र भृत्यैर्न्यवेदि
यदभवदतिमात्रं शृण्वतां चित्तखेदि ।
नरपतिरपि साक्षादद्भुतं तन्निशम्य
स चकितमवतस्थे सर्वलोकाभिगम्यः ।। ७७ ।।

७७. सेवकों ने वह सम्पूर्ण सत्य घटना निवेदन कर दी, जिस से सुनने वालों के मन को अत्यन्त खेद हुआ। जनप्रिय राजा भी साक्षात् अद्भुत यह घटना सुन कर चकित रह गया।

स विशदमनुयोक्तुं न्यायवित् सत्प्रभावः
सदसि सपदि सङ्घं पीलियं चाजुहाव ।
कृतनिजपुरवासौ यावभूतां विनीतौ
बृहदवधि मिथः सन्मित्रभूतौ प्रतीतौ ।। ७८ ।।

७८. न्यायकारी सत्प्रभाववान् राजा ने घटना का पूर्ण विवरण पूछने (जानने) के लिए संघ और पीलिय को—जो उस नगर में विद्यमान थे, विनय-शील थे और वहुत समय तक परस्पर प्रगाढ़ मित्र रहे थे—तुरन्त सभा में बुलवाया।

शुचिसचिवसमेतो विष्टरे चोपविष्टः
प्रथममुपगतं तं प्राह सङ्घं स शिष्टः।
अपि कथयतु चत्वारिंशतं पीलियाय
व्यतरदुपयतेऽस्मै किं भवान् द्युम्नकोटीः॥ ७९॥

७९. अपने सन्मन्त्रियों के साथ आसन पर बैठ कर सुशील राजा ने प्रथम वहाँ पहुँचे हुए संघ से कहा—बताओ क्या तुम ने अपने पास आये हुए पीलिय को चालीस करोड़ मुद्रायें दी थीं?

प्रतिवचनमवोचत् सङ्घ एवं नरेशं
समुपहितविशेषं त्यक्तमिथ्यार्थलेशम्।
शृणु नृप! सुहृदागादेष मे सन्निवेशं
द्रविणमुचितमीप्सुः स्वं परित्यज्य देशम्। ८०॥

८०. सङ्घ ने वल देकर, असत्य से सर्वथा असम्पृक्त उत्तर राजा को देते हुए कहा, राजन्! सुनिये, यह मेरा मित्र अपना देश छोड़ कर उचित धन प्राप्त करने की इच्छा से मेरे घर आया था।

च्युतधनमसहायं सूचितार्थाभिलाषं
कथमुपनतमेनं हन्त कुर्यां निराशम्।
इति झटिति वितीर्याशीतिकोट्यर्धमर्थं
मुदितमहमकार्षं सभ्यमिभ्यं समर्थम्॥ ८१॥

८१. धनहीन, असहाय, धन की अभिलाषा को व्यक्त करने वाले, मेरे पास आये हुए मित्र को मैं कैसे निराश करता? यह सोच कर मैंने तत्क्षण चालीस करोड़ मुद्रायें दे कर इसे प्रसन्न, लोगों में आदरणीय, धनी एवं समर्थ बना दिया।

न खलु वसु तदेवायच्छमस्मै स्वमर्धं
स्वमितरदपि सर्वं सास्यदामस्तगर्धम्।
मयि निहितमनस्को बान्धवो मा वृथा गात्
मतिरियमिदमर्थंवाऽऽत्मनीना मुदाऽभात्॥ ८२॥

८२. मैंने इसे केवल अपना आधा धन ही नहीं दिया बल्कि लोभ (स्वार्थ) छोड़ कर अन्य सभी वस्तुओं का भी आधा भाग दे दिया। मुझ पर निर्भर मेरा

मित्र व्यर्थ (खाली हाथ) न लौट जाये, मेरे मन में इस प्रकार का आत्महित का विचार सानन्द उठता रहा।

क्षितिपतिरविगीतां श्रेष्ठिसङ्घोक्तिमेतां
श्रुतिपथमुपनीय श्लाघ्ययुक्त्या समेताम्।
स्थितमपि च समक्षं पीलियं पर्यपृच्छत्
किमिदमवितथं भोः ! यद्भवान् वित्तमाच्छंत् ॥ ८३ ॥

८३. राजा ने सेठ संघ के सुन्दर युक्तिपूर्ण, प्रशंसनीय वचन सुन कर सामने स्थित पीलिय से पूछा, क्या यह सत्य है कि तुमने इससे धन प्राप्त किया था ?

अनुपदममृषोद्यं पीलियेनाबभाषे
ध्रुवमहमुपयातः पूर्वमेतत्सकाशे।
सति मयि धनराशेराशु नाशान्निराशे
मम विपदमुनोक्तद्रव्यदानान्निरासे ॥ ८४ ॥

८४. तदनन्तर पीलिय ने सब सत्य बता दिया कि निःसन्देह मैं पहले इस के पास गया था। धन-सम्पत्ति के विनाश से मेरे शीघ्र ही निराश हो जाने पर इस ने उक्त धन तथा वस्तुएँ देकर मेरी विपत्ति दूर की थी।

पुनरवनिपतिस्तं पृष्टवान् ब्रूहि सत्यं
त्वमपि सदकृथाः किं प्रेक्ष्य सङ्घं सुकृत्यम्।
विहितसदुपकारं त्वन्निकेतं समेतं
निजमशरणमेतं बन्धुमर्थादपेतम् ॥ ८५ ॥

८५. राजा ने फिर उससे पूछा, सत्य कहो, शुभ कर्म करने वाले, तुम पर भारी उपकार करने वाले, तुम्हारे घर पर आये हुए, असहाय एवं धनहीन मित्र सङ्घ को देख कर क्या तुमने भी उसका सत्कार किया था ?

इति तु वचनमाकर्ण्योत्तरं न प्रपेदे
मलिनमजनि वक्त्रं, चेतसा न प्रसेदे।
अनवहितपरार्थाः स्वार्थमेवाश्रयन्तः
कथमिह न सशोका लज्जिताः सन्त्वसन्तः ॥ ८६ ॥

८६. ये वचन सुन कर पीलिय को उत्तर नहीं सूझा। मुख कान्तिविहीन हो गया, मन की प्रसन्नता खो गई। परोपकार की ओर ध्यान न देने वाले, स्वार्थमात्र सिद्ध करने वाले असज्जन लोग कैसे दुःखी एवं लज्जित न हों ?

नृपतिरथ पुनस्तं ह्यन्यदप्यन्वयुक्त
विदिततदभिसन्धिस्तत्प्रसङ्गप्रयुक्तः।

सुहृदपचितिकृत्ये किं त्वयैवं प्रमत्तं
ननु बुसमपि तुम्बीपात्रमात्रं प्रदत्तम् ॥ ८७ ॥

८७. राजा ने इसके दुराशय को जान कर इसी प्रसंग में उससे और प्रश्न भी किया। मित्र के सत्कार-कार्य में तुमने ऐसा प्रमाद क्यों दिखाया? उसे तूम्बे जितना भूसा भी दे दिया, अर्थात् इस प्रकार अपमानित किया।

इदमपि स निशम्याऽवास्थिताऽवाङ्मुखस्तु
न च किमपि जगाद प्राप्तकालार्थवस्तु।
हृदयनिहितशोकान् मन्दधीः पीतिमानं
परमभजत तत्र स्वार्थिकश्चापमानम् ॥ ८८ ॥

८८. यह सुनकर वह मुँह नीचा कर खड़ा रहा। प्रश्न का कुछ भी उचित उत्तर न दिया। हृदय में स्थित शोक के कारण उस दुर्बुद्धि का रंग पीला पड़ गया। उस स्वार्थी को अपमान का तीव्र अनुभव हुआ।

व्यरचि मलिनमास्यं, नैव चाऽवाचि वाचा
स्थितमधिगतकष्टं चोदितेनाऽप्यवाचा।
हतसुहृदुदयेन स्वार्थसंसाधकेन
प्रकटितमशुचित्वं दुर्विनीतेन तेन ॥ ८९ ॥

८९. उसका मुख मलिन हो गया, वह वाणी से कुछ नहीं बोला। [उत्तर के लिये] आग्रह करने पर भी वह ग्लानि का अनुभव करता हुआ मौन रहा। मित्र की उन्नति न चाहने वाले, अपना स्वार्थ सिद्ध करने वाले उस दुष्ट ने अपनी मलिनता ही प्रकट की।

अमुमुपगतमौनं वीक्ष्य राजा स्वमिष्टं
सचिवगणमपृच्छद् बुद्धिमन्तं विशिष्टम्।
वदत विशदमार्याः साम्प्रतं किं विधेयं
दमनमुचितमस्मिन्सापराधे प्रणेयम् ॥ ९० ॥

९०. उसे मौन धारण किये देख कर राजा ने अपने प्रिय बुद्धिमान्, विशेष योग्यतासम्पन्न मन्त्रियों से पूछा। हे आर्यजनो! आप स्पष्ट रूप से कहिये, अब क्या करना चाहिए? इस अपराधी के लिये उचित दण्ड की व्यवस्था करनी है।

अधिकृतमनुयुक्तैर्मन्त्रिभिस्तैरगादि
प्रिय! सहृदय! राजन्! का समस्योदपादि।
प्रकटमयमिदानीं दण्डनीयः प्रदिष्टः
न भवति हि कृतागाः क्वापि कस्याऽप्यभीष्टः ॥ ९१ ॥

९१. दण्ड के विषय में पूछने पर मन्त्रियों ने कहा, हे प्रिय एवं सहृदय

राजन् ! इसमें क्या समस्या है। इस का दण्डनीय होना तो स्पष्ट सिद्ध है ही। क्योंकि अपराधी व्यक्ति कहीं किसी को प्रिय नहीं होता।

स्वयमभिमतवित्तं बान्धवात् स्वाद् गृहीत्वा
चिरतरमुपभुज्याऽनेहसं चापि नीत्वा।
तदनुगुणमदानं, नास्ति सन्मित्रधर्मः
क्वचिदपि न च विज्ञैरुच्यते पुण्यकर्म ॥ ९२ ॥

९२. अपने बन्धु (मित्र) से स्वयं अभीष्ट धन ग्रहण करके एवं चिरकाल तक उसका उपभोग करने के बाद एवञ्च समय विताने के बाद भी उसके अनुरूप प्रतिदान न देना सन्मित्र का धर्म नहीं है। इसे कहीं भी विवेकवान् लोगों ने अच्छा कर्म नहीं बताया।

वचनमिति निगद्याभ्यर्हितं मन्त्रिणस्ते
बहु सदसि निनिन्दुस्तं स्वकर्मण्यशस्ते।
अवनिपतिरपीष्टं निर्णयं स्वं चकार
तदनु दृढनिदेशं धर्मविद् व्याजहार ॥ ९३ ॥

९३. सभा में उन मन्त्रियों ने ये प्रशस्त वचन कह कर, ऐसा अप्रशस्त कर्म करने पर उस की वहुत निन्दा की। धर्मविद् राजा ने भी उचित निर्णय किया और तत्पश्चात् अपना दृढ़ आदेश इस प्रकार सुनाया।

द्रुतमित इत भृत्याः ! पीलियश्रेष्ठिनः स्वं
सकलमपि गृहीत्वा तं च कृत्वाऽऽशु निःस्वम्।
गुणगणरमणीयश्रेष्ठिसङ्घस्य गेहे
कृतयशसि निधत्त प्रेयसो राजगेहे ॥ ९४ ॥

९४. सेवको ! यहाँ से शीघ्र जाकर और सेठ पीलिय का सारा धन लेकर उसे शीघ्र निर्धन बना दो। तदनन्तर राजगृह में अनेक गुणों से उद्भासित यशस्वी एवं प्रिय सेठ सङ्घ के घर में वह (धन) पहुँचा दो।

ददतमिति निदेशं पुण्यकर्मा स भूपं
जनपरिषदि सङ्घः प्रोक्तवान् मित्ररूपम्।
नृप ! लघुमपि रायं कामये नान्यदीयं
यदहमलनदां तद् दापय त्वं मदीयम् ॥ ९५ ॥

९५. पुण्यात्मा एवं प्रशंसनीय मित्र सङ्घ ने उस जनपरिषत् (सभा) में इस प्रकार आदेश देते हुए राजा से निवेदन किया, महाराज ! मैं किसी दूसरे का स्वल्प धन भी नहीं चाहता। जितना धन मैं ने उसे दिया है, वही मुझे दिलवा दीजिये।

न हि मम परकीये स्वापतेयेऽभिलाषः
फलति बहुललोभात् सर्वथेह प्रणाशः ।
मनसि मम सदाऽऽस्ते 'मा गृधो' वाक्प्रकाशः
किमु निबिडतमःस्थः स्यामहं प्राप्तपाशः ? ॥ ९६ ॥

९६. पराया धन लेने की मेरी कोई अभिलाषा नहीं है। अधिक लोभ करने से सर्वथा विनाश ही होता है। '(पराये धन का) लोभ मत करो'—इस वचन का मेरे मन में सदा प्रकाश रहता है, चाहे मैं गहन (मोह रूपी) अन्धकार में होऊँ अथवा पाश में फँसा होऊँ।

त्वमसि बहु दयालुर्मां हि राजीचिकीर्षुः
परमहमिदमीयं नास्मि वस्त्वाजिहीर्षुः ।
अयमपि मम बन्धुः पीलियः प्राप्तमुद्रः
स्थिरसुखमनुभूयाद् देव ! मा भूद् दरिद्रः ॥ ९७ ॥

९७. आप बहुत दयावान् हैं जो [विषमदशा से मेरा उद्धार कर] मुझे राजा बनाना चाहते हैं, किन्तु मैं इस का धन छीनना नहीं चाहता। देव ! यह मेरा मित्र पीलिय भी धनाढ्य वना रहकर स्थिर सुख का अनुभव करे और दरिद्र न हो।

इति समुदमुदारां वाचमाचम्य राजा
समतुषदमुनाऽसौ श्रेष्ठिना पुण्यभाजा ।
स्तुतिवचनमशंसीद् गद्गदीभूय भूपः
तदुदितधनदानं चाऽऽदिदेशाकपूयः ॥ ९८ ॥

९८. अभिनन्दनीय राजा प्रसन्नतापूर्वक पुण्यात्मा सेठ संघ के उदार वचन सुन कर उस से (सेठ सङ्घ से) बहुत प्रसन्न हुआ और गद्गद् होकर उसकी प्रशंसा की तथा उसके कथनानुसार वन देने का आदेश दे दिया।

दीयमानमपि नाधिकमैच्छद्
योऽर्थिने खलु यथेच्छमयच्छत् ।
ईदृशः शुभदृशः सुचरित्रं
मैत्र्यमत्र विदधाति पवित्रम् ॥ ९९ ॥

९९. जिस सङ्घ ने अधिक धन दिये जाने पर भी (उसे लेना) न चाहा और जिसने याचक को यथेष्ट धन प्रदान किया—इस प्रकार के शुभ विचारवान् पुरुष का सुन्दर चरित्र एवं उसके साथ मित्रता इह लोक में (मनुष्य को) पवित्र बना देती है।

पीलियेन यदशीलमशीलि
तत्र येन नयनं सममीलि ।
दुर्धियः समुदलङ्घ्य च रंहः
सोऽनिशं जगति दीव्यतु सङ्घः ।। १०० ।।

१००. पीलिय ने दुःशीलता का आलम्बन किया किन्तु सङ्घ ने इस ओर आँखें बन्द कर लीं अर्थात् अप्रशस्त मार्ग नहीं अपनाया । उसने कुविचारों के वेग को पार कर लिया । इन गुणों से युक्त सङ्घ को संसार में प्रकर्ष प्राप्त हो ।

भूभृद्दापितमुत्तमः स मतिमानादाय कोटीर्धनं
चत्वारिंशतमात्मनः पुरमगात् प्रत्तस्वभृत्यादिभाक् ।
गत्वा तत्र सुखेन कालमनयत् सम्पत्तिमान् पूर्ववद्
धन्यः स्त्रीसहितः प्रकाममहितः सङ्घः सतामग्रणीः ।१०१।

१०१. बुद्धिमान्, सज्जनों में धुरीण, पर्याप्त प्रतिष्ठावान् वह श्रेष्ठ, धन्य सङ्घ, राजा द्वारा दिलाई गईं चालीस करोड़ मुद्राएँ तथा पहले दिये हुए सेवक आदि लेकर सपत्नीक अपने नगर को चला गया । वहाँ जाकर पहले की भांति सम्पत्तिशाली होकर सुख से समय बिताने लगा ।

मित्रस्येदमुदाहृतं व्यवहृतौ सल्लक्षणं दृश्यतां
दृष्ट्वा चाऽप्यनुमन्यतामनुपदं श्रद्धास्पदं तत् सताम् ।
येनाऽमानि न मानवेन महता हानिः स्वयं सम्पदां
सोऽयं स्वाश्रितमित्रमत्र जयति श्रीसङ्घनामा पुमान् ।१०२।

१०२. [परस्पर आदान-प्रादान आदि] व्यवहार में मित्र के सत् लक्षणों का यहाँ उदाहरण प्रस्तुत किया गया है । सज्जनों द्वारा समादरणीय इन लक्षणों को देख कर इन का समर्थन करना चाहिये । जिस महापुरुष ने स्वयं सम्पत्ति की हानि को तुच्छ समझा वह शरणागतों का मित्र श्रीसंघ विजयी हो ।

योऽसौ स्वार्थपरायणो ह्यविनयं श्रीपीलियः शीलयन्
सन्मित्रेण समं शठं व्यवहरन्नासीदधन्यस्तु सः ।
स्निग्धः सङ्घसमः समः समयविन्नित्यं भवेत् प्रीतिमान्
त्यक्तस्वार्थसुखः सखेति कथयत्येषा कथेह स्फुटम् ।। १०३ ।।

१०३. स्वार्थपरायण पीलिय ने दुष्टता का आश्रय लिया । उस अभागे ने अपने सच्चे मित्र के साथ शठता का व्यवहार किया । मनुष्य को चाहिये कि वह संघ के समान स्नेहपूर्ण, समानता का व्यवहार करने वाला, मर्यादा को जानने वाला अथवा समय को पहिचानने वाला, एवं सदा प्रसन्न रहने वाला बने । यह कथा स्पष्ट बताती है कि सखा वह होता है जो अपने स्वार्थ और सुख का त्याग करे ।

निःस्वार्थं दृढसन्धिबन्धरुचिरं चेतो दधत् सुस्थिरं
यत् साक्षादुपकारि हारिचरितं मित्रं विदुः सज्जनाः ।
दृश्यं तद् विशदं परार्थघटनादस्यां कथायां मुदा
प्रोक्ताऽऽर्तोपकृतिः कृता सुकृतिभिः शस्या यशस्यापि च ।। १०४ ।।

१०४. सज्जन लोग मित्र उसे कहते हैं जो (प्रेम की) दृढ़ संधि में बंधा होने के कारण आकर्षक हो। स्पष्ट ही जो उपकार-परायण हो, जिसके स्वार्थ-हीन चित्त में अपूर्व स्थिरता हो और चरित्र में मन को हरने की क्षमता हो। इस कथा में प्रीतिसहित परोपकार की घटना से मित्रता का यह तत्त्व स्पष्ट परिलक्षित होता है। महात्माओं ने दुःखियों पर किये गये उपकार को अभि-नन्दनीय एवं कीर्तिप्रदान करने वाला कहा है।

श्रीबुद्धो भगवान् विशुद्धहृदयः सङ्घाख्यया विश्रुतः
स्पष्टं सूचयति स्वयं सुविदितं सन्मित्रधर्मं शुभम् ।
तस्मादिष्टजनोपकारनिरतं सम्यक् पवित्राशयं
लब्ध्वा मित्रमनुत्तमं भुवि सदा नन्दन्तु सर्वे जनाः ।। १०५ ।।

१०५. पवित्र हृदय वाले संघ नाम से प्रसिद्ध भगवान् श्रीबोधिसत्त्व स्वयं जगत् में सुविदित सन्मित्र के शुभ धर्म का निरूपण इस कथा में करते हैं। अतः इष्ट बन्धुओं के उपकार में निरत, सर्वथा पवित्र अन्तःकरण वाले, श्रेष्ठ मित्र को पाकर संसार में सभी लोग आनन्दित हों।

चतुर्दशः सर्गः

आसीत् तक्षशिलापुरे सुविदिते प्रेक्षावतामग्रणीः
श्रीबुद्धो भगवान् कदाचन पुरा भूयः प्रसिद्धिं गतः ।
आम्नाती विविधागमेष्वतितरामुच्चैः सदाचारवान्
आचार्यत्वमुपेयिवान् विनयिनश्छात्रान् स्वयं शिक्षयन् ।। १ ।।

१. पहले कभी प्रसिद्ध नगरी तक्षशिला में बुद्धिमानों में श्रेष्ठ, अत्यधिक सुप्रसिद्ध भगवान् बुद्ध (बोधिसत्त्व) रहते थे। उन्हों ने विविध शास्त्रों का अच्छा अभ्यास किया था और आचार्य रूप में अतिशय सदाचार सम्पन्न वे विनीत छात्रों को स्वयं शिक्षा प्रदान करते थे ।

नित्यं पञ्च शतान्युदारहृदयो विद्यार्थिनोऽध्यापिपत्
साध्वाचारविचारसंभृतमसावुच्चावचं वाङ्मयम् ।
सच्छात्रः समयं नयन् रसमयं सच्छास्त्रवित् सन्मतिः
संदीप्तः शुशुभे शुभंयुरभितः श्रेयोंशुभिः प्रांशुभिः ।। २ ।।

२. उदारहृदय बोधिसत्त्व प्रतिदिन पांच सौ विद्यार्थियों को सुन्दर आचार-विचारों से पूर्ण विविध साहित्य की शिक्षा देते थे । सदाचारी छात्रों से परिवृत, सत्शास्त्रों के ज्ञाता, सुबुद्धियुक्त मंगलमय बोधिसत्त्व कल्याण की चारों ओर (फैलने वाली) ऊँची-ऊँची किरणों से दीप्त होकर आनन्दपूर्ण समय बिताते हुए शोभा पाते थे ।

एकः पापकनामकः सरलधीस्तच्छिष्यवर्गेऽभवत्
सर्वे पापक पापकेति बटवो नाम्नाह्वयन्ति स्म यम् ।
खिन्नस्तच्छ्रवणादचिन्तयदसौ क्लेशावहं प्रत्यहं
मन्नामेदममङ्गलास्पदमतस्त्याज्यं मया द्रागिति ।। ३ ।।

३. उनके शिष्यों में एक सरल स्वभाव 'पापक' नामक शिष्य था । सभी (सहपाठी) ब्रह्मचारी उसे 'पापक' नाम से संबोधित करते थे । वह प्रतिदिन इस कष्टदायी नाम को सुनकर खिन्न हो गया और सोचने लगा 'मेरा यह नाम अमंगलजनक है, अतः शीघ्र इस का त्याग करना चाहिये ।'

पापस्य ध्वनिरेव तावदशुभो मन्नामनि श्रूयते
व्रीडादाय्ययशस्करः प्रतिपदं दुःखाकरो दुःश्रवः ।

तस्मात् तत् परिवर्तनीयमुचितं नामान्तरं चेष्यता-
मित्यालोच्य गतस्ततः सपदि स श्रीबुद्धदेवान्तिकम् ॥ ४ ॥

४. मेरे इस 'पापक' नाम में जो 'पाप' की ध्वनि है, वह लज्जाजनक, प्रत्येक पद पर अकीर्ति करने वाली, दुःख की खान तथा सुनने में अशुभ है। अतः इस नाम को बदलना उचित होगा। दूसरा कोई नाम रखना चाहिए। यह सोच कर वह तुरन्त श्रीबुद्धदेव के पास पहुँचा।

आचार्यस्य समीपमेत्य विनयादूचे वचः सादरं
कष्टं पापकनाम दुःश्रवमिदं नाहं हृदा रोचये।
सद्यस्तत् परिवर्त्य किञ्चिदपरं रुच्यं शुभं सुन्दरं
त्वं पुण्यं कुरु साधु नाम भगवन्! सन्मङ्गलाशंसि मे ॥ ५ ॥

५. आचार्य के पास जाकर उसने विनीत भाव से आदरपूर्वक निवेदन किया, भगवन्! मेरा यह 'पापक' नाम कष्टकारक (एवं) सुनने में अशुभ है अतः मेरे हृदय को यह रुचिकर नहीं है। आप शीघ्र इस नाम को बदल कर कोई दूसरा रुचिकर, शुभ, सुन्दर, पुण्य तथा मङ्गलसूचक नाम रख दीजिये।

तच्छिष्यस्य वचो निशम्य भगवान् बुद्धो विशुद्धोदयः
प्रीत्या बोधयितुं तमेवमवदत् प्रेयन्! मुधा मा तमः।
नाम्नो नास्ति महत्त्वमत्र भुवने कर्मैव मुख्यं मतं
किं नाम्ना, यदि सद्गुणास्त्वयि परां शोभां स्फुटं बिभ्रति ॥ ६ ॥

६. शिष्य का यह कथन सुन कर पवित्र जन्म वाले भगवान् बुद्ध ने उसे समझाने के लिए प्रेमपूर्वक कहा, प्रिय! तुम व्यर्थ ही दुःखी न होओ। इस ससार में नाम का महत्त्व नहीं है, कर्म को ही मुख्य माना गया है। यदि तुम में सद्गुणों की स्फुट आभा विद्यमान है तो नाम से क्या लेना?

आह्वानाथ यदृच्छया विहितयाऽनन्वर्थया संज्ञया
निर्देशः क्रियते जनस्य, न भवत्युच्चत्वमेतावता।
नार्थः सिध्यति कश्चनाऽप्यभिमतो भद्र! स्वयं नामतः
स्युर्नामानुगुणा गुणा इह नृणामेतद्ध्यनैकान्तिकम् ॥ ७ ॥

७. संबोधन के लिये संयोगवश रखे गये नाम से—जो उस अर्थ को प्रकट नहीं करता—व्यक्ति का संकेत (निर्देश) किया जाता है। केवल इतने से (अर्थानुसारी सुन्दर नाम से) गौरव नहीं प्राप्त होता। तात! नाम से कोई भी अभीष्ट प्रयोजन स्वयमेव सिद्ध नहीं हो जाता। संसार में लोगों के गुण नाम के ही अनुरूप हों, यह नितान्त आवश्यक नहीं है।

निन्द्यं नाम सदप्यनिन्द्यचरिते पुंसि प्रशस्यं भवेद्
दुर्वृत्तेऽर्हति गर्हणं शुभमपीत्येतद्दृढं मे मतम् ।
सत्कर्मप्रवणो भव त्वमनिशं नाम्न्येव माऽत्यादृथाश्
चिन्तां मा स्म कृथा वृथा शुभपथान्मा भूश्च्युतः कर्हिचित् ॥ ८ ॥

८. सच्चरित्रशाली पुरुष का निन्दनीय नाम भी प्रशंसा के योग्य एवं दुराचारी का मांगलिक नाम भी निन्दा का अधिकारी हो सकता है। यह मेरा दृढ़ मत है। तुम सदा शुभ कार्यों में संलग्न रहो। नाम को अधिक महत्त्व न दो। व्यर्थ ही चिन्ता मत करो और कभी शुभ मार्ग से विचलित मत होओ।

सङ्केतस्तव पापकेत्यभिधया यादृच्छिकोऽभूदयं
किञ्चित् तेन न दुष्यतीत्यनुभव व्यर्थं कुतः खिद्यसे ।
सारं ग्राह्यमपास्य फल्गु सकलं नामादिदृश्यं जगद्
विज्ञेयं क्षणभङ्गुरं प्रिय बटो ! शुद्धं स्वरूपं स्मर ॥ ९ ॥

९. तुम्हारा यह 'पापक' नामकरण अकस्मात् (संयोगवश) ही हुआ है। यह निश्चय रखो, इस से तुम्हारा कुछ नहीं बिगड़ेगा। क्यों व्यर्थ ही खिन्न होते हो ? निःसार वस्तुओं का परित्याग कर सार वस्तु का ग्रहण करो। इस सम्पूर्ण नामरूपात्मक जगत् को क्षणभङ्गुर जानो। हे प्रिय ब्रह्मचारी ! अपने शुद्ध स्वरूप को पहचानो।

इत्येवं बहु बोधितोऽपि गुरुणा सद्युक्तिभिः पापकः
शान्तिं नाऽधिजगाम नामकरणे स्वं चाग्रहं नाजहात् ।
श्रीबुद्धेन तदोक्तमच्छमतिना स्वीयेच्छया गच्छ भो
नामान्विच्छ महेच्छ वाञ्छितमटन्नन्यत्र देशान्तरे ॥ १० ॥

१०. इस प्रकार सुन्दर युक्तियों द्वारा गुरु के बहुत समझाने पर भी पापक को शान्ति नहीं हुई। अपने (सुन्दर) नामकरण के विषय में उसने अपना हठ नहीं छोड़ा। तब स्वच्छमति बुद्धदेव ने उसे कहा, तुम [इस विषय में] बड़े उत्सुक हो, अतः स्वेच्छा से जाकर और किसी दूसरे प्रदेश में भ्रमण कर अभीष्ट नाम की खोज करो।

तुभ्यं मञ्जुलमुत्तमं प्रियतरं यन्नाम रोचिष्यते
चित्ताह्लादि तदेव तेऽतिमुदितः कर्तास्म्यहं निश्चितम् ।
शङ्कापङ्ककलङ्कितोऽत्र विषये त्वं चेतसा मा स्म भू-
र्देशाद्देशमटंस्त्वमीप्सिततमामन्वेषयाख्यां शुभाम् ॥ ११ ॥

११. यह निश्चित है कि जो मनोहर, उत्तम, प्यारा, और चित्त को प्रसन्न करने वाला नाम तुम्हें अच्छा लगेगा, मैं बड़ी प्रसन्नता से वही तुम्हारा रख

दूंगा। इस विषय में तेरे मन में किसी प्रकार की शङ्का नहीं होनी चाहिए। देश देशान्तर में घूमते हुए तू अपने लिये, अभीष्टतम और शुभ नाम की तलाश कर।

श्रुत्वैवं वचनं गुरोः सविनयं श्रद्धायुतोऽसौ बटु-
स्तत्पादावभिवाद्य हृद्यचरितो यात्रोद्यतः खल्वभूत्।
आदायाऽऽश्रमतः स्वकान्निरगमत् पाथेयमत्युन्मना
ग्रामाद् ग्राममितस्ततः प्रविचरन् प्रापत् पुरं किञ्चन ॥ १२ ॥

१२. गुरु के ये वचन सुन कर वह श्रद्धालु, विनीत एवं सच्चरित्र शिष्य उनके चरणों में अभिवादन कर यात्रा पर जाने के लिये उद्यत हो गया। अत्यन्त उत्सुक वह छात्र अपने आश्रम से पाथेय (मार्ग भोजन) लेकर निकल पड़ा और इधर उधर एक ग्राम से दूसरे ग्राम घूमता हुआ किसी नगर में जा पहुँचा।

दैवाज्जीवकसंज्ञकोऽमृत पुरे तस्मिंस्तदानीं पुमान्
दाहाय स्म नयन्ति यं पितृवनं भ्रात्रादयो बान्धवाः।
तं दृष्ट्वैव नवागतो बटुरयं पप्रच्छ लोकानये !
किंनामाऽयमभूज्जनः कथयत प्राणान्तमाप्तो हि यः ॥ १३ ॥

१३. दैववश उस नगर में तभी एक जीवक नामक पुरुष का प्राणान्त हुआ था। उसके भाई आदि बन्धुजन दाह संस्कार के लिये उसे श्मशान की ओर ले जा रहे थे। उसे देख कर वहाँ नये-नये आये उस बालक ने लोगों से पूछा, कृपया बताइये जिस पुरुष का निधन हुआ है, उसका नाम क्या था ?

तत्रस्थैर्मनुजैरभाणि शृणु भोः ! प्राणात्ययं प्राप्तवान्
आसीज्जीवकसंज्ञयाऽत्र नगरे ख्यातिं गतोऽयं पुमान्।
जीव्यादित्यभिलाषतोऽस्य विहिता संज्ञा शुभा बन्धुभि-
र्दैवं त्वप्रतिरोध्यमित्ययमभूद् हन्त प्रमुक्तोऽसुभिः ॥ १४ ॥

१४. वहाँ पर स्थित लोगों ने कहा, सुनो ! जिस पुरुष का देहान्त हुआ है, वह इस नगर में जीवक नाम से प्रसिद्ध था। 'यह दीर्घायुष्य प्राप्त करे' इस कामना से बन्धुजनों ने इस का यह शुभ नाम रखा था किन्तु दैवगति प्रबल है। इसका प्राणान्त हो गया है।

तच्छ्रुत्वा स उवाच जीवक इति ख्यातः कथं मृत्युमैत्
वुन्नाशिष्यनुशिष्यते भगवता धन्येन दाक्षीभुवा।
जीव्यादित्यथ हन्त जीवकपदस्यार्थे सतां सम्मते
मृत्युर्जीवकनामकं जनमिमं कस्मात् समाक्रान्तवान् ॥ १५ ॥

१५. यह सुन ब्रह्मचारी ने कहा 'जीवक' नाम रखने वाले की मृत्यु कैसे हुई ? आचार्य भगवान् दाक्षीपुत्र [पाणिनि] ने जीवक शब्द में "जीव्याद

श्रयम्"—इस व्युत्पत्ति को लक्ष्य में रख कर श्राशीरर्थ में जीव् धातु से वुन् प्रत्यय का विधान किया है। विद्वानों के मतानुसार जीव्यात् का श्रर्थ है कि वह जीता रहे। इस स्थिति में भला मृत्यु ने उसे कैसे धर दबाया ?

ते प्रोचुर्न विचारचारु वचनं प्रोक्तं त्वया माणव !
 व्यर्थं नाम, यतो न तद्व्युपगतं मृत्युं निरोद्धुं क्षमम् ।
नाशिष्येव वुना च जीवकपदं व्युत्पाद्यतां, कुत्सिते
 कन्यप्यस्ति सुसाध्वहो भगवतः सूक्ष्मा मतिः पाणिनेः ॥ १६ ॥

१६. यह सुन कर वे लोग कहने लगे, बालक ! तुम्हारा कथन विचार-पूर्ण नहीं है। क्योंकि नाम उपस्थित मृत्यु का विरोध नहीं कर सकता, श्रतः व्यर्थ है। 'जीवक' पद को श्राशीरर्थ में केवल वुन् से ही व्युत्पादित नहीं करना चाहिये, प्रत्युत कुत्सित (निन्दा) श्रर्थ में 'कन्' प्रत्यय से भी इसको व्युत्पादित किया जा सकता है। श्रहा ! भगवान् पाणिनि की बुद्धि कितनी सूक्ष्म है।

व्युत्पन्नोऽपि विपद्यते विधिवशान् मृत्युर्ध्रुवः प्राणिनां
 सर्वं वस्तु चलं बुधैर्निगदितं नाऽत्र स्थिरं किञ्चन ।
किं नामाऽत्र करिष्यति क्षणमपि स्याज्जीवकोऽजीवको
 वेत्येवं न विचारणा प्रभवति क्षीणे सति ह्यायुषि ॥ १७ ॥

१७. भाग्य के विधान से चतुर मनुष्य भी मृत्यु का ग्रास बनता है, क्योंकि जीवों की मृत्यु श्रवश्यंभावी है। बुद्धिमान् लोगों के श्रनुसार यहाँ, इस संसार में, सभी पदार्थ श्रस्थायी हैं। यहाँ कुछ भी स्थायी नहीं है। जीवक श्रथवा श्रजीवक नाम क्षण भर के लिये भी क्या कर सकता है। श्रायु के क्षीण होने पर इस प्रकार की [नामविषयक] धारणा कुछ भी प्रभाव नहीं रखती।

मन्दः पश्यसि नाम केवलमिह त्वं नाऽर्थतत्त्वं पुनर्
 भो ! नामाभिनिवेश एष भवता दूरं समुत्सार्यताम् ।
उत्पन्नस्य मृतिर्ध्रुवा त्रिभुवने नाम्ना न सा वार्यते
 विख्यातः खलु जीवकोऽप्युपरतः स्पष्टं पुरः प्रेक्ष्यताम् ॥ १८ ॥

१८. हे ब्रह्मचारी ! तुम मुग्धमति हो, केवल नाम देखते हो, यथार्थ तत्त्व पर ध्यान नहीं देते। तुम इस नाम-विषयक श्राग्रह को सर्वथा त्याग दो। इस त्रिलोकी में जन्म ग्रहण करने वाले की मृत्यु निश्चित है। केवल नाम से उसका परिहार नहीं किया जा सकता। तुम्हारे सामने ही जीवक नाम से प्रसिद्ध व्यक्ति भी मर गया।

श्राकर्ण्यैवमसावुदासित इव स्वं नामधेयं प्रति
 प्रागन्यत्र पुरे ततः प्रचलितो नामान्तरप्रेप्सया ।

तत्रापश्यदुपेत्य दीनवदनां स्वस्वामिपार्श्वस्थितां
　　दासीं काञ्चन रज्जुभिर्दृढतरं संताड्यमानां मुहुः ॥ १९ ॥

१९. यह सुनकर वह अपने नाम के विषय में उदासीन सा हो गया और वहां से पूर्व की ओर किसी अन्य नगर में दूसरा नाम खोजने चल पड़ा। वहां पहुँच कर उसने किसी मुरझाये हुए मुख वाली दासी को अपने स्वामी के निकट ठहरी हुई देखा। उस (दासी) को रस्सियों से वार-वार वुरी तरह पीटा जा रहा था।

सा सम्प्राप्य निजां भृतिं समुचितां कार्यं स्वभर्त्रोदितं
　　सम्यक् कर्तुमितापि नाशकदतो दण्ड्या तदानीमभूत्।
नाम्नासीद् धनपालिका परमहो दारिद्र्यमूर्तिः परा
　　तस्मिन्नेव पुरे चिराद् भृतिकरी वश्या भुजिष्या स्थिता ॥ २० ॥

२०. अपना उचित वेतन प्राप्त कर वह स्वामी द्वारा निर्दिष्ट कार्य को अच्छी तरह करने के लिये गई थी, किन्तु उसे यथाविधि कर न पाई। इस कारण उसे यह दण्ड दिया जा रहा था। वह उसी नगर में चिरकाल से सेवा कार्य करने वाली आज्ञाकारिणी दासी थी। उसका नाम तो 'धनपालिका' था किन्तु थी वह दरिद्रता की साक्षात् प्रतिमा।

दृष्ट्वा पापक एष तामतितमां संक्लिश्यमानां पुरः
　　पप्रच्छान्तिकसंस्थितं जनगणं तत्ताडनाकारणम्।
तैरुक्तं निजभर्तृचोदितमियं कार्यं न साध्वाचरत्
　　तस्माद्दण्ड्यत एषका दृढतरं व्यक्तापराधा सती ॥ २१ ॥

२१. पापक ने उसे अपने सामने अत्यन्त संपीडित देख कर समीपस्थ लोगों से उस को पीटने का कारण पूछा। उन्होंने उत्तर दिया, इस दासी ने अपने स्वामी द्वारा वताये कार्य को उचित रीति से सम्पन्न नहीं किया। इसका अपराध पता लग चुका है और कठोर दण्ड दिया जा रहा है।

किंनाम्नीयमुदीर्यतामिति पुनः पृच्छत्यमुष्मिन् बटौ
　　प्रोक्तं तैर्धनपालिकेति विदितः साश्चर्यमित्याह सः।
नाम्नैषा धनपालिका यदि, ततो दीना दरिद्रा कथं?
　　भृत्याकृत्यनुसारिणी प्रकटयत्याख्यामपार्थां निजाम् ॥ २२ ॥

२२. 'इसका नाम क्या है, कृपया वताइये'—ऐसा उस ब्रह्मचारी के पुनः पूछने पर उन्होंने कहा, इस का नाम धनपालिका है। यह जान कर उस ने आश्चर्य से कहा, यदि इसका नाम धनपालिका है तो यह ऐसी दीन और दरिद्र क्यों है? सेवाकार्य द्वारा यह अपने नाम को अर्थहीन बना रही है।

लोकेऽस्मिन् धनपालकः स कथितो यः स्वं धनं पालयेत्
स्वाम्यर्थस्य धनाढ्य एव पुरुषो नाम्नाऽमुना युज्यते ।
यद्येषा धनपालिकेत्यभिहिता, युक्ता धनस्वामिनी
न त्वेवं भृतिमात्रमत्र दधती मुख्यामभिख्यां भजेत् ।। २३ ।।

२३. संसार में धनपालक उसे कहते हैं जो अपने धन की रक्षा करे। धन के स्वामी धनाढ्य पुरुष का ही यह धनपालक नाम होना चाहिये । यदि इस का नाम धनपालिका है तो इसको धन की स्वामिनी होना चाहिये था। वेतन मात्र पाने वाली इस दासी का तो यह मुख्य (सम्पन्नतासूचक) नाम नहीं होना चाहिये था ।

इत्येवं तमुदीरयन्तमवदंस्तत्र स्थितास्ते जना
भ्रान्तस्त्वं धनपालिकेत्यभिधयैवेभ्यामिमां मन्यसे ।
संज्ञैषा ननु लौकिकी, व्यवहृतेः सम्पादनायेष्यते
दासीयं तु दरिद्रिता, न धनवत्येतावता जायते ।। २४ ।।

२४. वहां पर स्थित लोगों ने इस प्रकार की बातें कहने वाले उस ब्रह्मचारी से कहा, तुम्हारा यह सोचना भ्रमपूर्ण है क्योंकि तुम धनपालिका नाम से ही इसको धनवती समझते हो। व्यवहार की सुविधा के लिये यह संज्ञा लौकिक अर्थात् यादृच्छिक है । यह दरिद्र दासी केवल 'धनपालिका' नाम से ही धनवती नहीं हो जाती ।

निःस्वा स्याद् धनपालिकाऽपि कथिता कष्टश्रिता चार्थिनी
विज्ञेया धनपालिकाऽपि च तथा, नाम्नाऽत्र किं सिध्यति ।'
तद् व्यक्तिप्रतिपत्तये भवति भो ! नामप्रयोगो जने
यत्तन्नाम विधीयतां, मतिमतां नातीव नाम्न्यादरः ।। २५ ।।

२५. निर्धन एवं विपत्तिग्रस्त याचिका (भिखारिन) का नाम भी धनपालिका हो सकता है, इसी प्रकार धनवती स्त्री का नाम भी [निर्धनता सूचक] हो सकता है। नाम से यहाँ क्या होता है ? हे ब्रह्मचारी, व्यक्तिविशेष के ज्ञान (संकेत) के लिये लोग नाम का प्रयोग करते हैं। नाम कोई भी रखा जा सकता है । बुद्धिमान् लोग नाम को अधिक महत्त्व नहीं देते ।

तत्तेषामुपपत्तिमत् स वचनं श्रुत्वा ततोऽग्रे प्रयान्
मध्येमार्गमुदासितः समजनि स्वे नाम्नि भूयस्तराम् ।
गत्वाऽपश्यदनन्तरं पथि पुरो भ्रान्तं तदैकं जनं
चिन्ताव्याकुलितान्तरं सकरुणं रोरुद्यमानं चिरात् ।। २६ ।।

२६. उनके ये युक्तियुक्त वचन सुनकर वह आगे चल पड़ा। आधा मार्ग

पार कर चुकने पर वह अपने नाम के विषय में अत्यन्त उदासीन हो गया। तत्पश्चात् उस ने अपने सामने रास्ते पर घूमते हुए एक मनुष्य को देखा, जो चिन्ता से व्याकुल था और वहुत देर से अत्यन्त करुण क्रन्दन कर रहा था।

अप्राक्षीत् समुपेत्य तं किमिति भो ! रोरुद्यसे त्वं पथि
भ्रान्तोऽसीत्यवगम्यसे प्रकटय स्पष्टं हि नामाऽऽत्मनः ।
सोऽब्रूताहमिहाध्वनि भ्रमभगाम्, अस्म्याख्यया पन्थकः
संबाधे गहने वनेऽतिविषमे पन्था न विज्ञायते ।। २७ ।।

२७. पापक ने उसके पास जाकर पूछा, भद्र ! तुम यहां रास्ते में क्यों रो रहे हो। ऐसा प्रतीत होता है तुम भटक गये हो। कृपया अपना नाम स्पष्ट रूप से मुझे बताओ। उसने उत्तर दिया, मेरा नाम पन्थक है। मैं यहां मार्ग भूल गया हूं। इस कष्टपूर्ण, घने तथा अत्यन्त भीषण वन में मुझे मार्ग का ज्ञान नहीं है।

वाक्यं तस्य निशम्य पापकबटुः सोत्प्रासमित्यब्रवीद्
हंहो पन्थकनामकेन भवताऽप्यध्वा कथं विस्मृतः !
पन्थानं प्रति गच्छति प्रतिदिनं जातोऽथवा यः पथि
स्यात् पान्थोऽप्यथ पन्थकः स कथितस्त्वं कीदृशः पन्थकः ? ।। २८ ।।

२८. उसके वचन सुनकर पापक ने व्यंग्य से कहा अजी, पन्थक नामधारी तुम किस तरह रास्ता भूल गये ? जो व्यक्ति प्रतिदिन रास्ते पर चलता (यात्रा करता) है या रास्ते में जिसका जन्म हुआ है, उसे पान्थ या पन्थक कहते हैं। तुम (रास्ता भूल जाने वाले) कैसे पन्थक हो ?

त्यक्त्वा रोदनमभ्यधाद् गिरमिमां श्रुत्वा तदीयामसौ
किं त्वं मूढ इवेदृशं विसदृशं ब्रूषे वचो माणव !
पान्थः स्यादथ पन्थकश्च पथिकः सर्वस्य मार्गभ्रमः
संभाव्येत, करोतु नाम किमिहाऽपार्थं तदध्वस्मृतौ ।। २९ ।।

२९. ब्रह्मचारी की यह वाणी सुनकर पन्थक ने रोना बन्द कर कहा, हे बालक ! तुम मूर्ख की भांति असंगत वात क्यों कर रहे हो ? पान्थ, पन्थक या पथिक—कोई भी नाम हो, सभी को रास्ते का भ्रम हो सकता है। अर्थहीन (महत्त्वहीन) नाम सही मार्ग को स्मरण रखने में क्या कर सकता है ?

एतत्तस्य वचो निपीय मधुरं स्पष्टं बटुः पापकः
साधीयः स शुभेऽशुभे च विरतिं नाम्न्यापदात्यन्तिकीम् ।
निर्गत्वा बहिरन्वभून्निजगुरोः सद्युक्तियुक्तां गिरं
जातः प्रत्ययितस्ततो निववृते मङ्क्ष्वाश्रमं स्वं प्रति ।। ३० ।।

३०. उसके ये मधुरतम, स्पष्ट वचन सुन कर पापक को [नाम विषयक

असारता का] ज्ञान हो गया और उसने शुभ अथवा अशुभ नाम के विषय में सर्वथा उदासीनता धारण कर ली। इस प्रकार तीन वार [विभिन्न प्रदेशों में] जाकर उस ने अपने गुरु के सुन्दर युक्तिपूर्ण वचनों [द्वारा उपदिष्ट सत्य] का अनुभव किया। [सत्यज्ञान से] आश्वस्त होकर वह वहां से शीघ्र अपने आश्रम को लौट आया।

तं प्रत्यागतमाश्रमं स भगवान् बुद्धो विलोक्यागदीत्
किं भो नाम भवानितो बहिरितः स्वाभीष्टमन्विष्टवान् ?
अन्विष्टं यदि, कथ्यतां द्रुततरं कुर्यामहं संस्क्रियां
सन्नामाभिरुचिस्तवाद्य रुचिरा मन्ये चिरात् पूर्यताम् ।। ३१ ।।

३१. आश्रम में उसे लौटा हुआ देख भगवान् बुद्ध ने कहा, भद्र ! यहां से बाहर जाकर क्या तुम ने अभीष्ट नाम का अन्वेषण कर लिया ? यदि नाम-चयन कर लिया है तो बताओ, जिस से मैं शीघ्र संशोधन कर दूं। तुम्हारी सुन्दर नाम के विषय में चिराकाङ्क्षित, मञ्जुल रुचि आज पूर्ण हो।

पृष्टोऽसौ गुरुणा प्रणम्य विधिवद् वृत्तं तदाऽवर्णयद्
यद्यच्चाप्यवलोकितं तदखिलं नामेतिवृत्तं स्फुटम् ।
आचार्य ! त्वदुदीरितोऽहमगमं नाम्नः प्रकर्षेप्सया
नानाग्रामपुरेष्वलप्सि न पुनस्तन्मात्रयाऽप्यर्थवत् ।। ३२ ।।

३२. गुरु के पूछने पर विधिपूर्वक प्रणाम कर उस बटु ने वह सब नाम-विषयक वृत्तान्त जो कुछ देखा था—स्पष्ट रूप में इस प्रकार कह सुनाया : आचार्यवर ! आप का आदेश पाकर मैं सुन्दर नाम खोजने की इच्छा से यात्रा पर गया। वहां अनेक ग्रामों तथा नगरों में [घूमने पर भी] मैंने आंशिक रूप में भी अर्थवान् (अर्थानुसारी) नाम नहीं पाया।

जीवत्यत्र न जीवकोऽपि सुचिरं दृष्टो वृथानामभाग्
दारिद्र्यं धनपालिकाऽपि भजते दृष्टा वृथानामभाक् ।
मार्गं यानपि विस्मरन्नमुमसौ दृष्टो वृथा पन्थकस्
त्रिष्वेतेषु विलोक्य निश्चितमतो नाम्नो वृथात्वं मया ।। ३३ ।।

३३. भगवन् ! इस संसार में 'जीवक' नाम वाला भी जीवित नहीं रह पाता। उसका नाम भी व्यर्थ ही देखा जाता है। इसी प्रकार धनपालिका भी अपने नाम को अन्वर्थ नहीं करती है, क्योंकि वह दरिद्र है। पथ पर चलते चलते पथ को भूल जाने वाले व्यर्थ में ही 'पन्थक' नाम वाले को भी देखा। इन तीनों में [नाम की व्यर्थता] देख कर मैं ने समझ लिया कि नाम असार एवं महत्त्वहीन है।

प्राक् त्वं मां यदुपादिशः सुबहुशः सन्मार्गणवीनं वचः
सम्यक् सम्प्रति सम्प्रतीत्य मयका तच्छ्रेयसे मन्यते ।

नाहं नाम्न्यतिमात्रमाहितरतिर्भूयो भवाम्याकुलो
नाख्यायाः परिवर्तनञ्च भगवन् ! स्वस्याः पुनः कामये ॥ ३४ ॥

३४. भगवन् ! पहले जो आपने मुझे अनेक प्रकार से भले बच्चे के हितार्थ उपदेश दिया, उसे मैं अब भली प्रकार हृदयङ्गम कर लेने पर कल्याणप्रद मानता हूँ। नाम के विषय में अब मेरा पूर्ववत् आग्रह नहीं है, अतः मैं इस के लिये न तो व्याकुल हूँ और न ही अब मैं अपना नाम परिवर्तन करना चाहता हूँ।

संसिद्धिः खलु कर्मणैव कथिता स्यान्नामधेयेन किं
तद् दैवादशुभं शुभं भवतु वा किं तेन मे हीयते ।
पुण्ये कर्मणि तत्परः शुभगुणालङ्कारयुक्तः सदा
स्वीयं मानवजन्म साधु सफलीकर्तुं प्रवर्ते गुरो ! ॥ ३५ ॥

३५. कर्म द्वारा ही श्रेयःसिद्धि कही गई है, नाम से क्या होता है ? भाग्य-वश नाम चाहे शुभ हो या अशुभ, उस से मेरी क्या हानि है ? गुरुवर्य ! मैं अब सदा पुण्यकर्मों के आचरण में तत्पर रह कर तथा शुभ गुणों से विभूषित होकर अपने मानव-जन्म को भली-भांति सफल करने में प्रवृत्त होता हूँ।

इत्याख्याय स पापकः स्थिरमतिः सच्छात्ररूपो युवा
नाम्नः खेदमुदस्य सम्प्रमुदितः सत्कर्मणि प्रावृतत् ।
श्रीबुद्धस्तु विशुद्धबुद्धिरभितो बुद्ध्वा प्रवृद्धोदयं
तं शिष्यं स शुभाभिराशु बहुभिः स्वाशीर्भिरभ्यार्चिचत् ॥ ३६ ॥

३६. यह कह कर उस उत्तम युवक छात्र पापक ने मन की स्थिरता प्राप्त कर ली और (अशुभ) नाम-जनित ग्लानि को दूर कर प्रसन्न भाव से सत्कर्मों में प्रवृत्त हो गया। विशुद्धमति श्रीबोधिसत्त्व ने उसे सब प्रकार से उत्थानशील पा कर तुरन्त अनेक शुभ आशीर्वादों से सत्कृत किया।

ध्वंसन्ते ते विषमपतिता नोन्नतिं कर्तुमीशा-
स्त्यक्त्वा स्वीयं सुकृतमुचितं नाम्नि निष्ठां गता ये ।
दोषस्पृष्टे गुणविरहिते पुंसि किं बुद्धिशून्ये
श्रेष्ठं प्रेष्ठं श्रुतिसुमधुरं नामधेयं विदध्यात् ॥ ३७ ॥

३७. जो लोग अपने उचित सत्कर्मों को त्याग कर सुन्दर नाम से ही सन्तुष्ट होते हैं, वे संकट में पड़ कर नष्ट हो जाते हैं और अभ्युदय प्राप्ति में सक्षम नहीं होते। दोषपूर्ण, गुणहीन तथा बुद्धिशून्य पुरुष का श्रेष्ठ, अतिप्रिय एवं श्रुति-मधुर नाम क्या कर सकता है ?

कर्म श्रेष्ठं विमलमतिभिः सर्वदा कार्यमार्यैः
सर्वत्राऽस्मिञ्जगति कथिता कर्मणैवाऽर्थसिद्धिः ।

नार्थो नाम्नाऽशुभमथ शुभं वा भवेत् तन्निकामं
शिक्षाऽऽदेया भवति कथयाऽत्यन्तऌघ्व्यानयेति ।। ३८ ।।

३८. निर्मलमति आर्यजनों को सदा श्रेष्ठ कर्म करने चाहियें। इस संसार में सर्वत्र कर्म द्वारा ही प्रयोजन की सिद्धि बताई गई है। इस अति लघु कथा से यही शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि [केवल] नाम से अभीष्ट सर्वथा सिद्ध नहीं होता, चाहे वह नाम शुभ हो अथवा अशुभ।

न केवलं नामत एव किञ्चित्
प्रयोजनं सिध्यति मानवानाम्।
तेऽतो विशेषेण गुणादृताः स्यु-
र्नात्यादृताः सन्तु च नामधेये ।। ३९ ।।

३९. केवल नाम से मनुष्यों का कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। अतः उन्हें विशेष रूप से गुणोपार्जन में यत्न करना चाहिये। नाम को बहुत महत्त्व नहीं देना चाहिये।

भवेद्यथा नाम तथा गुणाः स्यु-
रित्यस्ति यद्यप्युदिता प्रसिद्धिः।
तथापि नात्यन्तमिवाऽऽदृतत्वात्
सर्वत्र सा नेति विभावनीयम् ।। ४० ।।

४०. यद्यपि लोक में यह उक्ति प्रसिद्ध है कि जैसा नाम वैसे गुण, तथापि आवश्यक रूप से सब जगह ऐसा नहीं होता, यह समझ लेना चाहिये।

कथा श्रुतेयं जनयेत् प्रहर्षं
प्रबोधयन्ती सुगुणप्रकर्षम्।
सदा गुणानां ग्रहणं विधेयं
गुणाः प्रधानं, न तु नामधेयम् ।। ४१ ।।

४१. यह कथा सुनने पर हर्ष देने वाली है तथा सद्गुणों के महत्त्व का ज्ञान कराती है। अतएव सदा गुण-ग्रहण में तत्पर रहना चाहिये। [क्योंकि] गुणों का स्थान प्रमुख है, नाम का नहीं।

असुन्दरे वाऽप्यथ सुन्दरे वा
विशेषतो नामनि नावधेयम्।
गुणप्रकर्षे यतनं विधेयं
ज्ञेयं हि तुच्छं किल नामधेयम् ।। ४२ ।।

४२. सुन्दर अथवा असुन्दर—विशेषतया नाम—के विषय में अधिक ध्यान नहीं देना चाहिये। सद्गुणों की प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिये तथा नाम को सारहीन जानना चाहिये।

सत्कर्मणा सिद्धिमुपैति नूनं
न नामधेयेन, यतस्तदूनम् ।
नाम ह्युपाधिर्गुणकर्मणी न,
श्रेयोऽप्यवाप्नोति तयो रतो यः ॥ ४३ ॥

४३. मनुष्य सत्कर्मों से ही सिद्धि पाता है, नाम से नहीं । क्योंकि सत्कर्म की तुलना में वह तुच्छ है । नाम तो मात्र उपाधि है, गुण तथा कर्म उपाधि नहीं हैं । गुणों तथा सत्कर्म में रत मनुष्य श्रेय का भागी होता है ।

इत्यादि सर्वं भगवान् स बुद्धः
शुद्धोदयो वक्ति वचः प्रबुद्धः ।
लघीयसानेन कथानकेन
प्रदीप्यमानो यशसोन्नतेन ॥ ४४ ॥

४४. इस लघु कथानक के माध्यम से उदार यश से प्रदीप्त, पवित्र जन्म वाले, परम विवेकशील भगवान् बुद्ध ने इस प्रकार का उपदेश दिया है ।

यः पवित्रहृदयः सदयः श्री-
बुद्ध आस्त यमिनां पुर एता ।
नामसिद्ध्यभिधमुत्तममेतज्—
जातकं स भगवान् निजगाद ॥ ४५ ॥

४५. पवित्र हृदय वाले, दयालु, जितेन्द्रियों में अग्रणी भगवान् बुद्ध ने नाम-सिद्धि नामक इस उत्तम जातक का वर्णन किया है ।

इति श्रीसत्यव्रतशास्त्रिणः कृतौ श्रीबोधिसत्त्वचरिते समाप्तश्चतुर्दशः सर्गः । ग्रन्थश्चाऽपि समाप्तिमितः । शुभं भूयादध्यापकानामध्यायकानां च ॥

श्रीबोधिसत्त्वचरितम्

टिप्पण्यः

प्रथमः सर्गः

१. समुदीरयामि=कहता हूं। सम्+उद् उपसर्ग पूर्वक √ईर् निगरणे का लट् उत्त० पु० एक०

२. अलङ्करिष्णुः=अलङ्करोतीति अलङ्करिष्णुः। अलम् उपपदपूर्वक √कृञ् से 'अलंकृञ्' प्रभृति सूत्र से ताच्छील्य अर्थ में इष्णुच् प्रत्यय। शोभित करने वाला

सद्गुणौघैः=अच्छे गुणों के समूहों से

३. रराज=शोभित हुआ। √राजृ दीप्तौ का लिट् प्रथ० पु० एक०

४. अदभ्रम्=विपुल, अत्यधिक

अभ्रंलिहम्=अभ्रं लेढीति तद् अभ्रंलिहम्। 'वहाभ्रे लिहः' से खच् प्रत्यय, 'अरुर्द्विषद्' इत्यादि से मुम् आगम। मेघ को छूने वाला।

५. प्रसेदुः=प्रसन्न हुईं। प्र-उपसर्ग पूर्वक √षद् का लिट् प्रथ० पु० बहु०

८. अचकात्=शोभित हुई

ववुः=वहीं। √वा गतिगन्धनयोः का लिट्० प्र० पु० बहु०

६. अर्यगृहे=वैश्य के घर में। 'अर्यः स्वामिवैश्ययोः' इस सूत्र में अर्य शब्द वैश्य तथा स्वामी के लिए प्रयुक्त हुआ है।

व्यवहारदृश्वा=व्यवहारं दृष्टवानिति व्यवहारदृश्वा। 'दृशेः क्वनिप्' से क्वनिप् प्रत्यय। व्यहार-निपुण

७. उदीक्षमाणः=आशा अथवा आशंसा करता हुआ। उद् उपसर्ग पूर्वक √ईक्ष दर्शने से शानच् प्रत्यय तथा 'आने मुक्' से मुक् आगम

अवालुलोचत्=देखा। अव उपसर्ग पूर्वक √लोचृ दर्शने का लुङ् प्रथ० पु० एक०।

९. उक्षयानैः=उक्षन्=बैल। उक्षवाह्यं यानम्, उक्षयानम्। बैलगाड़ियों से।

आराद्भवम्=दूरवर्ती— 'आराद्दूरसमीपयोः' आरात् का अर्थ दूर और समीप दोनों होता है। 'अन्याऽऽराद्इतरर्ते' प्रभृति सूत्र से आरात् के योग में पञ्चमी विभक्ति होती है।—आराद् वनात्

इयेष=इच्छा की। √इष् इच्छायाम् का लिट् प्रथ० पु० एक०

१०. सार्थ=काफ़िला, चलने वालों का समूह। सरतीति सार्थः

ईप्सुः=प्राप्ति की इच्छा करने वाला। √आप्लृ व्याप्तौ से इच्छार्थक सन् प्रत्यय, 'सनाशंस' प्रभृति

सूत्र से 'उ' प्रत्यय
ऐच्छत्=इच्छा की। √इष् से 'इच्छ्' आदेश, लङ् प्रथ० पु० एक०
११ यियासुः=यातुम् इच्छुः। जाने का इच्छुक। √या से इच्छार्थक सन् प्रत्यय, सन्नन्त को 'सन्यङोः' से द्वित्व, 'सनाशंस' प्रभृति सूत्र से 'उ' प्रत्यय
१२ अन्तराय पुं०=विघ्न, बाधा
१४ अणीयान्=अतिसूक्ष्म, 'अतिशयेन अणुः'। 'ईयसुन्' प्रत्ययान्त रूप
१५ यवस पुं०, नपुं०=घास, चारा, पशुओं का भक्ष्य
१६ विविञ्चन्=विचार करता हुआ। वि उपसर्ग पूर्वक √विचिर् पृथग्भावे से शतृ प्रत्यय तथा 'उगिदचाम्' प्रभृति सूत्र से नुम् आगम। पुं० प्र० एक०
आत्तबुद्धिः=बुद्धिवाला। आत्ता गृहीता बुद्धिर्येन (बहुव्रीहि)
सत्रा (अव्यय)=साथ
१८ विविङ्ग्धि=जानो, समझो। वि उपसर्गपूर्वक √विचिर् पृथग्भावे (रुधा० उ०) का लोट् मध्य० पु० एक०
१९ विप्रतिपन्नचेताः=विप्रतिपन्न बुद्धिवाला, उल्टी समझ वाला
२० अप्रहतम्=बिना किसी बन्धन या रुकावट के
अत्स्यन्ति=खायेंगे। √अद् भक्षणे का लृट् प्रथ० पु० बहु०
२२ उज्जगार=कहा। उद् उपसर्ग पूर्वक √गॄ का लिट् प्रथ० पु० एक०। सोचा, विचार किया
२४ बाट=मार्ग
सम=समतल
विकटाः=भयंकर, ऊबड़-खाबड़
अटवी (स्त्री०)=जंगल
२५ अपिच्छिला=पंकहीन
अविसंष्ठुला=समतल
२७ छिन्नप्ररूढानि=पूर्वं छिन्नानि पश्चात् प्ररूढानि। कर्मधारय। काटने से पुनः उगे हुए
२८ उपघाततुल्यम्=हिंसा के समान
पणायाम् (स्त्री०) = व्यापार (द्वितीया विभक्ति का रूप)
२९ न्यगादीत्=कहा। नि उपसर्ग पूर्वक √गद व्यक्तायां वाचि का लुङ् प्र० पु० एक०
अच्छ (अव्यय)=आभिमुख्य
३० चचाल=चला। √चल संचलने का लिट् प्रथ० पु० एक०
३२ पाटच्चर=चोर
३३ लभ्यः=लब्धुं योग्यः। √लभ् का य प्रत्ययान्त रूप।
भोज्यः—भोक्तुं योग्यः। √भुज् पालनाभ्यवहारे से यत् प्रत्यय
३४ विशंकट=बड़ा, विशाल
३६ प्रपेदे=प्राप्त हुआ, गया। प्रकर्ष अर्थ द्योतक 'प्र' उपसर्गपूर्वक √पद गतौ का लिट् प्रथ० पु० एक०
३७ उपधि (पुं०)=छल, कपट
अचिन्ति=सोचा। √चिति स्मृत्याम् से स्वार्थ में णिच्। भाव में लुङ्, चिण् प्रत्यय, एक०
३८ तृष्णक् (प्र० एक०) = प्यासा। तृष्णाशील:

३९ शक्ष्यति=समर्थ होगा। √शक्लृ शक्तौ का लृट् प्र० पु० एक०

४० पटीयान्=अत्यधिक पटु, निपुण, अतिशयेन पटुः, 'द्विवचनविभज्योपपदे' प्रभृति सूत्र से ईयसुन् प्रत्यय

४२ ललास=विलसित हुआ, शोभित हुआ। √लस् का लिट् प्र० पु० एक०

४३ उपायात्=उपाय से (पंचमी)। उपायात्=पास आया। उप+आ+√या प्रापणे का लङ् प्र० पु० एक०

४४ उन्नगात्रः=भीगे शरीर वाला। उन्न—√उद्+क्त। उन्नं गात्रं यस्य। बहुव्रीहि

४८ अवोचत्=कहा। √ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि का वच् आदेश। लुङ् प्रथ० पु०एक०। 'वच उम्' से उम् आगम

५३ कौसृतिकः=कुटिल गति वाला, कपटी

५७ मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः=मूर्ख पुरुष दूसरों के विश्वास के अनुसार कार्य करता है। परस्मिन्प्रत्ययः परप्रत्ययः। परप्रत्ययेन नेया परप्रत्ययनेया। परप्रत्ययनेया बुद्धिर्यस्य स परप्रत्ययनेयबुद्धिः

६० प्रययौ=व्यतीत हो गया। प्र+√या प्रापणे का लिट् प्रथ० पु० एक०

उपलेभे=प्राप्त हुआ। उप+√डुलभष् प्राप्तौ का लिट् प्रथ० पु० एक०

अभावि=√भू सत्तायाम्। भाव में लुङ् चिण् प्रथ० पु० एक०

६१ निदद्रुः=निद्रा-निमग्न हो गए, सो गए। नि+√द्रा (अदा०) का लिट् प्रथ० पु० बहु०

अजागरुः=√जागृ निद्राक्षये (अदा० प०) का लङ् प्र०पु० बहु०

विगतासुः = मृतक। विगता असवो यस्य सः। निकल गए हैं प्राण जिसके (बहुव्रीहि)

६२ आदत्=खाया। √अद् भक्षणे का लङ् प्रथ० पु० एक०

आदयत=खिलवाया। √अद् का णिजन्त लङ् प्रथ० पु० एक०

६३ उपहित=युक्त

६४ चञ्चूर्यमाणः=गति करता हुआ, गत्यर्थं √चर के यङन्त रूप से शानच्, 'चरफलोश्च' से नुम्, 'उत्परस्यातः' से उत्

६५ अचालीत्=चल पड़ा। √चल् का लुङ् प्रथ० पु० एक०, 'अतो-ल्रान्तस्य' से उपधा के अकार को वृद्धि।

६६ धन्वन्=(पुं०) मरुभूमि, शुष्क भूमि

७० समवालुलोकत्=अच्छी तरह से देखा। सम्+अव+√लोकृ दर्शने का लुङ् प्रथ० पु० एक०

७१ कलयाञ्चकार=√कल शब्दसंख्यानयोः का लिट् प्रथ० पु०एक०

७३ बम्भ्रम्यते—अत्यधिक मात्रा में भ्रमण कर रहा है। अतिशयेन भ्राम्यति इस विग्रह में भ्रम् धातु का यङन्त प्र० पु० एक०

७७ अभिधित्सितम्=विवक्षा, कहने की इच्छा। अभि+√धा के सन्

प्रत्ययान्त रूप से 'क्त'
शुश्रुविरे=सुनी गई। √श्रु श्रवणे लिट् कर्मवाच्य, प्रथ० पु० बहु०

८१ अभाणीत्=कहा । शब्दार्थक √भण का लुङ् प्रथ० पु०एक०
बोभवीति=बार-बार या अधिक होती है। √भू सत्तायाम् का यङ्लुगन्त लट् प्रथ० पु० एक०
प्रतीत=विश्वस्त, निर्भय

८६ पिपृच्छिषामि=√प्रच्छ् ज्ञीप्सायाम् से इच्छार्थक सन्, लट् उत्त० पु० एक०। प्रच्छ् के अनिट् होने पर भी सन् को इट् आगम होता है
वित्त=(तुम सब) जानो

८७ अमृषोद्यम्=सत्य। नञ्+मृषा +वद्+क्यप्

९४ असकौ=वह। अदस् का अकच्-संहित प्र० एक० में रूप
प्रयेयम्=जाना चाहिये

९६ अरौत्सीत्=घेर लिया। √रुधिर आवरणे, लुङ् प्रथ० पु० एक०

९७ सत्रा (अ०) साथ

९८ कल्ये=प्रातःकाल
विशल्यः=विगतं शल्यम् अस्य। (बहुव्रीहि)

९९ पेणे=व्यवहार किया, खरीदा। √पण व्यवहारे स्तुतौ च का लिट् प्र० पु० एक०
चिक्राय=क्रयण किया, खरीदा। √डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये का लिट् प्रथ० पु० एक०

१०३ आच्छेन्=√ऋच्छ गतीन्द्रियप्रलयमूर्तिभावेषु का लङ् प्र० पु० एक०

द्वितीयः सर्गः

४ अचकात्=शोभित हुई।

१३ जज्ञिरे=हुए
व्युदितम्=विरोध

१६ प्राड्विवाक=वकील, विधिवेत्ता

२४ अन्वयुक्षत=पूछा
अभ्यधायिषत=कहे गए, वर्णन किए गए

२५ यन्तृमत्=सारथि से युक्त

२६ उपशल्यम्=ग्राम के समीप की भूमि, ग्राम या नगर के बाहर का खुला स्थान

२९ समगत=संगत हुआ, मिला

३८ ऊचुषि=कहने पर (सप्तमी)

४१ उदैरयत्=कहा

५३ इष्यताम्=कहने योग्य, मानने योग्य, √इष्-लोटि प्रथमपुरुषैकवचनम्

५५ प्राजितृ=हाँकने वाला, सारथि

५९ निरत्ययम्=निर्विघ्न

६२ व्यधित=किया

तृतीयः सर्गः

२ असपत्नः=शत्रुरहित

४ आपन्नसत्त्वा=गर्भवती

८ अबुद्ध=जागा, जन्म लिया

१३ समयाकुर्यात्=समय विताये

१४ शेमुषी=बुद्धि, प्रज्ञा

१९ अचिच्यवत्=दूर किया, हटाया

२० प्रतिपत्ति=ज्ञान, बोध
उपेयिवस् (उपेयिवान्)=प्राप्त हुआ

२३ महीक्षित्=राजा

२७ वैयात्यम्=निर्लज्जता, अक्खड़-
पन
अकृतात्मा=असंस्कृत, ढीठ
३१ स्वापतेयम्=धन-सम्पत्ति
पद्या=मार्ग √पद् गतौ
प्रपद्यताम्=आश्रय लो, प्र √पद्
लोटि प्रथमपुरुषैकवचनम्
३८ किमन्त्री=बुरा मन्त्री
अभिसन्धित्सु=करने का इच्छुक,
कपट-योजना की इच्छा वाला
४३ अनीकिनी=सेना
४८ अनलंभूष्णु=असमर्थ
५१ अनीनशत्=नाश किया
५६ जीविकाकृत्य=जीविका का
साधन बना कर
६६ अनुल्वण=सौम्यप्रकृति
६७ जिघृक्षा=ग्रहण करने की इच्छा,
√ग्रह्+सन्+आ
६८ सेनानी (सेनान्यः—प्रथमा बहु०)
=सेनानायक, सेनापति
७१ अकद्वद=बुरा न बोलने वाले
७६ जीवग्राहं गृहीतः=जीवित पकड़ा
हुआ,
प्रसङ्क्ष्यति=प्र √सज् लृटि
प्रथमपुरुषैकवचनम्
७९ इष्यताम्=इच्छा करनी चाहिए।
√इष् कर्मणि लोटि प्रथम पुरु-
षैकवचनम्
९० प्रत्यनीकता=शत्रुता
अभ्यमित्रीयः=शत्रु का सामना
किया
९१ निर्वृणु=सुखी होओ, निर्
√वृ लोटि मध्यमपुरुषैकवचनम्
९५ वैरायमाण=वैर करने वाला,
वैर नामधातु, शानच्
९६ इनः=स्वामी
९८ प्रत्यवस्कन्द=प्रत्याक्रमण
सानुक्रोश=दयालु
१०२ विसिष्मिये=चकित हुआ
१०४ अवैक्षिष्ट=देखा, अव √ईक्ष्
लुङि प्रथमपुरुषैकवचनम्

चतुर्थः सर्गः

४ भुजिष्य=सेवक
१० प्रापिपन्=पहुँचाया
१२ आहसत=कूटा, प्रहार किया
आङ्पूर्वकात् हन्तेर्लुङि प्रथम-
पुरुषबहुवचनम्
१६ प्रत्यर्थिन्=शत्रु
२१ जग्धये=खाने के लिए
२३ अवीभयन्=डराया, √भी
२८ गृध्नु=लोभी
३६ निरक्रमीत्=निकला
३७ अवष्टभ्य=दृढता से रख कर
३९ पितृवन=श्मशानभूमि
अवास्थित=ठहरा
४२ निरवग्रहम्=विभाजित किए
बिना, अखंडित रूप में
४६ क्षोदक्षम=युक्तियुक्त
४८ अवदातवपु=स्वच्छ शरीर वाला
असुक,(—कम्)=वह, (उसको)
५० शष्कुली=छिद्र
६० अशनाया=भूख
६१ तावत्येव=तत्क्षण, उसी समय
६३ उपस्कृतम्=तैयार किया हुआ,
सजाया हुआ
६४ अवस्कन्तृ=आक्रान्ता
६७ पिप्रिये=प्रसन्न हुआ

७१ नियोज्य=सेवक, काम में नियोजित

७२ अवदान=काटना

७४ उदमृज्यत=पोंछा गया, साफ किया गया

७६ अन्वयुञ्जाताम् [दोनों ने] पूछा

८४ एतम् [आ √इ+क्त]=आए हुए को

एतम् [एतत्-सर्वनाम, द्वि० एक०] =इसको

८६ यामिक=प्रहरी

८६ अकार्यथाः=तुमने कराया, √कृ धातोर्णिचि लङि मध्यमपुरुषैकवचनम्

६४ अनेहस्=काल, समय

१०० अजिज्ञपत्=निवेदन किया, कहा

पञ्चमः सर्गः

११ परीचिक्षिषु=जांच करने का इच्छुक

१८=एकान्तकान्त=अत्यन्त प्रिय

२१ भ्रातृकाम्यामि=भाई को प्राप्त करना चाहती हूँ। भ्रातृ-शब्दात् काम्यच्, लटि उत्तमपुरुषैकवचनम्

२५ मनीषा=बुद्धि, सूझ-बूझ

२६ आर्पिपत्=अर्पण किया

२७ सीमन्तिनी=सौभाग्यवती स्त्री, महिला

३० प्रियस्य भ्रातुर् अन्तरेण=प्रिय भाई के लिए, यहाँ अन्तरेण का अर्थ 'के लिए' है

३१ प्रशस्तिप्रवाद=प्रशंसात्मक जनोक्ति

३३ अवधत्त=ध्यान दो, अव √धा लोट मध्यमपुरुषबहुवचनम्

विगृह्णीत=(तुम सब) युद्ध करो, विवाद करो

३५ अखर्व=विपुल, बहुत

षष्ठः सर्गः

२ अटाट्यमानः=घूमता हुआ

६ अह्नाय=शीघ्र, तुरन्त

ऐत्=प्राप्त हुआ, आ √इ

८ प्रसित=उत्सुक, आसक्त

६ मस्करिन्=संन्यासी

१० मुदिता=प्रसन्न

१२ अविप्रकृष्ट=समीपवर्ती

१३ अनवद्य=निर्दोष

१५ वरीवृतीति=विद्यमान है

दुःखासिका=दुःख की स्थिति

दूना=सन्ताप-पीड़ित

१६ वाम=विपरीत, विरोधी

१७ उदीर्णराग=बढ़ी हुई आसक्ति वाला

१६ कर्मन्दिन्=संन्यासी

२३ निरत्यय=बाधारहित, निष्कंटक

२६ आपातरम्य=ऊपर से सुन्दर प्रतीत होने वाले, देखने में सुंदर

२८ कीकस=अस्थि, हड्डी

२६ अपाय=विनाश

३० विसिन्वन्ति=बाँधते हैं

३४ उत्पथस्थ=कुमार्ग पर स्थित

इङ्गितज्ञ=संकेत को जानने वाला, बुद्धिमान्

३६ उपायुः=उप+अयुः=प्राप्त हुए

४२ प्रसभम्=बलपूर्वक

सप्तमः सर्गः

५ हायन=वर्ष

१२ समाः=वर्ष
उदस्य=दूर करके, फेंक कर
१४ वञ्जुल=अशोक
१५ मैरेय=मद्य, सुरा
१८ परीष्टि=परीक्षा
१९ प्रजिघाय=भेजा
२३ प्रतिपत्तिमूढ=विवेकहीन
२७ यताम्=प्राप्त हुओं के
३२ दुर्दुरूढा=फूहड़, कुलक्षणा
३६ वरवर्णिनी=उत्तम और सुन्दर रंग रूप वाली स्त्री

अष्टमः सर्गः

३ समश्नुवीत=प्राप्त करे
५ जीविकाकृत्य=जीविका का साधन बना कर
२४ अहीनकालम्=समय न गंवा कर
१९ चित्रीयमाणा=विस्मित
२९ विप्रकृतः=रुष्ट किया गया
३९ मा पप्तत्=कहीं गिर न जाये
४१ वप्रः=दुर्ग, प्राचीर
४२ उपतिष्ठमाना=प्रतीक्षा करती हुई, उपोपपदात् तिष्ठतेः शानच्
४५ न्यमाङ्क्षीत्=डूब गया
४८ कृष्टिः=विद्वान्, विवेकशील
४९ सावहित्थम्=असभ्यता से
५३. अन्ववाय— वंश
६३. सोत्कलिकः=उत्कंठा-युक्त, अधीर
८३. वियाता=पथभ्रष्ट
मोत्पीपदत्=कहीं पैदा न करे
८४. अथेनम्=अथ+इनम्, इनम्=स्वामी को
१०३. प्रगे=प्रभात होते ही, पौ फटते ही
१०७. निविवृत्सुः=निवृत्त होने का इच्छुक

नवमः सर्गः

१. अजिघृक्षु=ग्रहण करने का अनिच्छुक
१९ प्रणाय्य=प्रिय, प्यारा, संमत
२१ अवज्ञात=अपमानित
२४ स्वनिघ्न=अपने अधीन, स्वतन्त्र
२७ मतल्ली=श्रेष्ठ
मल्ली=चमेली
आश्लिष्य=आ+श्लिष्, लोट्, म० पु० एक०
३३ प्रशाधि=शासन करो
४० पून=नष्ट किया गया
४६ प्रमनाः=प्रसन्न
५१ चकाधि=(तुम) शोभित होओ
५४ आत्मनीन=आत्महितकारी
५६ याप्यपथ=कुमार्ग

दशमः सर्गः

१ चकासामास=शोभित (हुई)
२ सदकार्षीत्=सत्कार किया
३ अपीप्यत्=पिलाया
३ कलयन्=कलह करता हुआ, कलिं गृह्णन्
६ सकुतुकम्=कौतूहलयुक्त
व्याहरत्=कहा
१० प्रत्यग्रम्=ताजा
पललम्=मांस
१२ व्रततितति=लताओं का समूह
उपचिता=भरी हुई, समृद्ध
१३ विलुलित=आलोडित
उरोदघ्नम्=छाती के परिमाण तक
१७ व्यवससौ=तैयार हुआ
२२ शोशुभति=शोभित होती है
३१ उपधुनि=नदी के समीप

३३ न्यधिषत=रखे गये
३४ अपिनषम्=पीसा, घिसा
३७ तान्त=व्याकुल
३८ अदूयत=दुःखी हुआ
३९ घटन=मिलन
अतनुव=(हम दोनों ने) किया
व्यतनुव=(हम दोनों ने) किया

एकादशः सर्गः

१ अविदितचरी=जिसका पहले ज्ञान न हो
२ दिष्टम्=भाग्य
५ अविषह्य=न सहने योग्य
७ निर्वृति=सुख
९ अटाट्या=इधर उधर भटकना
१० अरण्यानी=वन-श्रेणी
११ चिरवृत्तम्=बहुत समय पहले घटित
१८ समुच्छेदि=काट दिया
शुषाणा=सेवा करती हुई
१९ अवजगाहे=अवगाहन किया
अशिषत्=शासन किया
१२ तल्लज=श्रेष्ठ

द्वादशः सर्गः

२ जनि=जन्म
अलब्ध=पाया
४ हृद्य=सुन्दर, हृदयावर्जक
६ परिणाय्य=विवाह सम्पन्न करा कर
७ अयाद्=सौभाग्य से 'अयः शुभावहो विधिः' इत्यमरः। शुभावह भाग्य के कारण, शुभावहदैवात्
१० वित्त=(तुम सब) जानो, विद्-धातोर्लोटि म० पु० बहु०
१५ अपेत (अप+इत)=दूर होओ
१६ अभ्यर्हित=सम्मान-योग्य
२० प्रमीला=तन्द्रा, आलस्य
२२ ध्रियताम्=जीवित रहे, बचे
२५ सहेलम्=शान्त भाव से, विना आतुरता के, सुविधापूर्वक
३० आधि=मानसिक कष्ट
३१ व्ययुज्यत=वियुक्त हुआ
३५ सांराविणम्=क्रन्दन, विलाप
३७ अचकासीत्=शोभित (हुई)
३९ स्वस्थ=यहाँ श्लेष के द्वारा प्रकृतिस्थ और स्वर्गस्थित दोनों अर्थ हैं
४५ निर्घृणम्=निर्दयतापूर्वक
व्यसुः=मृतक
उरस्यः=औरस पुत्र
४६ अनिन्द्यवृत्तः=जिसका चरित्र अनिन्दनीय (प्रशस्य) है
अवसित=समाप्त
४७ प्रेष्ठ=प्रियतम
रोरुद्यते=अत्यन्त रुदन करता है
५३ दुःखजाता=जिसे दुःख हुआ है जातं दुःखं यस्या इति बहुव्रीहिः, निष्ठा को परनिपात हुआ है
५८ विशदय्य=स्पष्ट करके
६२ शंशमीति=शान्त होता है
७६ वशिता=वश, अधिकार
७७ विपश्चित्=बुद्धिमान्, समझदार
८१ सम्प्रैक्षि=देखा, परीक्षा की
८४ आसजन्ति=आसक्ति रखते हैं
८९ बिभराम्बभूव=पूर्ण कर दिया, भर दिया
९० वश्यकरण (करणान्)=इन्द्रियों को वश में रखने वालों को
अनुत्तम=सर्वश्रेष्ठ, जिसके सदृश और कोई वस्तु उत्तम नहीं है

त्रयोदशः सर्गः

१ वदान्य=दानी, उदार
३ कम्र=मनोहर, सुन्दर
५ पणाया=व्यवहार, लेन-देन
१२ लब्धरायः=प्राप्तधनाः। धनी। 'रै' शब्द का लोक में भी प्रयोग होता है
१३ सदयितः=दयितया सह, दयिता के साथ
१४ एतम्=उपागतम्, आ √इ क्त =एत, एतम् द्वितीया, एक०
१५ प्राववर्तत=आरम्भ किया
अगादीत्=कहा
१८ प्रसत्ति=प्रसन्नता
२१ सत्यसन्धः=सच्ची प्रतिज्ञा वाला
अनुपधि=छल रहित
२२ सामि=आधा
स्व=धन
२३ सन्दोह=राशि
२४ इभ्य=धनी
२५ अवसाद=दुःख, खिन्नता
२६ धनिकचर=जो पहले धनी था, भूतपूर्व चरट्
३२ अञ्जसा=शीघ्र, उचित रीति से
३४ उदस्थात्=[आसन से] उठा
अभ्युज्जगाम=स्वागत के लिए आगे बढ़ा
३६ अनवहितम्=उपेक्षापूर्वक, ध्यान न देकर
समागाम्=(सम्+आगाम्) मैं आया हूँ
३७ त्वयैत्येति=त्वया+एत्य+इति
३८ पदम्=स्थान
४२ कडङ्गर्य=भूसा खाने वाला पशु
एतम्=उपागतम्, आए हुए को
४३ अबिभः=पूर्ण था, भरा हुआ था
षष्टिक=साठी चावल
अवमतबन्धु=मित्र का अपमान करने वाला
४४ कदर्य=नीच
५० निकार=अपमान
५२ उदन्त=वृत्तांत
५३ किंसखा=बुरा मित्र
६१ अविगीत=अनिन्दित, प्रशंसनीय
६५ अयमय=सौभाग्य से युक्त, अनुकूल (समय)
६६ अवदान=श्रेष्ठ कर्म, उत्तम चरित
६८ वारा (वार्-तृतीया एक०)=जल से
प्रमद=प्रसन्नता, हर्ष
६९ सपर्या=पूजा, सत्कार
अर्यवर्य=उत्तम वैश्य, स्वामी
७२ अनिकेत=गृहहीन
विषमस्थ=कष्ट में पड़ा हुआ
७३ अभीष्ट=प्रिय, वांछनीय, समादृत
आढ्यम्भविष्णु=धनी बनने वाला (बनने योग्य)
७४ व्यघटि=विघटन किया, भङ्ग किया
सौहृदय्य=मित्रता
विमृश्यः=चिन्तनीय, दयनीय दशा वाला
मृष्य=क्षमायोग्य
७५ प्रैष्य=सेवक
७७ वितथ=असत्य
अभिवाद्य=पूजनीय

८२ अस्तगर्वम्=लोभ छोड़ कर
८७ अभिसन्धि=अभिप्राय, तात्पर्य
अपचिति=पूजा, सत्कार
८९ अवाचा=मौन
९१ कृतागस्=अपराधी
९३ अशस्त=निन्दनीय, बुरा
९५ मित्ररूप=अच्छा मित्र
९७ राजीचिकीर्षु=राजा बनाने का इच्छुक
इदमीय=इसका
आजिहीर्षु=हरने या छीनने का इच्छुक
९८ अकपूय=अनिन्दित, श्लाघ्य
१०० अशीलि=आचरण किया
१०१ प्रत्त=प्रदान किया गया

चतुर्दशः सर्गः

१ प्रेक्षावत्=विद्वान्, बुद्धिमान्
आम्नातिन्=अभ्यस्त, अभ्यास-युक्त
२. सात्कृत=अधीन, युक्त
उच्चावच=विविध प्रकार का
शुभंयु=मंगलमय, भाग्यशाली
प्रांशु=उन्नत, प्रखरबुद्धि
५ दुःश्रव=श्रवणकटु
६ मा तमः=मत सन्तप्त हो
७ अनैकान्तिक=अनिश्चित
९ फल्गु=व्यर्थ
१५ दाक्षीभू=दाक्षीपुत्र (पाणिनि)
२० भृति=वेतन
२८ सोत्प्रासम्=व्यंग्यसहित
३० प्रत्ययित=विश्वस्त, आश्वस्त

श्रीबोधिसत्त्वचरितस्थपद्यानामाद्य-

पादानुक्रमणी

आ

स

शुद्धिपत्रम्

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
xi	२६	अलक्कृत	अलंकृत
xv	१८	वृष्टि	वृष्टि
xvi	३०	अवतरित	अवतरित
xxvii	४	ओर	और
xxviii	३०	(१. ५७. ६४०)	१, ५७)
xxix	२६	पादूपट (३. ३६)	....
xxix	३०	रोरूयांचक्रे (३. १२७)	रोरूयांचक्रे (४.२२)
xxx	१	वरीवृतीति एवं तन्तनीति (६.२५)	वरीवृतीति एवं तन्तनीति (४.२२)
xxx	६	माणवीन (१३ ३४)	माणवीन (१४.३४)
३	२३	श्रीबोधिसत्त्वोऽचिचिन्तदेवम्	श्री बोधिसत्त्वो ह्यचिचिन्तदेवम्
६	२४	खाएगे	खाएंगे
६	३१	द्वार खोदा	द्वारा खोदा
१२	२६	एवं स दम्भी वणिगात्मजं	एवं स दम्भी वणिगात्मजं त-
३८	१६	महात्मव	महात्मैव
४०	२२	वमनस्यं	वैमनस्यं
४०	२६	सदात्मकत्व	सदामैकत्व
४२	२६	द्वाःस्थः	द्वास्थैः
४३	६	३७	३८
४४	१६	चतेभ्यो	चैतैभ्यो
६०	६	तदानीतेन	तदानीं तेन
७२	३१	स्फुट	स्फुटं
७७	४	निजशासनस्थान्	निजशासनस्थान् ॥ १ ॥
८३	२०	बांध देते है।	बांध देते हैं।
६०	२२	शुभरुच्च	शुभैरुच्च
६१	१२	ब्राह्मण	ब्राह्मण
६६	७	जीत्रकोपार्जन	जीविकोपार्जन
१०७	२३	उन्मदस्ती	उन्मदन्ती
१०७	२६	६१	६२

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
१०७	३०	[जिनकी ऐसी सुन्दर पत्नी है]	[जिनकी सुन्दर पत्नी है]
१०९	३१	न नीत	नवनीत
१३१	२६	चचल	चंचल
१३६	६	चार	चारों
१३७	२३	अविलम्ब	अविलम्ब
१४६	१९	१५	१४
१५२	२३	१५	१६
१५३	२०	(पिता ने	(पिता ने)
१५३	३२	यन्न ध्रुव	यन्न ध्रुवं
१५८	२८	तृम लोग	तुम लोग
१६६	२१	जलघट	जलघट
१७२	३०	हो गया	हो गया।
१७४	१२	प्रावर्वतंत	प्रावर्वतंत्
१७६	३३	ह गये	हो गये
१८३	३३	करना चाहिये, ?	करना चाहिये,
१९३	२२	गद्गद्	गद्गद
२०१	२४	जा रहा ह	जा रहा है